

ATISHAY KALIT

A Referred International Bilingual Research Journal of
Humanities, Social Science & Fine-Arts

LOTUS (July-December) Vol. 3, Pt. B Sr. 6 Year 2014

ISSN 2277-419X

RNI-RAJBIL01578/2011-TC

Chief Editor :

Dr. Rita Pratap (M.A. Ph.D.)

Co-Editor :

Dr. Shashi Goel (M.A. Ph.D.)

Mailing Address :

Dr. Rita Pratap

ATISHAY KALIT

C-24, Hari Marg, Malviya Nagar, Jaipur-302017

Phone - 0141-2521549 Mobile : 9314631852

INDIA

Editor Writes

Dear Friends,

I wish you all a Very Happy and Prosperous NEW YEAR 2015. This issue LOTUS is in front of you and as usual are joined in this endeavor by a truly excellent Editorial Board who have scrutinised the papers of scholars in Fine Arts, Social Science and Humanities. Encouragement was also given to some new scholars by giving them space.

Besides this a detail article by the co-editor Dr. Shashi Goel on "Social Security and Labour Welfare in India - A Review".

For this issue Atishay Kalit is fortunate to have a Guest Editor Dr. Veena Jain (Associate Prof. Deptt. of Music, Universtisy of Raj.).

Suggestions are also welcome by our readers.

- Dr. Rita Pratap

Atishay Kalit is a "REFERRED JOURNAL"
The articles are published after being reviewed by
the experts/Board of Editors

"FOLK ART OF INDIA"
published by the Author Dr. Rita Pratap is available for sale at special price
(Rs. 1500+100 postage). The Book contains research articles with
Colour, B/W illustrations.

At the end of the year the members of Atishay Kalit deeply mourn the sad demise of
Mrs. Vimla Mishra (Retd. Senior Professor Deptt. Of Drawing and Painting, Uni-
versity of Rajasthan) and Shri Rameshwar Singh an eminent artist.

CONTENTS

1. Editor Writes	Dr. Rita Pratap	2
2. नाटकों से चित्रकला का अन्तःसम्बन्ध : एक दृष्टि डॉ. बीना जैन		5
3. रवींद्रनाथ टैगोर की कला में "नारी रूप" का मनोवैज्ञानिक पक्ष	डॉ० अन्नपूर्णा शुक्ला शालिनी रानी	13
4. सेल्फ-पोर्ट्रेट और अमृता शेरगिल	डॉ० अन्नपूर्णा शुक्ला करुणा	22
5. कला के उद्देश्य	डॉ. कुसुम बिन्डवार	29
6. वैदिक साहित्य में वर्णित वेश-भूषाओं का भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला में व्यवहारिक प्रयोग	प्रो. किरन सरना अभया राज	31
7. विज्ञापन के विभिन्न चरणों में कला सर्जनात्मकता का महत्व	किशोर कुमार मीणा	44
8. जयपुर की समसामयिक महिला चित्रकार डॉ. रेखा भटनागर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व	अमनदीप कौर	53
9. "भारतीय मूर्तिकला में यक्ष-यक्षी अवधारणा"	प्रेमलता परिहार	58
10. भारतीय कला में आधुनिकता का दौर	डॉ.त्रिलोकी नाथ गौतम	67
11. बाबा रामदेव : 15 वीं शताब्दी के अछूतोद्धारक समाजसुधारक लोकनायक	डॉ० (श्रीमती) सुमन ढाका	72
12. शेखावाटी की पुरातन सांस्कृतिक नगरी: खेतड़ी	डॉ. श्रीकृष्ण यादव	80
13. ग्रामीण हस्तकला पर औद्योगिक प्रभाव	प्रो. किरन सरना पंकज रानी	91
14. राजस्थान की लघु चित्रकला : रंग के संदर्भ में	अनुपमा	97
15. राजसमन्द जिले के तीर्थ स्थलों का कलात्मक स्वरूप	डॉ. राजेन्द्र गांधी	106
16. नन्दलाल बसु : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	अनिल कुमार शर्मा	112
17. अमूर्तवादी प्रकृति चित्रण के तीन प्रमुख समसामयिक कलाकारों का परिचय – जहांगीर साबावाला, रामकुमार, अकबर पदमसी	दिनेश मीणा	119
18. छायावाद पर एक दृष्टि : आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी अमृत लाल योगी		124

19. नारी शिक्षा – एक दार्शनिक दृष्टि	विद्या विपुल शर्मा	127
20. “भीष्म साहनी के कथा साहित्य में राष्ट्रीय–चेतना”	मेघराज मीना	133
21. हिन्दी साहित्य में राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास	डॉ. नरेन्द्र कुमार	135
22. राजस्थान का प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास स्थापत्य, मूर्तिकला आदि	श्रीमती ममता कंवर	139
23. बौद्ध मूर्तिकला के प्रमुख केन्द्रों का कलात्मक अध्ययन	अजय घासिया	142
24. भारत में बढ़ती जनसंख्या एक चुनौति	कैलाश चंद महावर	147
25. “सांगीतिक चिकित्सा”	डॉ. वीणा जैन	155
26. राजस्थान की लोक चित्रांकन परम्परा में पर्यावरण का प्रतिबिम्ब (मांडणा के विशेष संदर्भ सहित)	डॉ. ममता रोकना	161
27. समकालीन भारतीय चित्रकला– एक समीक्षात्मक अध्ययन	डॉ. भारत भूषण	170
28. भारतीय समकालीन कला में धार्मिक समभाव	डॉ. सुदीप्ता बी. भूषण	176
29. अस्पृश्यता की अवधारणा व उत्तरदायी कारक	डॉ. दुर्गेश नंदन शर्मा	181
30. कालिदास के अप्रस्तुतों में चित्रात्मकता	डॉ. माधवी शर्मा (प्राचार्य)	186
31. “वैदिक युग और दलित”	जितेन्द्र कुमार दौतानियां	192
32. जन–जन की कला – मांडणा	सविता शर्मा	202
33. जैनागमों में मूल्यपरक अर्थव्यवस्था	डॉ. रीना बैद	206
34. Role of Culture in Communication	<i>Tanu Rajpal</i>	210
35. Micro Finance in India an Overview	<i>Vijeta</i>	217
36. Cross Cultural Design of Medical Devices	<i>Vimal Kumar P. Dr. Sharad Chaturvedi</i>	228
37. Assessment of Organization Effectiveness of Non Government Organizations Working in Jaipur City : A Study	<i>Nidhi Jain</i>	232
38. Social Security and Labour Welfare in India: A review	<i>Dr. Shashi goel</i>	236
39. Idea and Image of Akash/Space	<i>Dr. Ritu Johri</i>	250
40. Jawahar Kala Kendra (A centre for the Preservation and Revival of all types of Arts)	<i>Dr. Rita Pratap</i>	258

डॉ. बीना जैन
सह-आचार्य, चित्रकला विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

नाटकों से चित्रकला का अन्तःसम्बन्ध : एक दृष्टि

कला कल्याण की जननी है। इस धरती पर मनुष्य की उदय-बेला का इतिहास कला के द्वारा ही रूपायित हुआ है। कला इस विराट विश्व की सर्जना शक्ति होने के कारण सृष्टि के समस्त पदार्थों में व्याप्त है। वह अनन्तरूपा है और उसके इन अनन्त रूपों की अभिव्यक्ति एवं निष्पत्ति का आधार कलाकार (परमेश्वर) है। जितने भी तत्त्वविद, साहित्यसृष्टा और कलासाधक हुए, उन सबने भिन्न-भिन्न मार्गों का अवलम्ब लेकर उसी एकमेव लक्ष्य का अनुसन्धान किया। विभिन्न युगों में कला के रूप की परिकल्पना विभिन्न दृष्टिकोणों से की जाती रही है।¹

आध्यात्मिक दृष्टि से कला का स्वरूप विवेचन विराट भावभूमि पर प्रतिष्ठित है। कला एक कृति है, कलाकार की अभिव्यक्ति है। यह सम्पूर्ण सृष्टि एक कृति है, एक अभिव्यक्ति है, जिसकी रचना, जिसका अभिव्यंजन परम सत्तामय परमेश्वर द्वारा हुआ है। सच्चिदानन्द परमेश्वर की इस विराट सृष्टिकला में आत्मानुरूप सत्यं, शिवं व सुन्दरं इन त्रिविध गुणों का समावेश है। इसलिए कला को सत्य, शाश्वत, नित्य और अनादि कहा गया है।

उस अनादि सत्तामय कलाकार ने शनैः-शनैः अपनी विराट कलातियों का निर्माण किया, 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' (ऋग्वेद 10/131/1) यह सम्पूर्ण विश्व पहले उसी ब्रह्म में अन्तर्धान था। उसी की चेष्टा से इस सृष्टि का निर्माण हुआ (ऐतरेय उपनिषद् 1/1/1) परमात्मा का निवास मूर्त और अमूर्त दोनों में है। अमूर्त ब्रह्म के मूर्त रूप की अनुभूति ही यह सृष्टि है (वृहदारण्यक 2/3/1) यह उसकी कलाति है।²

ललित आकलन कला है। कालिदास ने 'ललिते कलाविधौ' का जो 'रघुवंश' में उल्लेख किया है वह इसी प्रसंग में है। अभिराम अंकन चाहे वह वाग्बिलास के क्षेत्र में हो, चाहे राग-रेखाओं में, चाहे वास्तु-शिल्प में, है वह कला।³ आचार्य वात्स्यायन (200-300 ई.) के कामसूत्र में चौसठ कलाओं का उल्लेख किया गया है।⁴

चित्रकला : "किसी समतल धरातल जैसे भित्ति, काष्ठ-फलक, आदि पर रंग तथा रेखाओं की सहायता से लम्बाई, चौड़ाई, गोलाई तथा ऊँचाई पर किसी रूप का आभास कराना चित्रकला है।"⁵

नाटक : जॉन एलेन के अनुसार “नाटक किसी स्थिति या कहानी का प्रदर्शन है जिसका वर्णन करने या कहने के बदले कुछ लोग सामूहिक रूप में मिलजुल कर उसके चरित्रों का उनकी विशेषताओं सहित अभिनय करते हैं।” गनविले वारकर के विचारनुसार “नाट्यकला आरम्भ से लेकर अपने अन्तिम चरण तक मूलतः अभिनय कला है।”⁵

कालिदास ने नाटक को ‘शांत चाक्षुष यज्ञ’ (शांतं क्रतुं चाक्षुषं) कहा है। इस प्रयोगप्रधान (प्रयोगप्रधानं हि नाट्य-शास्त्रं) कला में भारत कब से प्रवीण रहा है, यह कहना तो निश्चय ही कठिन है पर इसे भी स्वीकार करना प्रायः प्र.त है कि वह सहस्राब्दियों प्राचीन है। भरत ने नाट्यशास्त्र में नाटक के आरम्भ का परम्परागत दृष्टिकोण इस प्रकार दिया है :

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादाभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।

ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर ब्रह्मा ने पांचवें नाट्यवेद की रचना की। नाट्यशास्त्र के पहले अध्याय में इस परम्परा से सम्बन्धित कथा इस प्रकार दी हुई है : मानवों को दुःखी देकर इन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्मा से चारों वेदों से भिन्न किसी ऐसे वेद का निर्माण करने की प्र.ार्थना की जिससे संहिताओं के साधारण अनधिकारी स्त्री, शूद्रादि का भी मनोरंजन हो। परिणामस्वरूप इस पंचम वेद की रचना कर ब्रह्मा ने उसके प्रयोग का कार्य पुत्रों सहित भरत मुनि को सौंपा। पहले यह प्रयोग ‘भारती’, ‘सरस्वती’ और ‘आरभ.ाटी’ वृत्ति में आरम्भ हुआ, फिर ब्रह्मा ने भरत मुनि से ‘कौशिकी’ वृत्ति का प्रयोग करने को कहा। किन्तु उसके लिए स्त्री पात्रों का होना अनिवार्य था इसलिए ब्रह्मा ने मंजुकेशी, सुकेशी आदि अप्सराओं को सिरज नारदादि गन्धर्वों के साथ यह कार्य भरत मुनि को सौंपा। मुनि ने नाटक का पहला प्रयोग इंद्र के ध्वजोत्सव में किया। इंद्र की आज्ञा से विश्वकर्मा ने नाट्यगृह (रंगमंच) बनाया। फिर तो एक के बाद एक अनेक नाटक खेले गये। ‘अमृतमंथन’ (समवकार) और ‘त्रिपुरदाह’ (डिम) उनमें विशिष्ट थे। कालिदास ने भी उस परम्परा को भरत मुनि और उनके ‘अष्टाश्रय’ तथा ‘ललिताभिनय’ के प्रसंगों का उल्लेख कर ध्वनित किया है :

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्षष्टरसाश्रयो निबद्धः।

ललिताभिनयं तदद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः।।⁶

स्वयं भरत के नाट्यशास्त्र का रचनाकाल तृतीय शती ईसवी के पश्चात् नहीं रखा जा सकता। पाँचवीं शती के कालिदास ने उसका उल्लेख इस श्रद्धा से किया

है कि उसकी प्राचीनता प्रमाणित हो जाती है। सम्भवतया यह शास्त्र तीसरी शती से भी अधिक प्राचीन हो क्योंकि साहित्यिक परम्परा यह भी है कि भरत का शास्त्र उनके सूत्रों पर अवलंबित है और सूत्र निश्चय ही प्राचीनतर थे। कालिदास ने अपने पहले के नाट्यकारों में महान् भास, सौमिल्ल और कविपुत्र का उल्लेख किया है, पर निश्चय ही उनकी शक्ति मानते हुए भी महाकवि भरत को विशेष आदर और महिमा देकर मुनि कहकर सम्बोधित किया। प्रकट है कि कालिदास भरत को इन नाट्यकारों से पूर्व का मानते हैं। इनमें सौमिल्ल और कविपुत्र का काल तो जाना हुआ नहीं है पर भास का समय संदिग्ध होकर भी साधारणतः तीसरी शती ईसवी माना जाता है। वैसे उनके काल को भरत मुनि के काल की भाँति ही अनेक विद्वान ई.पू. तीसरी शती तक मानते हैं। लेकिन भास और अश्वघोष की रचनाएँ शैली और सौंदर्य में इतनी निखरी हुई हैं कि उनको संस्त साहित्य की प्रारम्भिक नाट्य.तियाँ नहीं कहा जा सकता। साथ ही नाट्यशास्त्र स्वयं प्रस्तुत .तियों को सामने रखकर ही रचा गया होगा। सिद्धांत (आलोचना आदि सभी) सदा प्रयोग के बाद आविष्ट होता है। उस दशा में निःसन्देह नाट्य.तियों की नाट्यशास्त्र से पूर्व स्थिति माननी होगी। प्राचीन साहित्य में इस ओर पर्याप्त संकेत विद्यमान है।

ई.पू. पाँचवीं शती के वैयाकरण पाणिनि ने अपने 'अष्टाध्यायी' में शिलाली और कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख किया है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में 'कुशीलव' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ अभिनेता होता है। इस शब्द का प्रयोग मनु ने भी अपनी स्मृति में किया है—अभिनेता के ही अर्थ में, जिससे नट, नर्तक आदि का भी अर्थ लगाया जा सकता है। मनुस्मृति का रचना—काल शुंग युग (ई.पू. दूसरी शती) माना जाता है जिससे यह कृति और पतंजलि का 'महाभाष्य' पुष्यमित्र शुंग के समकालीन ठहरते हैं। इस महाभाष्य में दो नाटकों—कंसवध और बलिबन्ध का उल्लेख हुआ है। साथ ही भाष्यकार ने तीन प्रकार के अभिनेताओं और उनके वर्ण लेखन का उल्लेख किया है। रामायण और महाभारत के स्पष्ट संकेत भी इसी के द्योतक हैं। रामायण ने तो 'नाटक' शब्द का ही प्रयोग किया है और महाभारत काष्ठमयी नारीपात्र का उल्लेख करता है। हरिवंश में तो कृष्ण के वंशधरों द्वारा नाटक खेले जाने का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

यह प्रसंग हमें भारतीय (संस्कृत) नाटक के मूल के सम्बन्ध में भी विचार करने को बाध्य करता है। कुछ विद्वानों ने नाटक का आरम्भ विष्णु पूजा के आधार से माना है, कुछ ने पुतलियों के नाच से। कुछ उसका मूल वेदों में पाते हैं, कुछ सर्वथा ग्रीक रंग—व्यवस्था में। ऐसे भी पंडित हैं जो नाटक का आरम्भ मृत पूर्वजों की पूजा और छायानाटकों से सम्बन्धित मानते हैं। ये सारे दृष्टिकोण समान महत्त्व के

नहीं हैं। सही है कि छायानाटकों का प्रभाव असाधारण रहा है और भारत से चीन तक, तिब्बत से इंडोनेशिया तक वह प्रचलित रहा है, लेकिन इन सबको नाटक का आरम्भ नहीं माना जा सकता क्योंकि वह स्वयं एक प्रकार का नाटक है और उसे मूल मानने पर फिर उसके मूल की भी खोज करनी होगी। इनमें और दृष्टिकोण तो गौण हैं और उनका संकेत वस्तुतः नाटकीय परम्परा के विकास में उनके सहायक होने की ओर है, नाटक का मूल होने की ओर कदापि नहीं। विचारणीय दृष्टिकोण केवल दो हैं, ग्रीक रंग-व्यवस्था और पुतलियों का नाच।

निःसन्देह ग्रीक संस्कृति का ज्योतिष, मूर्तिकला आदि की दृष्टि से भारतीय संस्कृति पर प्रभाव पड़ा है। ग्रीकों ने भारत में अपने नगर बसाकर और पूर्व स्थापित भारतीय नगरों में अपने मुहल्ले कायम कर जब अपने ऋद्ध नाटकों को विकसित रंगमंच पर खेला होगा तो उसका प्रभाव सम्भवतया हमारे रंगमंच पर भी पड़ा होगा। इसमें संदेह नहीं है कि रंगमंच पर परदों का विशेष प्रयोग ग्रीक रंगमंच के सम्पर्क से ही शुरू हुआ। इसलिए नाटकों में परदों को 'यवनिका' कहा गया है।

सम्भवतया भारतीय नाटक का प्रारम्भ पुतलियों के नाच से ही हुआ। विद्वानों का मत है कि पुतलियों के नाच का प्रारम्भ अति प्राचीन काल में भारतवर्ष से ही हुआ। उसमें सूत से नाचने वाले का नाम भी नाटकों के सूत्रधार की ही भाँति 'सूत्रधार' था। उसका सहकारी भी नाटक के स्थापक की भाँति 'स्थापक' ही कहलाता था। पुतलिकाओं के अनेक वर्णन साहित्य में आये हैं। राजशेखर ने सीता का नाट्य करती बोलती हुई पुतलिका का वर्णन किया है। इससे निश्चय ही सिद्ध हो जाता है कि नाटक के प्रायः सभी प्रारम्भिक साधन पुतली के नाच ने प्रस्तुत कर दिये थे। उसे ऋग्वेद के अनेक संवादात्मक स्थलों से विशेष सहायता मिली होगी। यम-यमी, सुरमा पणियों, पुरुरवा-उर्वशी, शची-वृषाकपि, आदि के अनेक स्थल उस वेद में हैं जो प्रौढ़ 'डायलाग' का कार्य कर सकते थे। साथ ही इन्हें अनेक प्रकार की लीलाओं व विष्णु पूजन आदि से भी सहायता मिली होगी। इस प्रकार भारतीय रंगमंच प्रारम्भ हुआ।⁷

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय लक्षणग्रंथों के निर्देशानुसार नाटकों को यद्यपि साहित्य के अंतर्गत, काव्य का एक भाग, माना गया है; फिर भी श्रव्य काव्यों की अपेक्षा दृश्य काव्यों (नाटकों) का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ। नृत्य, अभिनय व गीत आदि की दृष्टि से नाटकों की लोकप्रियता में ललितकलाओं का प्रमुख योग रहा है। इसलिए यह निश्चित है कि नाटकों के उद्भव से पूर्व ललित कलाएँ प्रकाश में आ चुकी थीं, जिनसे नाटककारों ने प्रेरणा ग्रहण की।

जहाँ तक नाटकों में चित्रकला के उल्लेख का संबंध है, संस्कृत भाषा में ऐसे नाटक प्रायः बहुत ही कम हैं, जिनमें प्रेमी-प्रेमिका के विछोहजन्य विरह की उत्तप्तता को चित्रांकन द्वारा उपशमित करने का उल्लेख न किया गया हो।

संस्कृत-साहित्य में नाटकों का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। उसकी कुछ कृतियाँ तो इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुईं कि आज वे विश्व साहित्य की निधि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से संस्कृत नाटक-परम्परा की उपलब्धि भास से मानी जाती है। भास के तेरह नाटक उपलब्ध हैं। उनके नाटक 'स्वप्न-वासवदत्त' और 'प्रतिज्ञायोगन्धरायण' दोनों की नायिकायें उज्जयिनी की राजकुमारी वासवदत्ता और नायक वत्स राज्य के अधिपति उदयन हैं। प्रेमसूत्र में बँधकर ये दोनों एक दिन जब चुपके से मंत्री योगन्धरायण की सहायता से भाग निकले थे तो अंत में विवश होकर वासवदत्ता के माता-पिता ने दोनों का चित्र बनवाकर उनके विवाह को विधिवत् संपन्न किया। 'प्रतिज्ञायोगन्धरायण' का कथानक यही समाप्त हो जाता है।^{१०}

'स्वप्नवासवदत्त' के कथानक के अनुसार उक्त चित्रफलक राजा उदयन के पास भेज दिया जाता है और योगन्धरायण तथा रानी के विनोदपूर्ण इस छल का, कि वासवदत्ता आग में जलकर दिवंगत हो गयी है, जब उद्घाटन होता है तो रानी कहती है 'इस चित्र में अंकित एक स्त्री तो मेरे पास रहती है।' वह वासवदत्ता ही थी। इस चित्रफलक के प्रसंग से 'स्वप्नवासवदत्त' का कथानक बहुत ही मनोरंजक हो जाता है।

कालिदास (ई. पूर्व प्रथम शती) के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' की नायिका मालविका के मनमोहक चित्र को देखकर राजा अग्निमित्र सहसा ही इतना प्रभावित हुआ कि उसकी यह आसक्ति एक दिन परिणय के रूप में फलित हुई। विदिशा के राजा अग्निमित्र की चित्रशाला विख्यात थी। एक बार रानी धरिणी विशेष रूप से तैयार किये गये अपने एक चित्र को देख रही थी कि, अचानक उसकी दृष्टि पास में रखे हुए दूसरे चित्र पर जाकर टिक गयी। वह चित्र महारानी की सेविका मालविका का था।

'विक्रमोर्वशीय' नाटक में प्रतिष्ठानपुर के राजा विक्रमादित्य (पुरूरवा) जब इन्द्रसभा की अद्वितीय सुन्दरी अप्सरा उर्वशी के दर्शनार्थ बड़े बेचैन हो गये तो विदूषक ने उन्हें यही उपाय बताया था कि 'आप उर्वशी महोदया का चित्र बनाकर उसको देखते रहिए' (अहवा ततभोदीए उब्बसीए पडिकिदिं आलिहअ ओलोअन्सों चिट्ठ)।

कालिदास के तीसरे नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त

ने अपने विरह—व्यथित मन की शांति के लिए शकुन्तला का एक ऐसा चित्र तैयार किया था। एक दिन उद्यान में बैठते समय विदूषक ने जब उसको देखा तो कहा 'वाह मित्र, यह तो आपने अति ही उत्तम चित्र अंकित किया है। आपने शरीर की ऊँची—नीची बनावट और मन के भीतरी भावों को इस चित्र में इतनी निपुणता से दर्शित किया है कि जिसको देखकर नजरे फिसल पड़ती हैं।'

राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का जो चित्र बनाया था, उसका वर्णन कालिदास ने इस प्रकार किया है:⁹

दीर्घापांडंगविसारिनेत्रयुगलं लीलाञ्जितभ्रुलतं
दन्तान्तः परिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम्।
कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखं
चित्रेऽप्यालिपतीव विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम्।

यद्यपि प्रेमी के द्वारा चित्रांकित की जाने वाली प्रेयसी का यह वर्णन संस्कृत के अनेक कवियों ने किया। वह भी बहुधा बाद के कवियों ने किन्तु कालिदास के उक्त वर्णन में इतनी आत्यन्तिकी अनुभूति और साधारणीकरण है कि ऐसा प्रतीत होता है कालिदास के समय चित्रकला के प्रति गहरी निष्ठा थी।

भवभूति (700 ई.) के नाटक 'मालतीमाधव' में उसके नायक माधव और नायिका मालती द्वारा एक—दूसरे का चित्र अंकित करने का उल्लेख मिलता है। 'उत्तररामचरित' का आरम्भ, 'चित्र दर्शन' अंक से होता है। अपने चौदह वर्ष के वनवास की अवधि को राम ने किसी कुशल चित्रकार के द्वारा चित्रों में अंकित कराया था। उस समय भारत में ऐसे चित्रकार थे जो बिना देखे, सुनने मात्र से ही, ऐसी चित्रावली बनाने की क्षमता रखते थे।

हर्ष (700 ई.) के नाटक 'नागानन्द' में पाँच तरह के वर्णों का उल्लेख है 'पंचरागिणो वर्णाः'। 'रत्नावली' की नायिका रत्नावली चित्रकला में बहुत पटु थी। उसने अपने प्रणयी वत्सराज उदयन का एक बहुत ही सुंदर चित्र अंकित किया था। सखि सुसंगति ने रत्नावली द्वारा निर्मित वत्सराज के चित्रफलक के एक ओर रत्नावली का चित्र भी अंकित कर दिया था। इन दोनों भावपूर्ण चित्रों को देखकर वत्सराज बहुत प्रसन्न हुए थे।

'नागानन्द' नाटक में जीमूतवाहन ने अपनी प्रेमिका मलयवती का चित्र अंकित करने के लिए एक समय अतिशय वियोग—व्यथित हो जाने पर मलय पर्वत पर बैठे

अपने मित्र विदूषक से कहा था 'हे मित्र, मेरी प्रबल इच्छा है कि मैं प्रथम मिलन के इस स्थान पर उस सुन्दरी का चित्र अंकित करूँ और उसको देखकर मन बहलाऊँ। जाकर जरा इस पर्वत की तराई से गेरु के टुकड़े तो ले आओ।' चित्र तैयार हो जाने पर विदूषक ने कहा था 'धन्य है मित्र तुम्हारी कला-कुशलता। अनायास ही तुमने इतना सुंदर चित्र तैयार कर दिया। देखकर आश्चर्य होता है।'

विशाखदत्त के (800 ई.) 'मुद्राराक्षस' में नंदराजा के मंत्री राक्षस के 'रात दिन जागते रहकर चित्र बनाने' तथा 'चन्द्रगुप्त के मंत्री चाणक्य द्वारा यमराज का चित्र लेकर घर-घर भेजे गये गुप्तचरों का' उल्लेख हुआ है।

9वीं शती के प्रतिहार राजा निर्भयराज के गुरु राजशेखर ने लगभग छः नाटकों की रचना की थी जिनमें से आज चार ही उपलब्ध हैं। उनकी नाट्य कृति 'विद्धशालभंजिका' से ऐसा जान पड़ता है कि उस समय भित्ति पर चित्र तथा मूर्ति आदि के अंकन हेतु कलाकारों को नियुक्त करने की प्रथा प्रचलित थी।

विल्हण कवि (11वीं शताब्दी) की 'कर्णसुन्दरी' नाटिका में कर्णाट की राजकुमारी मियनल्लदेवी को अनहितनाद के कामदेव और त्रैलोक्यमल्ल के प्रति, उसका चित्र देखकर ही प्रेमानुराग उत्पन्न होने का उल्लेख है।

बंगदेशीय नाटककार, नैयायिक एवं साहित्यशास्त्री जयदेव (13वीं शताब्दी) के 'प्रसन्नराघव' नाटक के प्रथम अंक में राजर्षि जनक के बन्दीजन नुपूरक तथा मंजरिक के वार्तालाप के प्रसंग में मैत्रेयी द्वारा अंकित राम-सीता के संयुक्त चित्र का उल्लेख हुआ है।

ऐसे ही बहुत से उल्लेख आधुनिक नाटकों में भी मिल जाते हैं। उदाहरण के लिये, मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन', गिरीश कर्नाड का 'हयवदन' और बहुत से दूसरे नाटक जिनका मुख्य पात्र एक चित्रकार ही है। जाहिर है कि ये सारे उदाहरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि चाक्षुष माध्यम होने के कारण दोनों कलाओं के अन्तर्सम्बन्ध अन्य कलाओं की तुलना में बहुत ठोस और व्यावहारिक रहे हैं। नाटकों के साथ चित्रकला के अन्तर्सम्बन्धों का एक महत्त्वपूर्ण दौर मध्यकाल से प्रारम्भ होता है। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि पश्चिम में इस काल को 'रेनेसां' के नाम से जाना जाता है और इसका जन्म स्थल इटली है जो कि पुराने रोमन साम्राज्य के अवशेषों के देश के रूप में आज भी विख्यात है। इस काल को 'रेनेसां' अथवा 'पुनर्जागरण' के नाम से इसलिए जाना जाता है कि इसी काल में छापाखाने की शुरुआत हुई और इसी समय चित्रकला जैसे माध्यम में द्वि-आयामी कैनवास पर त्रि-आयामी प्रभाव पैदा करने की दिशा में किए गए प्रयत्नों ने रंगमंच

के क्षेत्र में भी एक अभूतपूर्व क्रांति को जन्म दे दिया। इससे पहले तक रंगमंच में एक-आध अपवाद को छोड़कर प्रेक्षागृह का अपना मूल स्थापत्य ही किसी दृश्य-सज्जा, मंच-सज्जा अथवा परिवेश और पृष्ठभूमि के रूप में काम आया करता था। लेकिन पहली बार सरलियों जैसे वास्तुविदों ने मंच पर बहुत बड़े पैमाने पर चित्रित पर्दों और दीवारों का इस्तेमाल करना शुरू किया। इसी काम की अगली कड़ी के रूप में उस वक्त के बड़े-बड़े चित्रकारों ने भी रंगमंच के लिए दृश्य-सज्जा तैयार करने की शुरुआत की जिनमें लियोनार्दो द विंची और माइकेल एंजेलों के नाम प्रमुख हैं। तब से चित्रकारों और नाटक के रंगमंच के आपसी लेनदेन का यह सिलसिला लगातार जारी है। बीसवीं शताब्दी में पाब्लो पिकासो ने ना केवल नाटकों के लिए दृश्यांकन किए बल्कि स्वयं भी नाट्य रचना की ओर आकर्षित हुए।¹⁰

अतः नाटकों और चित्रकला के आपसी सम्बन्धों में ऐसी अन्तरंगता और इतनी गहराई के पीछे कारण यह है कि दोनों माध्यम दृश्य से अपने कथ्य को सम्प्रेषित करते हैं। दोनों चित्रों में रंग-रेखाएँ, भाव, पोत, अन्तराल आदि सभी तत्वों के साथ दोनों एक जैसा व्यवहार करते हैं। चित्रकला में कैनवास के रूप में एक पिक्चर फ्रेम दूसरा चौखटा है तो रंगमंच में मंच का आकार-प्रकार स्वयं में एक चौखटे जैसा होता है। चित्रकला कैनवास पर दो आयाम के भीतर भी तीसरे आयाम का भ्रम पैदा कर लेती है, तो रंगमंच में तीसरा आयाम जीवित रूप में स्वयं मंच पर उपस्थित रहता है। इसी तरह रंगमंच के दूसरे जीवन्त तत्व, जैसे गीत, संगीत, प्रकाश, अन्धकार, वेशभूषा, मंच-सज्जा, चित्रकला में भी उसी परिवेश रचना का दायित्व निभाते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. वाचस्पति गैरोला – भारतीय चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास, इलाहाबाद, 1985, पृष्ठ सं. 11
2. वाचस्पति गैरोला – भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, 1963, पृष्ठ सं. 82
3. भगवत शरण उपाध्याय – भारतीय कला की भूमिका, नई दिल्ली, 1980, पृष्ठ सं. 1

ATISHAY KALIT

असिस्टेंट प्रोफेसर, चित्रकला विभाग

'Kfyuh jkuh' शोधार्थी

चित्रकला विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

ATISHAY KALIT

Vol. 3, Pt. B

Sr. 6, 2014

ISSN : 2277-419X

johnzukFk V&kj dh dyk ea *ukjh : i^ dk eukoklfud i{k

मनोवैज्ञानिक अध्ययन में कलाकार के मन के विज्ञान का अध्ययन किया जाता है। यह कलाकार की कृति की आलोचना न कर के कलाकार व उसकी प्रेरणा का विश्लेषण करते हैं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन में चित्र की विषयवस्तु उसके दैहिक सौन्दर्य आदि पक्षों पर अधिक ध्यान न देकर कलाकार, उसके व्यक्तित्व, उसके अनुभवों, व्यवहार, रुचियों और जीवन की प्रमुख घटनाओं से प्रभावित होकर कला सृजना को जानने की चेष्टा की जाती है। यह विचारधारा कारण पर जोर देती है। यह कलाकृति से कलाकार का और कलाकार से कलाकृति का विश्लेषण करती है। कला सौन्दर्य के बीज कलाकार के मन के गहरे तलों में व्याप्त होते हैं। 'न्यू मैन के अनुसार कभी-कभी कोई कलाकार किसी विशेष विषय से भी जुड़ जाता है, यह जुड़ाव भावनात्मक रूप से एक लम्बे समय तक उसकी पसन्द को प्रभावित करता है। उदाहरण— फ्रायड का मौज्जि से अज्ञात शक्ति के साथ जुड़ जाना और न्यू मैन ने अपने अध्ययन में हैनरी मूर का स्त्री आकार की ओर विशेष रूप से आकर्षित बताया है। उनका मानना था कि हैनरी मूर स्त्री आकार की ओर आकर्षित रहे व जीवन भर विभिन्न रूप में नारी आकारों को सृजित करते रहें। उसी प्रकार अनेक कलाकार विभिन्न भावों, आकारों या विषय से जुड़े रहते हैं। किसी विशिष्ट विषय से जुड़कर चित्र बनाना ही एक प्रकार का भावनात्मक जुड़ाव माना जाता है। इस जुड़ाव से निर्मित कृतियाँ एक विशिष्ट प्रकार की कला समीक्षा को जन्म देती हैं। जिन में सम्मोहन एक विशेषता होती है। इस सम्मोहन युक्त विशिष्टता को कला समीक्षा में न्यू मैन ने aesthetic attachment/fascination भी कहा है। इस प्रक्रिया में प्रत्यक्षण की अपेक्षा निर्माण प्रक्रिया का अधिक महत्व होता है।¹ ऐसा ही जुड़ाव या आकर्षण हम गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर की कृतियों में नारी पात्रों के साथ पाते हैं। टैगोर का नारी आकृतियों के प्रति यह जुड़ाव एक भावनात्मक जुड़ाव है। टैगोर अपने जीवन में विभिन्न नारियों के प्रति भिन्न-भिन्न भावनात्मक रूप से आकर्षित

रहें। और इन विभिन्न स्त्रीयों की ही उपस्थिति हम टैगोर की विभिन्न चित्राकृतियों में प्राप्त करते हैं।

“रवीन्द्रनाथ टैगोर ने नारी के विभिन्न रूपों एवं भावों को चित्रित किया है। टैगोर का आकर्षण नारी पात्रों में बहुत अधिक रहा है जो स्वयं उनके जीवन का हिस्सा थी। वे थी उनकी भाभी कादम्बरी देवी (टैगोर लेखन की श्रीमति, 1884 में आत्महत्या की थी), उनकी पत्नी मृणालिनी देवी (1902 में बीमारी से मृत्यु हुई), और विक्टोरिया ओकम्पा (अर्जेंटीना में उनकी साथी, टैगोर की ‘विजया’ जिसे वे 1924 व 1930 में मिलें) टैगोर की कलाकृतियों में अन्तराल, उनका बचपन एवं प्रेम का विशेष महत्व है।^{1/2} इन्हीं नारी पात्रों को टैगोर ने अपनी कलाकृतियों में पुनः पुनः विभिन्न रूपों में सृजित किया है। (चित्र सं०—3,4,5,9,10,16,17,18) टैगोर का यह नारी पात्रों के प्रति भावनात्मक जुड़ाव से सृजित कलाकृतियों की समीक्षा मनोवैज्ञानिक ढंग से न्यू मैन के aesthetic attachment/fascination से कर सकते हैं।

मनोवैज्ञानिक विचारधारा ‘कारण’ पर जोर देती हैं। जो भी कलाकृति हमारे सामने उपस्थित हुयी है उसके अस्तित्व का कारण क्या रहा? जैसा कि टैगोर का नारी पात्रों के प्रति आकर्षण की बात हमने यहाँ पर की है। तो उनके इस जुड़ाव की वजह क्या रही है ? उनके आकर्षण का कारण क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर हम उनके जीवन से ही पा सकते हैं। क्योंकि कला सौन्दर्य के बीज कलाकार के मन के गहरे तलों में ही व्याप्त होते हैं।

टैगोर को बचपन में माता का भरपूर प्यार नहीं मिल सका क्योंकि माता का आंचल बचपन में ही उनके हाथ से छुट गया था। लेकिन यह कमी उनकी भाभी कादम्बरी देवी ने लगभग पूरी की। कादम्बरी देवी टैगोर के बड़े भाई ज्योतिन्द्रनाथ टैगोर की 9 वर्ष की बाल्य वधू थी। कादम्बरी देवी रवीन्द्रनाथ की अच्छी मित्र व माता के समान थी। दोनों की रुची साहित्य में विशेष रूप से थी। रवीन्द्रनाथ को अपनी भावज से विशेष स्नेह था।

1883 ई० में टैगोर का विवाह मृणालिनी देवी से हुआ और विवाह के चार महीने बाद कादम्बरी ने आत्महत्या कर ली। कादम्बरी देवी ने आत्महत्या क्यों की ? इस प्रश्न का उत्तर तो उनके साथ ही चला गया। उनकी मृत्यु का कारण बस रहस्य बन कर रह गया। कादम्बरी की मृत्यु से रवीन्द्र को बहुत गहरा आघात हुआ। सही अर्थों में मृत्यु से टैगोर का परिचय (स्थायी परिचय) कादम्बरी के जाने से हुआ था, हालांकि टैगोर ने बचपन में अपनी माँ को खोया था लेकिन मृत्यु की वास्तविकता से टैगोर अभी परिचित हुए। टैगोर ने अपनी जीवन-स्मृति में एक जगह इस विषय पर अपने मन की व्यथा प्रकट करते हुए बताया कि ‘...जीवन के इस

रन्ध्र में होकर जो एक अतल-स्पर्श अंधकार ज्योति हो गया, वही मुझे दिन-रात अपनी ओर खींचने लगा। मैं घूम-फिरकर केवल उसी जगह आकर खड़ा हो जाता और उसी अंधकार की ओर ताकता रहता और खोजता रहता —जो चला गया उसके स्थान पर क्या हैं।³ अपनी माँ समान भावज, एक प्रिय मित्र को खोने के बाद टैगोर ने आगे अपने जीवन में अपनी पत्नी को भी अल्पायु में ही खोया दिया, जिन से टैगोर बहुत प्रेम करते थे। टैगोर के जीवन में नियती ने उनका साथ नहीं दिया। पहले ममतीय आंचल से वंचित रहना, फिर प्रिय मित्र और अपने प्रेम को खोने का दुःख: व उनकी यादें, सदैव टैगोर के अचेतन मन में रहीं या कहें उनके मन की गहराईयों में हमेशा व्याप्त रही। यहीं कारण है कि टैगोर की कलाकृतियों में नारी को एक विशेष स्थान प्राप्त हुआ और उनकी उपस्थिति बार-बार चित्राकृतियों में स्थान पाती रहीं।

कादम्बरी देवी की मृत्यु जल्दी हो गई थी, हलांकि वह टैगोर के बाकी जीवन में उनके लेखन के लिए प्रेरणा बन गई। टैगोर के विचारों, कविताओं व उनकी चित्राकृतियों के मध्य परस्पर यह क्रिया समझने की यहाँ आवश्यकता है।

कादम्बरी देवी की मृत्यु के लगभग 30 वर्ष बाद टैगोर ने "First Sorrow" नामक गीत की रचना की।

"I was walking along a path overgrown with grass, when suddenly I heard from someone

behind, "See if you know me?"

I turned round and looked at her and said, "I cannot remember your name."

She said, "I am that first great Sorrow whom you met when you were young (twenty-five)"....."³

जैसे उपरोक्त पंक्तियों के भाव में कादम्बरी की उपस्थिति स्पष्टतः महसूस होती है वैसे ही कादम्बरी की उपस्थिति टैगोर की चित्राकृतियों में भी प्रतीत होती है। टैगोर के लैण्डस्केप में उनकी उपस्थिति को स्पष्टतः महसूस कर सकते हैं— संकीर्ण रास्ते जो दोनों ओर घने वृक्षों से घिरे हैं व दूसरी ओर सुनहरा क्षितिज नदी के सुस्पष्ट जल में खोया हुआ सा, जुलाई के गहरे बादल एवं सितम्बर माह का सुनहरा अवतारण। (चित्र सं०-1, 2)



“टैगोर ने कादम्बरी देवी की मृत्यु के बाद उसकी आत्मा को अपने चारों महसूस किया जिस ने उन्हें एक गीत लिखने के लिए प्रेरित किया— Timiro obo-gunthone, bodono tobodhaki, ke tumi ke tumi ke tumi momo ongone? यह गीत उनके गहरे अंधेरे (timiro) से घिरी घूंघट में ढकी नारी चित्राकृतियों से बारीकी से मेल खाता है। "Timiro obogunthone" “अंधेरे का घूंघट” उनकी पेंटिंग "Portrait of a woman" जो गहरे अंधकारमय वातावरण में घूंघट में नारी चित्रण का अच्छा वर्णन है। टैगोर की बहुत सी चित्राकृतियों में ऐसा देखने को मिलता है। ऐसा विश्वास भी किया जाता है कि यह अंधेरे में परिचित छवि उनकी भाभी कादम्बरी देवी की ही प्रकट हुई है।”⁵ (चित्र सं०-3,4,5)

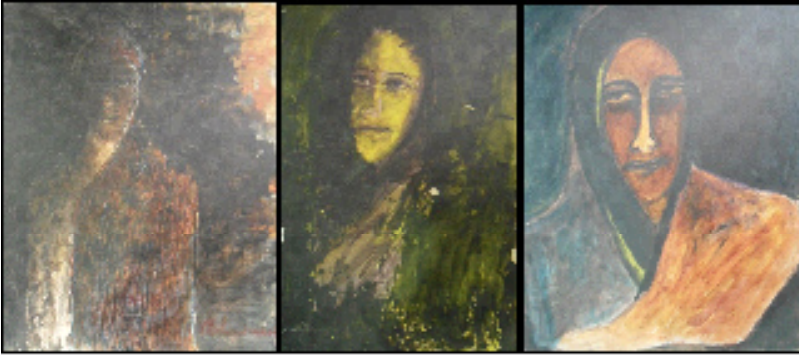


fig. 1 33

fig. 1 34

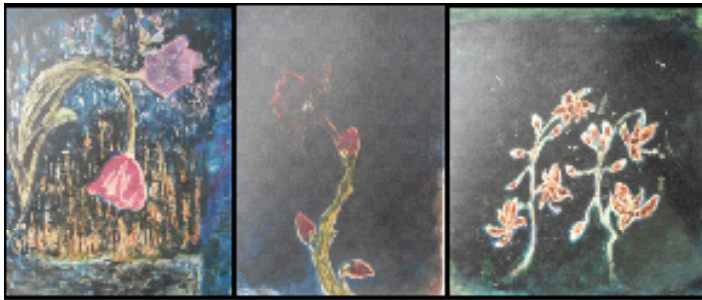
fig. 1 35

टैगोर ने जो भाव Timiro obo-gunthone...गीत में व्यक्त किये है ऐसे ही भाव की कुछ झलक टैगोर के उन संस्मरण में भी प्राप्त होती है जो उन्होंने कादम्बरी की मृत्यु के बाद अपने मन की व्यथा को प्रकट करते हुए बताये थे। जिनको हम ऊपर वर्णित कर चुके हैं।

अतः हम यहाँ टैगोर के संस्मरण, उनकी कविताओं व गीतों के आधार पर उनकी चित्राकृतियों में कादम्बरी की उपस्थिति को महसूस करते हैं। जो अचेतन मन के गहरे अंधकारमय वातावरण में एक धुधली याद बन कर टैगोर के चित्रों में बार-बार प्रकट होती है। यह सब भाव टैगोर के अचेतन मन की दीवारों को लांगकर उनकी

चित्राकृतियों में अपने अस्तित्व को साकार रूप प्रदान करते हैं।

मनोवैज्ञानिक विचारधारा में इस बात पर जोर दिया जाता है कि अचेतन मन में हमारे जीवन के वो सब अनुभव या कहें यादें, इच्छायें दबी होती हैं जो तत्काल समय पर प्रकट नहीं हो पाती, लेकिन उपयुक्त समय पाते ही ये सब हमारे क्रियाकलापों (रचनाओं) में अपना प्रभाव दिखाती हैं। इस संदर्भ में हम टैगोर की कला में अचेतन की उपस्थिति पाते हैं। जो दर्शक को उनकी कलाकृतियों की एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षा करने के लिए आमंत्रित करती हैं। उदाहरण स्वरूप यहाँ टैगोर का एक संस्मरण देखिये जो उन्होंने अपनी माँ के कोमल व ममतामयी स्पर्श को या कहें अपनी माँ की ममतामयी छाव को याद करते हुए बताया। जिस ममता से नियती ने उनको सदैव वंचित रखा। ".... बाद को बड़े होने पर जब बसंत-प्रभात में मुट्ठी-भर अधखिले बड़े-बड़े बेले के फूल चादर की खूँट में बाँधकर मैं पागल की तरह फिरा करता था-उन्हीं कोमल चिकनी कलियों से जब माथे को सहलाता तो हर रोज मुझे अपनी माँ की शुभ्र उँगलियों की याद हो आती- मैं कलियों के रूप से देख पाता कि उन सुंदर उँगलियों की पोर में जो स्पर्श था वहीं स्पर्श प्रतिदिन इन बेले के फूलों में निर्मल होकर प्रस्फुटित हो आया है।"⁶ अतः रवीन्द्र ने सदैव उस ममतामयी छाव को अपने जीवन के अन्तराल में याद किया। टैगोर ने अपनी माँ की ममता व स्नेही स्पर्श को फूलों व कलियों के कोमल स्पर्श में महसूस किया। माता का वह स्पर्श जो उनके हाथों से ईश्वर ने छीन लिया उसको बालक रवीन्द्र ने प्रकृति में पाया। और ये सब भाव हम टैगोर की पुष्प व कलियों के चित्राकृतियों में भी महसूस कर सकते हैं। टैगोर के इस संस्मरण को पढ़ने के बाद उनके ये चित्र मुझे केवल फूल, पत्तियाँ व कलिया ही नजर नहीं आती बल्कि यहाँ ये उनके अचेतन मन में व्याप्त उनकी माँ के कोमल स्पर्श के प्रति टैगोर की मूक पीड़ा व ममतामयी प्रेम का भाव दिखाई देता है। जिसको वे बचपन में इन फूलों व कलियों के कोमल स्पर्श से प्राप्त करने का प्रयास किया करते थे। (चित्र सं०-6,7,8)



चित्र सं० | 666

चित्र सं० | 667

चित्र सं० | 668

टैगोर के चित्रों में नारी के विविध रूपों को स्थान मिला। टैगोर स्वयं भी ममतामयी आंचल को पूर्णतः प्राप्त नहीं कर सके और आगे जीवन में पत्नी की मृत्यु भी जल्द हो जाने पर अपने बच्चों की मूक पीड़ा को भी महसूस किया जिन्होंने अपनी माँ को खो दिया था अतः इस वात्सल्य भाव को भी उन्होंने अपने चित्रों में भावनात्मक अनुभूति के साथ अभिव्यक्त किया है। (चित्र सं०-9,10)



चित्र-1 99



चित्र-1 10

अतः नारी चेहरा अनेक रूप लेकर रवींद्रनाथ की कृतियों में बार-बार प्रकट होता रहा। यह रवींद्र की प्रेमाश्रय स्थली एवं अभिलाशा की प्रतिमा हैं। इसके सुखद स्पर्श को उन्होंने रंगों के प्रभावपूर्ण संगीत के द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

“श्रीपत राय जी ने भी नारी चेहरों व आकृतियों के बारे में यही कहा कि टैगोर के ये चित्र मेरी अपनी धारणा के अनुसार मेडोना के असंख्य चित्रों की भांति ही मानवी करुणा के प्रतीक हैं। करुणा एवं वात्सल्य के भी। टैगोर ने अपनी बउठान (भावज) के अनेक चित्र बनाए हैं, नारी आकृति का एक ही रूप टैगोर के मानस एवं हृदय पटल पर था। उनकी भावज उनके बाल्यकाल में ही माता व भावज के रूप में आयीं। वह आयु में उनसे थोड़ी ही बड़ी थी, किशोरावस्था में पहुँचते-पहुँचते उन्होंने उनको खो दिया। यह अघात उनके लिए असहनीय था और कुछ समय तक वे विक्षिप्तावस्था में जिए। जीवन की समस्त यातना को टैगोर ने अमृत बनाकर मानवता को दिया। उनको इस नारी आकृति का नानविध रूपायन उनकी सारी कथा में विद्यमान हैं। कुछ-कुछ उसी प्रकार जैसे खिष्टीय कलाकृतियों में ईसा की माता मरियम का निरूपण हुआ है। इस आकृति की विकर्ण गति के साथ संरचना की लय, लयों का संयमित संघटन, आयतन की दृढ़ भावना, प्रकाश और छाया एवं छायाकृति के अधःस्तल का सफल उपयोग। ये सभी गुण उन सभी चित्रों में विद्यमान हैं जहाँ रवींद्रनाथ ने इस अपरूप नारी का अंकन किया है।”⁷

टैगोर के अचेतन मन में ये सब भाव कहीं न कहीं बहुत गहरे बसे हुए थे जो उनकी कला के द्वारा अभिव्यक्त हुए। यहीं टैगोर के चित्रों में उपस्थित नारी रूप का मनोवैज्ञानिक पक्ष है। जो उनके अचेतन मन के आकारों को साकाररूप प्रदान करता है।

रवींद्रनाथ टैगोर का आकर्षण हमें उनके नारी आकारों के साथ-साथ ज्यामितीय आकृतियों में भी नजर आता है। डब्लू० जी० आर्चर ने भी इस बात पर अपनी टिप्पणी दी है। "टैगोर का ज्यामितीय आकृतियों के प्रति सम्मोहन उनकी बहुत सी चित्राकृतियों में प्रकट हुआ है। आर्चर ने कोणीय ज्यामितिक आकृतियों के लिए, सहज व निर्बोध ऊर्ध्वमुखी कटाक्ष आकृतियों के लिए, बाहर निकली हुई चोंच, दाँत व नाक एवं नुकिलें त्रिकोणों के प्रति टैगोर के सम्मोहन आदि पर टिप्पणी की है। टैगोर की ये आकृतियाँ असाधारणीय अभिव्यंजनावादी गहरे आत्मिक दर्द का रहस्योद्घाटन करती हैं।" (चित्र सं० -11,12,13,14,15)



चित्र सं० 11



चित्र सं० 12



चित्र सं० 13



चित्र सं० 14



चित्र सं० 15

आर्चर ने आगे कहा है कि " विचारमग्न अण्डाकार स्त्री चेहरो को भावपूर्ण आँखों के साथ चित्रित करना शायद ही टैगोर की तुलना में किसी अन्य कलाकार में इतनी अधिक जुनूनी धुन रही हो।"⁸

टैगोर ने अपने व्यक्ति चित्रों में आँखों के द्वारा ही व्यक्ति का स्वाभाव उसके

मन की वेदना, प्रसन्नता, खुशी, सुख, दुख आश्चर्य रहस्यमयी आदि भावों को दर्शाया है। टैगोर जानते थे कि आँखें सीधे हृदय से संबंधित होती हैं इसी कारण आँखों के द्वारा ही व्यक्ति के भाव को अभिव्यक्त किया है। चित्रों में टैगोर ने आँखों के द्वारा ही व्यक्ति के स्वभाव उसके मन के भावों को बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किया है। आँखें सीधे दर्शक को अपनी ओर आकर्षित करती है और मानो कहती हो "देखो इधर"। टैगोर के चित्रों में आँखें व्यक्ति के मन की गहराई उसके विभिन्न भावों को स्पष्टतः प्रस्तुत करती है जिसमें मुख्यतः भाव ममता, शान्त, सुखमय और कुछ में गहरी उदासी व रहस्यमयी भाव का प्रस्तुतिकरण हैं। दर्शक भी इन चित्रों में काफी समय आँखें पर अपना ध्यान टिकाकर व्यक्ति के चरित्र को जानने उसके भावों की गहराई समझने में व्यस्त रहते हैं। (चित्र सं० -16,17,18)



चित्र सं० -16

चित्र सं० -17

चित्र सं० -18

टैगोर का नारी पात्रों के प्रति आकर्षण या कहें जुनूनी धुन के कारणों को हम सही अर्थों में उनके जीवन से ही समझने की चेष्टा कर सकते हैं। टैगोर ने अपने अचेतन मन की गहराइयों में छिपे दृश्यों को अपनी कलाकृतियों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। जिनको हम मनोवैज्ञानिक विचारधारा से समझ पाये हैं। टैगोर की कला में नारी रूप के मनोवैज्ञानिक पक्ष को उनके जीवन में घटित घटनाओं से यहाँ पूर्णतः समझने का प्रयास किया है। टैगोर के जीवन के ये विभिन्न उतार-चढ़ाव ही सही अर्थों में टैगोर की चित्राकृतियों में पुनः-पुनः उपस्थित नारी रूप का मनोवैज्ञानिक कारण हैं। उनकी कला में नारी के भावों की विभिन्न अभिव्यंजना को उनके अचेतन मन में व्याप्त नारी के अनेक रूपों की साकार अभिव्यक्ति के मनोवैज्ञानिक पक्ष को स्पष्ट किया गया साथ ही जीवन में घटित घटनायें और मनोवैज्ञानिक विचारधाराओं का विशेष स्थान रहा।

I UnHZ xLFK&

1. Funch,Sode Bjarne,The Psychology of Art Apprecation,Muesuim Tusculanum Press University of Copenhagen,1997,p.-180
2. www.artnewsnviews.com/view-article.php? (Parkash,Uma,Women in Rabindranath Tagore's paintings)
3. बंद्योपाध्याय, असित कुमार, "रवीन्द्र रचना संचयना", साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1987, पृ.सं. 590
4. www.artnewsnviews.com/view-article.php? (Parkash,Uma,Women in Rabindranath Tagore's paintings)
5. बंद्योपाध्याय, असित कुमार, "रवीन्द्र रचना संचयना", साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1987, पृ.सं. 590
6. www.artnewsnviews.com/view-article.php? (Parkash,Uma,Women in Rabindranath Tagore's paintings)

ATISHAY KALIT

असिस्टेंट प्रोफेसर, चित्रकला विभाग

द: .K शोध छात्रा

चित्रकला विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

ATISHAY KALIT

Vol. 3, Pt. B

Sr. 6, 2014

ISSN : 2277-419X

अमृता शेरगिल की चित्रकला

“कहते हैं— अगर धूप-छांव के रंग न रहे तो जिंदगी बेरंग हो जाए, लेकिन उसके लिए तो जिंदगी के मायने ही रंग थे। धूप के रंग, छांव के रंग, आनंद के रंग, उदासी के रंग, कदम रखो तो धरती के रंग। पंख पसारो तो आसमां के रंग और हाँ एक मन भी तो था उसके भीतर, जिसके रंगों में गुनगुनातीरही एक उदास धुन... ये धुन जब बिखरी सफेद कैनवास पर तो जिंदगी ने कहा— अमृता शेरगिल।”¹ (देखिए छाया चित्र)



अमृता शेरगिल

“मनुष्य अपनी स्मृतियों में जीता है और निरंतर इसी में जीता रहता है। स्मृतियाँ कई तरह की मनोदशाओं और स्थितियों से उत्पन्न आकस्मिक दुर्घटनाओं या संबद्ध क्रियाओं के चलते निर्मित होती हैं। और यह वही पथ है, जहाँ मनुष्य अपने अस्तित्व को याद करता है। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है, जहाँ मनुष्य ने अपने अस्तित्व को अमरता प्रदान करने का प्रयास किया और इस ग्रह पर विभिन्न विधियों से स्वयं को चिन्हित करना चाहा। इसी का परिणाम था की अमृता शेरगिल ने कई आत्मचित्र (सेल्फ-पोर्ट्रेट) हमें वसीयत के तौर पर सौंपे हैं और ये कृतियाँ महान प्रतिभा और कल्पना से निस्सृत हैं। हालाँकि यह ‘आत्म’ रेखांकनों, चित्रों के रूप में उपलब्ध हैं, हम इनके जरिए अमृता शेरगिल के बारे में जान पाते हैं कि वे

अपने जीवन और समय के विभिन्न दौरों में किस हाल में थी। इनके अभाव में ये स्थितियाँ विस्मृति में खो जाती। अपने अभिलेखात्मक वैशिष्ट्य के अलावा सेल्फ-पोर्ट्रेट रचनात्मक क्षणों में कलाकार के मानस का मुखर और उत्तेजक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। आंतरिक अनिवार्यता से उत्पन्न ऐसी कलात्मक अभिव्यक्ति बोध के स्तर पर आपकी आँखों को प्रशान्ति प्रदान करती हैं। कला प्रथमतः एक अंतर-मानसिक क्रिया है, यह स्वभावतः आनंद की स्रोतस्विनी है। आत्म और कृति के बीच का ऐक्य नितांत अनिवार्य है। हालाँकि किसी कलाकार की प्रत्येक कृति उसके आत्म का विस्तार ही होती है, तो भी वे अपने आत्म-चित्र आँका करते हैं। तब मन में यह प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी चीज है, जो कलाकार को अपना आत्म-चित्र बनाने को प्रेरित करती है। कलाकारों द्वारा विभिन्न स्थानों पर और विभिन्न समयों में अपने 'आत्म' को चित्रित करने के लिए वैविध्यपूर्ण विधियाँ अपनाई गई हैं।² अमृता स्वयंसे जुड़ा रहना चाहती थी वह 'स्व' को चित्रित करके अपने जीवन की निजस्वता को स्पर्श करना चाहती थी। अमृता शेरगिल के कुछ आत्म-चित्र ऐसे हैं, जिनके द्वारा हम उनके व्यक्तित्व, अभिरुचियों और जीवन-शैली के बारे में जान सकते हैं। कुछ मामलों में हम पाते हैं कि वे अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने के लिए रेखा और रंग का अतिरेकपूर्ण प्रयोग करती हैं। एक आत्म-चित्र ऐसा भी है, जो जीवन जीने के उल्लास को जगाए रखने के लिए बनाया गया है। अमृता 'स्व' को चित्रित करने में इतनी मग्न थी कि कुछ कला-समीक्षकों ने उन्हें 'आत्ममुग्धा' कहने में भी संकोच नहीं किया। अमृता शेरगिल के आत्म-चित्र जीवंत जीवन-दृष्टि के लिए विख्यात हैं।

“सभी जानते हैं कि अमृता को आत्म-चित्र बनाने का बड़ा शौक था वह अक्सर अपने सौन्दर्य की स्वयं दृष्टा बनती रहती थी। एक बार अमृता ने अपना एक आत्म-चित्र बनाकर बालदून धींगरा से पूछा कि उन्हें कैसा लगता है ? धींगरा ने कहा था— “किसी कलाकार का आत्म-चित्र बनाना मुझे कुछ ऐसा ही लगता है जैसे कोई अपने ही शरीर में अपना खून नलियों से चढ़ा रहा हो।” धींगरा ने यह बात आत्म-चित्र रचना के सन्दर्भ में कही थी³, लेकिन इस बात से यह भी स्पष्ट होता है कि अमृता अपने देश की आत्मा में अपना खून चढ़ाने की कोशिश में संवेदनीयदृष्टि से लगातार लगी हुयी थी। तो बालदून धींगरा का यह विचार अमृता की समूची कला के सन्दर्भ में सटीक उतरता है। अमृता ने अपने कुछ आत्म-चित्रों में अपनी काल्पनिक दुनिया को आंतरिक भावों से चित्रित किया है।

“आत्म-चित्र आत्म-विश्लेषण और कल्पना पर आधारित होता है। वस्तुतः इसमें शाब्दिक या प्रतीकात्मक तौर पर अपने 'आत्म' को रचनात्मक प्रतिनिधित्व देने की भावना निहित होती है। साथ ही रेखा, आकार, रंग और संरचना के माध्यम से कई

संभावनाओं की खोज भी। किसी कलाकार का आत्म-चित्र अपने आप को जिज्ञासावश विषय के तौर पर देखना है और अपने वास्तविक तथा चाक्षुश रूप के द्वैत का विश्लेषण करना है। मनोविज्ञानी आत्म-चित्र कलाकार के आत्म या 'स्व' के आंतरिक संसार को ही दर्शाते हैं।⁴ जैसे अमृता शेरगिल अपने आत्म-चित्र बनाकर अपने जीवन की दूनिया को बखूबी समझी और अपने चरित्र की निजता को पूरी दृढ़ता से आत्म-चित्र में प्रस्तुत कर सकी। जब अमृता यूरोप में थी तो उनकी कला पर यूरोप की कला व कलाकारों तथा वहाँ के परिवेश का विशेष प्रभाव उनकी कलाकृतियों में दिखाई देता है। 'पेरिस प्रवास का यह समय अमृता के जीवन का एक महत्वपूर्ण काल था। उसके जीवन में स्वच्छंदता और विचारों में नवोन्मेशी क्रान्ति के बीज इसी काल में अंकुरित हुए। अमृता शेरगिल नवोन्मेशी दृष्टिकोण वाले अग्रदूतों (एवंटगार्ड) के नाटक देखने लगी और कैफे आदि में भी अपने मित्रों के साथ स्वतंत्र रूप से जाने लगी। वह जल्दी ही अपने सहज व्यक्तित्व, आकर्षक सौन्दर्य, विश्वास और बुद्धि के कारण पेरिस की प्रदर्शिनियों, नाटकों, पार्टियों और नृत्योत्सवों में चर्चित और लोकप्रिय हो गई। इस अवस्था में वह अपने इस जीवन से प्रसन्न थी और उसकी इस सहज प्रसन्नता के स्पष्ट चिन्ह इसके तत्कालीन आत्मचित्रों (सेल्फ पोर्ट्रेट्स) में देखे जा सकते हैं।'⁵ (देखिए चित्र सं.1, आत्मचित्र (7)।)



चित्र सं. 1

सब कलाकारों में अपने 'स्व' को जानने की जिज्ञासा होती है परन्तु बहुत से कलाकार अपने आत्म-चित्र को वह रूप नहीं दे पाते जो उनके उस भाव को प्रदर्शित कर सके जिस समय व जिस भाव से वह आत्म-चित्र बना है। लेकिन अमृता ने 'स्व' को जानने के लिए अपने आत्म-चित्रों को उकेरा तथा अपने भ.वों से अपने परिवर्तनशील जीवन को स्पर्श किया। अमृता शेरगिल के चित्र स्वयं

को बनाने में आत्म-परख व आत्म-चेतना पर आधारित थे। एक आधुनिक महिला कलाकार के रूप में वह खुद की स्थिति को आगे बढ़ा रही थी, और उसका सूक्ष्म व्यक्तित्व पश्चिमी पोशाक के अलावा एक पारम्परिक घरेलू जरी की साड़ी में आसानी से पहचाना जा सकता है। मुश्किल से वह 14 साल की थी जब उसने स्वयं को पेंसिल से आत्म-चित्रों की एक श्रृंखला में विभिन्न मूड और पल आदि के कौशल को सीखने की ओर आकांक्षित किया।

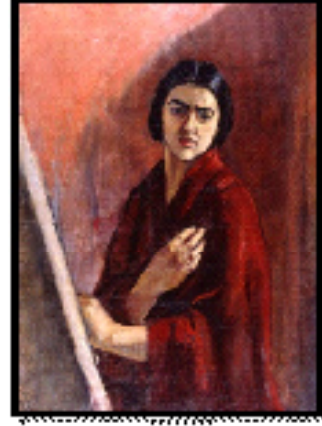
“आत्म-चित्र कलाकारों की ऐसी भावपूर्ण मनोदशाएँ हैं, जो उन्होंने दूसरों द्वारा मिले अपमान, तिस्कार, संवेदनशून्यता और अज्ञानता के दंश के रूप में झेली हैं। आत्म-चित्र आत्म-परीक्षण एवं आत्म-बोध के बीच झूलता हुआ सृजन है और दर्शको द्वारा कलाकार की अस्मिता और अवसाद को स्वीकृति देना है। अभिरुचि परिवर्तित होती रहती है लेकिन इस बात में कुछ समय लगता है कि लोग नए सत्य को अपने आत्म-घोषित आग्रहों या आत्म-विचारों को त्याग कर नया आस्वाद ले सकें।”⁶ यहाँ हम अमृता की अभिरुचि के साथ-साथ उनके अनुभवों से प्राप्त परिवर्तन को सरलता से समझ सकते हैं। जैसे अमृता अपने प्रारम्भिक आत्म-चित्रों में प्रसन्नता, उल्लास, बेधड़क आदि भावों की महिला को उकेर पायी है, जबकि उत्तरवर्ती आत्म-चित्रों में पीड़ा, दुख, किसी चीज को पाने की जिज्ञासा आदि के भावों को अपने आंतरिक मन की प्रेरणा से चित्रित कर पायी हैं। अमृता के आत्म-चित्रों में ये परिवर्तन उसके स्वयं के आत्म-बोध के बीच झूलता हुआ सृजन हैं। अमृता शेरगिल ने अपने मित्रों व अपने पिता के भी आत्म-चित्र बनाये हैं। अन्य लोगों के आत्म-चित्र बनाने के लिए उनका चुनाव वह स्वयं करती थी और वह जिसका चित्र बनाती थी उसकी अन्तरात्मा के भाव को अपनी तूलिका के रंगों से रंग देती थी। वह पोर्ट्रेट्स बनाने के मामले में सिद्ध हस्त कलाकार थी। “अमृता शेरगिल ने शारीरिक सौन्दर्य के चित्रण में दक्षता प्राप्त की तथा किशोरवस्था में ही वे यूरोप के कलाकारों की भाँति नग्न-मानव मॉडल बिठाकर चित्रांकन करती थी।”⁷

कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि अमृता शेरगिल को उसकी अपनी ही पीढी ठीक से समझ नहीं पायी लेकिन बाद की पीढी ठीक से समझ पायी है। “सच्चाई यह है कि कलाकार जिस स्वतंत्रता को अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा अभिव्यक्त करने को तत्पर होता है, उसे कभी-कभी तत्कालीन लोगों की अभिरुचि स्वीकार नहीं करती, लेकिन इससे विचलित हुए बिना वह सत्य के संधान में लगा रहता है। किसी कलाकार के स्टुडियो में आईने का उपयोग अक्सर किसी विषय या आकृति के अध्ययन और शोध के लिए किया जाता रहा है। ऐसे आईनों के उपयोग से संभवतः उसे ‘आत्म’ को चित्रित करने के लिए प्रेरित किया होगा। कलाकार बहुधा

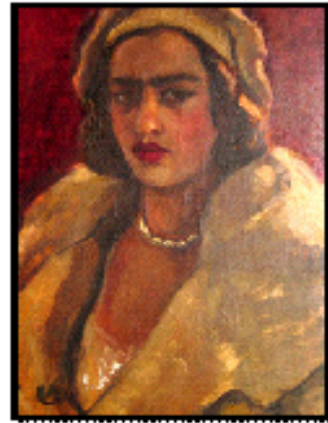
अपनी दर्पण वाली छवि से आत्म-चित्र बनाते देखे गए हैं। और जैसाकि कहा जाता है कि पीड़ाएँ और त्रासदियाँ आत्मा को पवित्र बनाती है और प्रतिभा को परिष्कृत करती हैं।⁸ इस दृष्टि से अमृता शेरगिल पर भी विचार किया जा सकता है। और उनके आत्म चित्रों में इसका उत्तर निहित है जिन्हें उन्होंने पूरी तन्मयता से अपने 'स्व' को चित्रित किया है। एक कलाकार के नाते अमृता शेरगिल ने अपने 'आत्म' में एक ऐसी महिला को देखा था जो जीवन के प्रति गहरा प्रेम रखती थी और मनोवेगों और दृढ़ संकल्प से भरी अपनी रचनात्मक दृष्टि को पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्त करने को आतुर थी। उसके आत्मचित्र विविध मनोवैज्ञानिक स्थितियों को ही निरावृत्त नहीं करते बल्कि उन यातनाओं के भी सूचक हैं जिन्हें वह मानवीय ऊष्मा और संवेदनाओं के अभाव में झेलती रही। जिनके आत्म-चित्र हमें एक संवेदनशील मनुष्य के हृदय और मानस को समझने की अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं। यह हम उनकी भावप्रवण आँखों में पढ़ सकते हैं। अमृता के इस चित्र में ऐसा लगता है, कि वह किसी गहरी चिन्तन में खोई हुयी हैं, कुछ है जिसे वह पाना चाहती हैं। जैसे ऊपर लिखा हुआ है कि पीड़ाएँ और त्रासदियाँ आत्मा को पवित्र बनाती है और प्रतिभा को परिष्कृत करती हैं वैसे ही अमृता को अपने जीवन में पीड़ाओं और त्रासदियों का सामना करना पड़ा, जिसके कारण अमृता के 'आत्म' में पवित्रता का निवास हुआ एवं यह पीड़ाएँ अमृता के उत्तरवर्ती आत्म-चित्रों में परिष्कृत हुयी हैं, और अमृता की पवित्र आत्मा भी भारतीय गंगा के पवित्र स्थान के निकट बसी हैं। (देखिए चित्र सं. 2 सेल्फ-पोर्ट्रेट विद ईजल।)

ये उनके लिए भी आँख खोलने वाले आत्म-चित्र है, जो केवल किसी व्यक्ति की सफलता को ही देखने के आदी होते हैं और किसी कलाकार की प्रसिद्धि के पीछे के दुःखों-तकलीफों से अनभिज्ञ रहते हैं।

“अमृता शेरगिल ने अपने आत्म-चित्रों द्वारा निजी जीवन की छवियों को जिस तरह प्रस्तुत किया है,



चित्र- 1 a 2



चित्र- 1 a 3

वह विशिष्ट हैं। लेमिंग रैड रंग वाली पृष्ठभूमि में अपने आपको चित्रित करना उनकी इस इच्छा को ज़ाहिर करता है कि वह कैसे अपने चरित्र की निजता को पूरी दृढ़ता और नाटकीय ढंग से प्रस्तुत कर सके। (देखिए चित्र सं. 3 सेल्फ-पोर्ट्रेट।)

अमृता अपने कुछ आरंभिक आत्म-चित्रों में मुखर, बेधड़क, जोशीली और खुशमिजाज युवती नज़र आती हैं, जबकि उनके उत्तरवर्ती आत्म-चित्र ठीक उनके विपरीत प्रतीत होते हैं। गीता कपूर अपनी पुस्तक 'हवेन वाज मॉडर्निज्म' में लिखती है, "भारत में अमृता शेरगिल ठीक वैसी ही थी, जिस तरह काहलो मैक्सिको में। दोनों ही प्रतिभावान, करिश्माई व जटिल व्यक्ति की थी और दोनों त्रासद नियति की शिकार बनी।" शेरगिल का 1934 में बनाया गया आत्मचित्र 'सेल्फ-पोर्ट्रेट एज ताहितियन' बेहद चौकाने वाला है, जिसमें उसकी निर्वसन काया पॉल गोगॉ के ताहिती परिवार जैसा स्वच्छंदतावादी स्थान ग्रहण कर लेती है और इस तथ्य को प्रभावी ढंग से नाटकीय बनाती है। यह एक गैर पश्चिमी स्त्री द्वारा 1930 के दशक में गोंगों पर की गई ऐसी व्याख्या है, जो अपने आप में हैरानी में डाल देने वाली बात है, पर जो सचमुच हैं।⁹ इस चित्र में उनके

स्वभाव, दृढ़ता, साहस आदि के भाव प्रगट हुये हैं। "यह आत्म-चित्र उनके प्रारंभिक दिनों की रचना हैं। इस चित्र में जहाँ रंगों के प्रयोग में उनकी दिन प्रतिदिन बढ़ती प्रौढ़ता का इतिहास छिपा है, वहीं उनकी मानसिकता भी सुस्पष्ट रूप में परिलक्षित हुई है। आत्म-चित्र अमृता की अपने तलाश के चित्र हैं। अपने सही अस्तित्व को खोजने में वे निरन्तर प्रयत्नरत प्रयास करती रही हैं, यह चित्र इस बात का भी प्रमाण है। अपने प्रारंभिक जीवन में उनका ध्यान प्रयोगों पर रहा है, किन्तु कभी भी वे आत्मतुष्टि की स्थिति में नहीं रहीं। इन प्रयत्नों और जूझने वाली प्रक्रियाओं ने उनकी चिन्तन शक्ति को दृढ़ता और साहसिकता दी है, जो इस आत्म-चित्र में उभर



चित्र- 1 a4

कर सामने आयी हैं।¹⁰ अतः अमृता शेरगिल को एक ऐसी युवा महिला के रूप में देखा जाता है, जो अपनी सभी स्त्री जनित कलाओं का उपयोग करती हैं। अमृता शेरगिल ने अपने आत्म-चित्र को एक अति आत्म विश्वास से भरी व निडर किशोरी के रूप में सहज मुस्कान के साथ नीली साड़ी में चित्रित किया है। जिससे अमृता शेरगिल के भारतीय व्यक्तित्व के जुड़ाव को भारतीय पारम्परिक साड़ी में सहजता से

समझा जा सकता हैं। इस तरह अमृता के मूड के बदलाव, पहनावे, चरित्र व उनके रूमानी स्वभाव को उनके आत्म-चित्रों से समझने का अवसर मिला हैं। (देखिए चित्र सं. 4 आत्मचित्र।)

‘आत्म’ की पेंटिंग गहरी खोज पर आधारित है। वस्तुतःसेल्फ-पोर्ट्रेट जीवन के केन्द्र बिंदु या स्रोत को खोजने तथा प्रेम व चेतना को प्राप्त करने का प्रयास है। साथ ही यह अपनी निजता को समझने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम है। आज अमृता शेरगिल के आत्म-चित्र कला के इतिहास में विशिष्ट प्रतिमान बने हुए हैं। हमारे मन में यह प्रश्न उभरता हैं कि वह कौन-सी बात थी, जिसने अमृता शेरगिल में बार-बार ‘आत्म’ का चित्रण करने की चाह जगाई। “यह एक विशिष्ट और बौद्धिक उपक्रम है, जो किसी को इस बात का अवसर प्रदान करता है कि वह अपनी छाप छोड़ सके और ईश्वर की तरह कार्य कर मृत्यु पर विजय प्राप्त करें। यह एक निस्सार लेकिन सकारात्मक मुद्रा है यह जताने के लिए कि कोई जीवित हैं।”¹¹ अमृता शेरगिल ने अपने ‘स्व’ को चित्रित करने में अपना अग्रणीय सहयोग दिया हैं; एवं उनकी आत्मा आज भी हमारे बीच जीवित हैं। अमृता के आत्म-चित्र उनकी आत्मयता को सदैव अमरता प्रदान करते हैं।

I UhHx xLFk

1. श्रीवास्तव आलोक, अहा!जिंदगी, वर्ष;09, अंक;12, अगस्त;2013 पृ.सं.-71।
2. मोहन सौमित्र, समकालीन कला, अंक 29, मार्च 2006-जून 2006 पृ.सं.-17।
3. नंदन कन्हैयालाल, अमृता शेरगिल, जनवरी 1987 पृ.सं.-106।
4. मोहन सौमित्र, समकालीन कला, अंक 29, मार्च 2006-जून 2006 पृ.सं.-17।
5. जोषी, डॉ० ज्योतिश, समकालीन कला, मई 1990 पृ.सं.-24।
6. मोहन सौमित्र, समकालीन कला, अंक 29, मार्च 2006-जून 2006 पृ.सं.-18।

महर्षि कृष्णकृष्ण

निर्देशक

शासकीय ललित कला संस्थान,

जबलपुर (म.प्र.)

ATISHAY KALIT

Vol. 3, Pt. B

Sr. 6, 2014

ISSN : 2277-419X

दयक दस मीस ;

प्रकृति कलाकार को जन्म देती है। भविष्य के स्वागत के लिए आज सक्रिय रहकर समृद्ध इतिहास गढ़ने का कार्य प्रकृति ने वैज्ञानिकों के साथ कलाकारों के कंधे पर भी डाला है। यह कार्य सभ्यता और संस्कृति के प्रगतिशील विकास का घोटक है। यह स्वयं के साथ दूसरों को भी आनन्द बॉटने की जिम्मेदारी से भरा कार्य है। यह मानव मात्र के जीवन की बाधाओं, दुःखों, संकटों को अपने सम्मोहित करने वाले कलाकर्म के माध्यम से समाप्त करने का कार्य है। सृजनशील मनुष्य का यही सच्चा कर्म है चाहे वह कलाकार, बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक या राजनीतिज्ञ ही क्यों ना हो ।

कुछ लोग चाहते हैं कि पृथ्वी आगे की ओर घूमने के वजाय पीछे की ओर घूमनी चाहिए। ऐसे लोग पश्चिम से सूर्य उगाना चाहते हैं। साथ ही वर्तमान में इतिहास को दोहराने की और भविष्य को अतीत के गर्त में ढकेलने की कामना करते हैं। यहीं पर संघर्ष का आरम्भ होता है। अल्पसंख्यक स्वार्थी लोग परिवर्तन के विरोधी हैं। वे नये का विरोध करते हैं, उन्हें प्रगति—कर्म दिशा पसन्द नहीं आती, वे पुराने के गुण गाते हैं, वर्तमान पर अतीत की बात थोपना चाहते हैं, ऐतिहासिक आदर्शों और प्राचीन संस्कृति को वर्तमान पर आरोपित करना चाहते हैं। ऐसे लोग भारतीयता पर जोर देकर भी भारतीयता को संकुचित सीमाओं में कैद करना चाहते हैं। ऐसे लोग कला के क्षेत्र में भी पुराने औजार का ही प्रयोग करते हैं और नये के प्रवेश का रास्ता रोकते हैं।

भारतीयता का क्या अर्थ है? हमारे देश पर कई ऐतिहासिक हमले हुए हैं, बाहरी चीजों को हम लोग स्वीकारते गये हैं प्राचीन लोगों ने भारतीयता के नाम पर कभी चीख पुकार नहीं की। जब परिवर्तन के रेशों से ही इतिहास बुना गया है तो आज ही परिवर्तन के लिए भारतीयता क्यों बाधक बन रही है, इस पर सोचा जाना चाहिए कि भारतीयता के शोर की आड़ में कोई दुष्ट उद्देश्य तो नहीं छिपा है? परन्तु पृथ्वी की अग्रगामी घूर्णन गति के साथ समय बीतता है और समाज में

परिवर्तन होता है। स्थितियों बदलती हैं। सृजनशील मनुष्य आवश्यकतानुसार नये आविष्कार करते हैं। दोहराव की संभावनाओं को परे हटाकर सभी कलाएँ मानसिक बीमारियों से मुक्ति दिलाती हैं। सार्वजनिक सामुहिक हितों को मद्देनजर रखते हुए सृजनशील कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान नवीनता का आनन्द प्रदान करते हैं। कला का सर्वप्रमुख धर्म यही है कि नवीनता, सामर्थ्य तथा प्रसन्नता को उभारते हुए आगत भविष्य का स्वागत किया जाये। कला आज के प्रयोगों से इतिहास को समृद्ध करती है तथा ऐतिहासिक कला का भी संरक्षण करती है। पुरानी प्रेरणा और दिशा के अनुसार प्राचीन कला की नकल तथा कला सृजन करने का आग्रह गतिशील जलप्रवाह को रोक कर उसे पैदल करना है ।

एक बार कला का उद्देश्य समझ में आते ही कलाकार को आधुनिक सभ्यता में अपनी भूमिका का बोध हो जाता है। इतिहास का अध्ययन करके वर्तमान के अनुभवों के आधार पर भविष्य में किये जाने वाले प्रयोगों की समझ विकसित करना कला की सही समझ प्राप्त करना होता है। अत्यंत संवेदनशील बनकर भावों और भावनाओं के प्रतिबिम्बित होने वाले प्रभाव कला के मूर्त या अमूर्त आकारों के द्वारा अभिव्यक्त होने चाहिए। सभी तरह के लोगों को सृजनशील कलाकार के साथ कला का आस्वाद लेते हुए नई संस्कृति का रास्ता अपनाना चाहिए।

परंतु समाज के कुछ मुट्ठी भर लोग अपने अहंकार की तृप्ति के लिए स्वार्थ और सत्ता लोभ के लिए, प्रतिष्ठा के लिए धन के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान, कला और आविष्कारों के सभी स्रोत अपने पैरों तले दबाए रखने का षडयंत्र रचते हैं। इनसे कलाकारों, आविष्कारों तथा नव-निर्माण करने वालों को न केवल सावधान रहना चाहिए बल्कि वक्त आने पर कला के माध्यम से उनके विरुद्ध संघर्ष खड़ा करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

* स्वयं द्वारा लिखा शोध घटक लेख

वैदिक साहित्य में वर्णित वेश-भूषाओं का भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला में व्यवहारिक प्रयोग

भारतीय साहित्य ही नहीं अपितु विश्व साहित्य के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ के रूप में वेदों का स्थान नितांत गौरवपूर्ण है। वेद सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत भी है और भारतीय संस्कृति को जानने के अन्यतम साधन भी है। वैदिक साहित्य में ही भारतीय संस्कृति का वास्तविक ज्ञान निहित है।¹ वेद साहित्य द्वारा ज्ञात इस युग को 'वैदिक युग' कहा गया है। इस साहित्य से देवताओं के मानव रूपों का न्यूनाधिक वर्णन होने पर भी इस युग में देव मूर्तियों का निर्माण नहीं हुआ। वैदिक देव स्वरूपों को कालान्तर में दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों में मूर्त रूप दिया गया। इस दृष्टि से वैदिक देव चिन्तन भारतीय मूर्तिकला का मूलाधार है।²

वैदिक साहित्य में देवताओं के रंग – रूप का जो वर्णन मिलता है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। देवताओं के रूप में आर्यों ने अपने आदर्श रूप को प्रस्तुत किया है। देवों के रूप एवं सौन्दर्य के वर्णन में उनकी शारीरिक बनावट के साथ उनके वस्त्राभूषण, वस्त्रों को धारण करने की कला, वस्त्रों के वर्गीकरण सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख किया है जो उन्हें विशिष्ट व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य प्रदान करते हैं। ये वर्णन चित्र और मूर्तिपरक हैं तथा चित्रकार और मूर्तिकार के लिये दृश्यमान हैं।³

वैदिक साहित्य में वस्त्र के लिए वासस्, अंशुकम् तथा इनके अतिरिक्त अधिवासः, नीवीं, द्रापि, प्रवार, पेशस्, उत्तरीय तथा उष्णीषादि शब्दों का प्रयोग पद विशिष्ट वस्त्र के परिधान के रूप में किया गया है। स्त्रियों के द्वारा धारण करने वाले वस्त्रों के लिए विशेष रूप से चण्डातक, अंगिका का वर्णन मिलता है।

वासस् –

वासस् सामान्यतः स्त्री एवं पुरुष दोनों के द्वारा धारण किये जाने वाले सभी प्रकार के वस्त्रों के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'वैदिक कोश' के अनुसार वासस् वस्त्र के

लिए सामान्य वैदिक शब्द है।⁴

अंशुकम् –

इसका प्रयोग पहनने के वस्त्र के रूप में किया गया है। यह एक प्रकार का सफेद महीन कपड़ा या चादर होता है।⁵

अधिवासः –

यह शब्द ऊर्ध्व – वस्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।⁶ शतपथ ब्राह्मण (5.3.5.19) के अनुसार राजा इसे याज्ञिक अनुष्ठान में पहनता है।⁷

नीविः –

कमर में लपेटी हुई धोती को नीवी कहते हैं।⁸

द्रापि –

ऋग्वेद (1.25.13), (1.116.10), (4.53.2) में द्रापि शब्द पारिधान के अर्थ में आया है।⁹

प्रवार –

प्रवार शब्द ओढ़ने के वस्त्र या ऊनी कपड़े के अर्थ में आया है।¹⁰

पेशस् –

मरुतों द्वारा स्वर्ण – खचित वस्त्र धारण करने का उल्लेख मिलता है।¹¹

उष्णीष –

जो सिर के चारों ओर बाँधी जाये ऐसा साफा, पगड़ी या मुकुट।¹² जिसे वैदिक स्त्री और पुरुष दोनों यज्ञ के अवसर पर धारण करते थे।¹³

चण्डातक –

शतपथ ब्राह्मण (5.2.1.8) के अनुसार स्त्रियों का कोई भितरी वस्त्र होता है।¹⁴ जैसे लहंगा।¹⁵

अंगिका –

चोली या अंगिका¹⁶ जो मुख्य रूप से स्त्रियाँ अपने ऊपरी भाग पर धारण करती थी।

इसी प्रकार की शब्दावली परिधेय वस्त्रों के लिए अमरकोश में भी प्रयुक्त की गई है। जिसके अनुसार वस्त्रों को तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है।

1. निबन्धनीय¹⁷ – उष्णीष, शिरःशाटक, अन्तरीय, अर्धोऽशुक, आप्रदीन और स्तनांशुक।

वैदिक साहित्य में वर्णित वेश-भूषाओं का भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला में व्यवहारिक 33

2. प्रक्षेप्य – चोल, कूर्पासक, चण्डातक या अर्धोरुक, कञ्चुक या वारबाण।

3. आरोप्य – उत्तरीय पट, प्रवार और कम्बल।

इनमें से निबन्धनीय और आरोप्य वस्त्र 'अस्यूत' (बिना सिले) परिधान और प्रक्षेप्य स्यूत (सिले हुए) परिधान होते हैं। सिले हुए वस्त्रों को धारण करने का क्रम वैदिक काल में हो चुका था क्योंकि वेदों में सुई के लिए 'सूची' शब्द का वर्णन मिलता है।

1. निबन्धनीय वस्त्र – इसके अन्तर्गत दो प्रकार के वस्त्र आते हैं –

i. उष्णीष या शिरोवेष्टन

ii. अर्धोऽशुक या उपसंव्यान, शाटक

iii. स्तनांशुक

i. उष्णीष या शिरोवेष्टन –

वैदिक काल से ही पुरुषों एवं स्त्रियों का उष्णीष धारण करने का वर्णन प्राप्त होता है। आर्य यज्ञ करते समय उष्णीष धारण करते थे। अलग-अलग वर्णों के लिए अलग-अलग प्रकार तथा रंग की उष्णीष धारण करने का प्रचलन था।¹⁸

उपर्युक्त तथ्यों के अनुसार मूर्तियों और चित्रों में उष्णीष वस्त्र के विभिन्न प्रकार हमें देखने को मिलते हैं। उदाहरण स्वरूप ये निम्नवत् हैं –

सर्वप्रथम सिन्धु सभ्यता में पाषाण शिल्प का विकास हुआ था। इस सभ्यता की ग्यारह मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों में से कुछ मूर्तियों ने अलग-अलग प्रकार के उष्णीष धारण किये हुए हैं।

'डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल' के अनुसार मोहनजोदड़ो से प्राप्त डी. के. 2383 संख्यक मूर्ति के मस्तक पर पंखों के समान फैला हुआ (चित्र संख्या -1) एक आभरण है जो ऋग्वेद में वर्णित 'ओपश' के समान लगता है। इसी प्रकार की एक दूसरी खड़ी हुई मूर्ति में इसी जैसा किन्तु सिर पर ऊपर को उठा हुआ 'ओपश' या पंखे जैसा उष्णीष है। जिसके अगल बगल कुल्फी के आकार का कुरीर नामक आभूषण (चित्र संख्या -2) हैं।¹⁹

इसी प्रकार भरहुत के अर्थ चित्रों में भी भिन्न-भिन्न प्रकार की अलंकृत उष्णीष या पगड़ियाँ देखने को मिलती हैं जैसे –

* लट्टूदार साफा जिसमें बुंकी और पत्तियों का काम है तथा लट्टू में बेल बनी हैं।

* भरभरा साफा जिसमें पेंची और झालर है।

- * लट्टूदार भारी साफा।
- * लट्टू के ऊपर चूनट, पीछे की ओर उभार।
- * अटपटा साफा ऊपर उठती झालर।
- * हल्का साफा, जिसकी बाँयी ओर की तहें कान तक है।
- * झालरदार साफा।
- * कामदार साफा जिसपर फूल व पत्ती बनी है। (चित्र संख्या -3)²⁰

इसी प्रकार भरहुत की कला में भरहुत वेदिका पर उत्कीर्ण चुलकोका (चित्र संख्या -4) और सिरिमां (चित्र संख्या -5) देवियों की मूर्तियाँ हैं। जिसमें उन देवियों ने मनकों की लड़ियों से भरा हुआ शिरोवस्त्र धारण किया हुआ है। जो केशों से होता हुआ पीछे की तरफ लटका हुआ है।²¹

अजन्ता के भित्ति चित्रों में भी अलग - अलग प्रकार की शिरोभूषा देखने को मिलती है। गुफा संख्या - 10 में चित्रित 'श्याम जातक' (चित्र संख्या -6) कथानक पर आधारित चित्र शृंखला के शिकार दृश्य में पुरुषों के सिर पर विभिन्न शैलियों में बँधी शिरोभूषा को देखा जा सकता है। चित्र में शरसंधान की मुद्रा में तीर धनुष लिए पुरुष आकृति ने सिर पर वस्त्र के लम्बे टुकड़े को गोलाई लेकर बाँधते हुए सिर पर सामने की ओर मृदंगाकार आकृति से बने बालों के जुड़े के ऊपर वस्त्र को लपेट रखा है तथा इसके छोर को बाँयी तरफ निकाल कर फसाया हुआ है।²²

ii. अर्धोऽशुक या उपसंव्यान, शाटक -

कटि में निबन्धनीय अधोवस्त्र को अमरकोश में अन्तरीय, उपसंव्यानम्, अधोऽशुकम्, परिधानम् (अमरकोश 2.6.117)²³ से सम्बोधित किया है जिसका तात्पर्य है कमर से नीचे पहने जाने वाले वस्त्र। अन्तरीय शरीर में पहना जाने वाला वस्त्र था और उत्तरीय ओढ़ा जाने वाला वस्त्र था। ये दोनों मिलकर उपसंव्यान कहलाते थे। इसके अन्तर्गत शाटक²⁴ को सम्मिलित किया जा सकता है जो सामान्यतः धोती और साड़ी को कहते हैं। शाटक पाँव तक नीचा पहना जाता था, इस लिए इसे आप्रपदीन कहते हैं। शाटक, शाटी और अधरोरुक की गाँठ को नीवी कहते हैं। जिस पर नीवी बाँधी जाती थी।²⁵

स्त्री तथा पुरुष दोनों ही भिन्न प्रकार से तथा आकर्षक अन्तरीय धारण करते थे। सतवाहन काल की एक राजकुमार की मूर्ति (चित्र संख्या - 7) में राजकुमार अन्तरीय धारण किया हुआ दर्शाया गया है जो कि कच्छा शैली में पहना जाने वाला तथा मछली की दोहरी पूँछ की शैली में पीछे फैलाया हुआ है।²⁶

वैदिक साहित्य में वर्णित वेश-भूषाओं का भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला में व्यवहारिक 35

स्त्रियाँ नीवी को अलंकृत करने के लिए करधनी धारण करती थी जिसे अमरकोश (2/6/108)²⁷ में मेखला, काञ्ची, सप्तकी, रशना, सारसनम् कहा गया है जिसका तात्पर्य है कि “ स्त्रियों की करधनी”।

मेखला या करधनी धारण करने का वर्णन सर्वप्रथम सिन्धुघाटी सभ्यता से प्राप्त होता है जिससे ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियाँ कटिप्रदेश में मेखला पहनने की शौकीन थी। मोहनजोदड़ों के निधान संख्या 2 में मिली हुई एक मेखला साढ़े तीन फुट लम्बी तथा छः लड़ियों वाली है जो लम्बोतरे मनको को पिरोकर बनायी गई है²⁸ (चित्र संख्या – 8)।

अलंकृत करधनी का उदाहरण भरहुत की एक मूर्ति में भी देखा जा सकता है जिसमें सात लड़ों की अलंकृत सप्तकी है, जिसके दोनों ओर गोलाकार व अण्डाकार नमूने की अन्दर जुड़ी लड़ियाँ तथा इसके साथ ही दो कतारों में सोने अथवा कीमती पत्थर जड़ी कूल्हों पर आड़ी – तिरछी पड़ी मोतियों की मालायें पहनी हुई देखी जा सकती हैं।²⁹ (चित्र संख्या – 9)। अतः स्त्रियों द्वारा करधनी धारण करने का प्रचलन प्राचीन काल से ही चला आ रही है।

iii. स्तनांशुक –

वैदिक युग में विवाह के समय कन्या को एक स्तनावरण पहनाया जाता था जिसे ‘प्रतिधि’ कहते थे। जिसे स्तनों पर सामने से घुमाकर पीठ पर गाँठ बाँधी जाती थी। इससे यह निबन्धनीय कोटि में आ जाती है।²⁰

अजन्ता में गुफा सं. 16 में एक परिचारिका के चित्रण में उसने प्रतिधि धारण किया हुआ है जिसे पीछे की ओर बाँधा गया है।³¹ (चित्र संख्या – 10)

2. प्रक्षेप्य वस्त्र –

सिले हुए वस्त्र प्रक्षेप्य कोटि में आते हैं, जिसमें शरीर के भागों को प्रक्षेपित अर्थात् ढका जाता है। हालाँकि वैदिक साहित्य में इसका वर्णन नहीं मिलता है। फिर भी मूर्ति तथा चित्रों में इसे दर्शाया गया है।

i. चोल या कूर्पासक –

‘अमरकोश’ में चोल, कूर्पासक ‘स्त्रियों की चोली, कुर्ती’ आदि के दो नाम हैं।³² स्त्रियाँ इसे चोली भाँति धारण करती थी और पुरुष कुर्ते आदि की तरह धारण करते थे। यह आस्तीन रहित तथा कअि अर्थात् कमर से ऊँचा रहता था। इसकी बाहें कोहनी से ऊपर होती थी इसलिए इसे कूर्पासक कहा जाता था।

स्त्रियों के द्वारा भिन्न – भिन्न प्रकार के आकर्षक कूर्पासक धारण करने का

प्रचलन था। अजन्ता के भित्ति चित्रों में स्त्रियों द्वारा बहुत प्रकार के अलंकृत कूर्पासक धारण किये दर्शाया गया है।

अजन्ता गुफा संख्या - 1 में एक पारिचारिका ने सामने की तरफ कपड़ा लगा चोली के रूप का ब्लाउज पहन रखा है। जिस पर रंगाई तथा छपाई का काम हो रहा है। (चित्र संख्या - 11)

इसी प्रकार अजन्ता की गुफा संख्या - 1 में नृत्यरत किशोरी ने सामने पेटबन्द के साथ चोली जैसा सही काट का ब्लाउज पहना हुआ है जो सम्भवतः पीछे से बँधा है।³³ (चित्र संख्या - 12)

ii. चण्डातक या अर्धोरुक -

अमरकोश के अनुसार अर्धोरुकम्, चण्डातकम्, 'लहंगे' के दो नाम प्राप्त होते हैं।³⁴ सम्भवतया यह एक प्रकार का जाँघों तक का घाघरा या लहँगा होता था जिसे नृत्यांगनायें धारण करती होगी।³⁵ (चित्र संख्या - 13)

iii. कञ्चुक और वारबाण -

कञ्चुक एक प्रकार का बाँहदार, पैरों तक लटका हुआ कोट जैसा पहनावा था। वारबाण कञ्चुक की अपेक्षा ऊँचा, मोटा कोट था।³⁶ इसे भी आकर्षित करने के लिए इस पर मोतियों का काम किया जाता था। कुषाण कालीन सम्राट कनिष्क (मथुरा) की मूर्ति में एक चोगा धारण कर रखा है जो कुर्ते से अपेक्षाकृत लंबा कोट, सामने मध्य में खुला पहना जाने वाला तथा लम्बी समेट हुई आस्तीनें हैं।³⁷ (चित्र संख्या - 14)

राजाओं की वेशभूषा का वर्णन करते हुए बाणभट्ट ने कञ्चुक, वारबाण, चीनचोलक और कूर्पासक इन चार प्रकार के ऊपरी वस्त्रों का वर्णन किया है।³⁸ अमरकोश में इसे आप्रपदीनम्, '(पैर तक लटकने वाले कपड़े)' का एक नाम बतलाया गया है।³⁹

3. आरोप्य वस्त्र -

आरोप्य वस्त्र शरीर के ऊपरी भाग पर धारण किये जाते हैं इन वस्त्रों की विशेषता यह है कि ये लम्बाई तथा चौड़ाई में अधिक तथा रंगीन होते हैं जिन्हें खुला हुआ धारण किया जाता है इसमें उत्तरीय, पट, आच्छादनक तथा प्रावरण और ऊनी कम्बल (शॉल) भी सम्मिलित किये जाते हैं।⁴⁰

i. उत्तरीय -

अमरकोश में प्रावार, उत्सासड.ग, बृहतिका, सध्यानम्, उत्तरीय अर्थात् 'कमर के ऊपर धारण करने योग्य दुपट्टा, चादर' आदि कपड़ों के ये पाँच नाम हैं।⁴¹ उत्तरीय

वैदिक साहित्य में वर्णित वेश-भूषाओं का भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला में व्यवहारिक 37

को भी कलात्मक ढंग से धारण करने का प्रचलन था जिसे स्त्री तथा पुरुष दोनों धारण करते थे। इस वस्त्र का प्रयोग मूर्तियों एवं चित्रों में देखने को मिलता है जैसे –

सिन्धुघाटी सभ्यता की एक पुजारी की मूर्ति जो घिया पत्थर से निर्मित है तथा उसके नीचे का भाग टूटा हुआ है जिसमें पुजारी को उत्तरीय धारण किये हुए दर्शाया गया है इसे बाँये कन्धों को ढकते हुए पहना गया है तथा इस पर तीन पत्ती वाले फूलों की आकृति बनी है।⁴² (चित्र संख्या – 15)

इसी प्रकार भरहुत में एक यक्ष की मूर्ति द्वारा उत्तरीय धारण किये हुए दर्शाया गया है जिसे वक्ष पर तेह किया हुआ तथा दोनों ओर कन्धों पर पीछे डाला हुआ है।⁴³ (चित्र संख्या – 16)

निष्कर्षतयः यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में जो वर्णन देवी एवं देवताओं के रूप, आकार एवं धारण किये हुये वस्त्रों का मिलता है उसका व्यवहारिक प्रयोग भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। हालांकि उनमें समयानुसार परिवर्तन भी परिलक्षित होता है फिर भी इनका आधार वैदिक साहित्य को ही माना जाना चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. उपाध्याय, आचार्य बलदेव, संस्कृत वाङ्मय का वृहद इतिहास (प्रथम वेद खण्ड) उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, 1996, पृ. सं. 47
2. गुप्त, डॉ. शिवकुमार, प्राचीन भारतीय मूर्तिकला, कला निधि प्रकाशन, जयपुर, 2003, पृ. सं. – 13
3. चंद्रिकेश, डॉ. जगदीश, वैदिक कालीन रुपंकर कलाएं (चित्र, मूर्ति एवं वास्तु, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं.– 36
4. वैदिक कोश, सूर्यकान्त, वैदिक रिसर्च समिति, बनारस, 1963, पृष्ठ सं. – 478
5. बृहद संस्कृत – हिन्दी शब्द कोश, प्रथम खण्ड, पं. गोपालचन्द्र वेदान्तशास्त्री, वाराणसी, पृ. सं. –4
6. वैदिक कोश, राजवीर शास्त्री, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 1975, पृ. सं. 40 “अधिवासम् – उपरि स्थापनीयम् (वस्त्रम्)”
7. वैदिक कोश, सूर्यकान्त, वैदिक रिसर्च समिति, बनारस, 1963, पृष्ठ सं. – 13
8. संस्कृत –हिन्दी कोश, वामन शिवराम आष्टे, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 2003, पृ. सं. – 559
9. वैदिक कोश, सूर्यकान्त, वैदिक रिसर्च समिति, बनारस, 1963, पृष्ठ सं. – 210
10. वैदिक कोश, सूर्यकान्त, वैदिक रिसर्च समिति, बनारस, 1963, पृष्ठ सं. – 319
11. वैदिक कोश, सूर्यकान्त, वैदिक रिसर्च समिति, बनारस, 1963, पृष्ठ सं. – 510

12. संस्कृत –हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 2003, पृ. सं. – 220
13. वैदिक कोश, सूर्यकान्त, वैदिक रिसर्च समिति, बनारस, 1963, पृष्ठ सं. – 65
14. वैदिक कोश, सूर्यकान्त, वैदिक रिसर्च समिति, बनारस, 1963, पृष्ठ सं. – 144
15. संस्कृत –हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 2003, पृ. सं. – 369
16. बृहद संस्कृत – हिन्दी शब्द कोश, प्रथम खण्ड, पं. गोपालचन्द्र वेदान्तशास्त्री, वाराणसी, पृ. सं. – 2
17. संस्कृत –हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 2003, पृ. सं. – 527, “निबन्धनीय – बाँधने के अर्थ में (बंध, डोरी या रस्सी)”
18. आचार्य, भावना, प्राचीन भारत में रुपश्रृंगार, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, 1995, पृ. सं. – 75
19. अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण, भारतीय कला, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी, 2010, पृ. सं. – 28
20. डॉ. मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, भारती भण्डार, प्रयाग, सं. 2007 विक्रम, पृ. सं. – 65–67
21. गुप्त, डॉ. शिवकुमार, प्राचीन भारतीय मूर्तिकला, कला निधि प्रकाशन, जयपुर, 2003, पृ. सं. – 53
22. पाण्डेय, डॉ. सुमन, अजन्ता के भित्ति चित्रों में अंकित वस्त्र एवं वेशभूषा का आलोचनात्मक अध्ययन, कला प्रकाशन, वाराणसी, 2006, पृ. सं. – 86
23. अमरकोशः, श्री पं. हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1978, पृ. सं. – 224 “ अन्तरीयोपसंब्यानपरिधानान्येधोऽशुकं”(2/6/117)
24. सिद्धान्तकौमुदी, भट्टोजिदीक्षित, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1985, पृ. सं. 59, “अन्तरे अन्तरा वा शाटकः। परिधानीया इत्यर्थः।।”(1/1/36)
25. अग्निहोत्री, डॉ. प्रभुदयाल, पंतजलिकालीन भारत, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2007, पृ. सं. – 164 –165
26. अल्काजी, रोशन, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 2010, पृ. सं. – 50
27. अमरकोशः, श्री पं. हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1978, पृ. सं. – 224
“ स्त्रीकटयां, मेखला काञ्ची सप्तकी रशना तथा।
क्लीबे सारसनं चाछऽथ पुस्कटया श्रृंखला त्रिपु।।” (2/6/108)
28. अग्रवाल, डॉ. पृथ्वीकुमार, प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2002, पृ. सं. – 45
29. अल्काजी, रोशन, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 2010, पृ. सं. – 20
30. आचार्य, भावना, प्राचीन भारत में रुपश्रृंगार, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, 1995, पृ. सं. – 78
31. अल्काजी, रोशन, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 2010, पृ. सं. – 111

32. अमरकोशः, श्री पं. हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1978, पृ. सं. – 229 “चोलः कूर्पासकोऽस्त्रियाम्”।(2/6/118)
33. अल्काजी, रोशन, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 2010, पृ. सं. – 112 – 113
34. अमरकोशः, श्री पं. हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1978, पृ. सं. – 229, “ अर्धोरुकं वस्त्रीणां स्याच्चण्डातकमास्त्रियाम्”। (2/6/118)
35. आचार्य, भावना, प्राचीन भारत में रुपश्रृंगार, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, 1995, पृ. सं. – 79
36. आचार्य, भावना, प्राचीन भारत में रुपश्रृंगार, पब्लिकेशन स्कीम, जयपुर, 1995, पृ. सं. – 79
37. अल्काजी, रोशन, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 2010, पृ. सं. – 78
38. अग्रवाल, डॉ. वासुदेवशरण, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 1964, पृ. सं. – 80



fp= | f; k& 1



fp= | f; k& 2

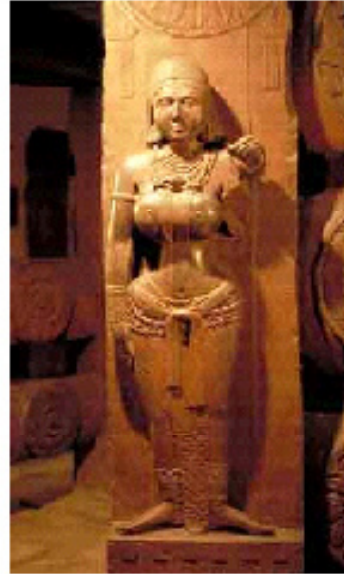


fp= | §; k&3

वैदिक साहित्य में वर्णित वेश-भूषाओं का भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला में व्यवहारिक 41



चित्र सलथा - 4



चित्र सलथा - 5



चित्र सलथा - 6



(चित्र सेख्या - 7)



(चित्र सेख्या - 8)



(चित्र सेख्या - 9)



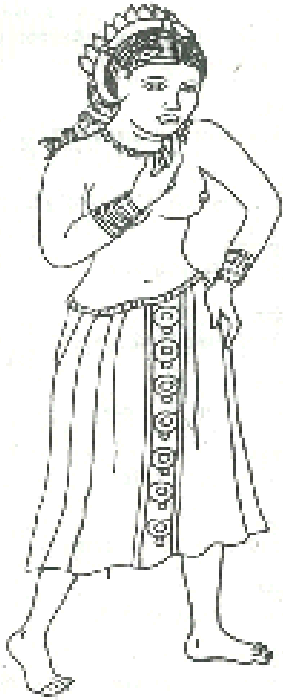
(चित्र सेख्या - 10)



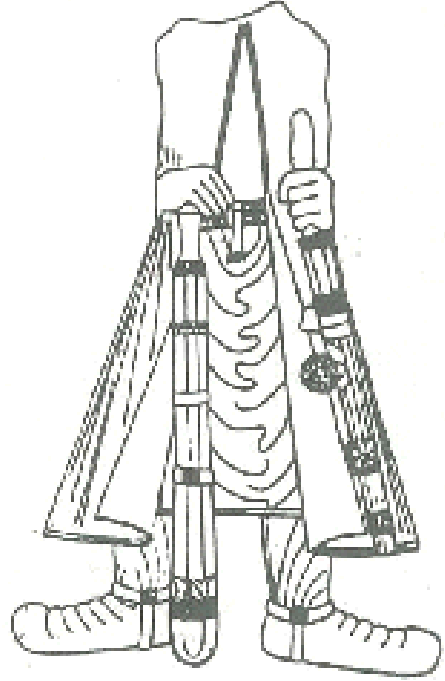
(चित्र सेख्या - 11)



(चित्र सेख्या - 12)



चित्र संख्या - 13



चित्र संख्या - 14



(चित्र संख्या - 15)



(चित्र संख्या -)

किशोर कुमार मीणा
अतिथि व्याख्याता (व्यावहारिक कला)
राजस्थान स्कूज ऑफ आर्ट,
जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

विज्ञापन के विभिन्न चरणों में कला सर्जनात्मकता का महत्व

व्यवसाय की शुरुआत के साथ ही स्थानीय अखबारों में विज्ञापन, सड़कों पर होर्डिंग, इंटरनेट पर वेबसाइट बनाकर ये समझना भूल होगी की विज्ञापन का काम पूरा हुआ और अब तो ग्राहकों की लाइन लगेगी। नये व्यवसाय की शुरुआत से ही यह बात समझ लेनी चाहिए कि व्यवसाय की तरक्की बिना मार्केटिंग एवं विज्ञापन के संभव नहीं है। इस संदर्भ में 'स्टीवर्ट एच ब्रिट' का मानना है कि, "बिना विज्ञापन व्यवसाय अंधेरे कमरे में लड़की को आंख मारने के समान है कि आप स्वयं ही जानते हो कि आप क्या कर रहे हो, दुसरा नहीं जानता" इसलिए विज्ञापन करना अतिआवश्यक है एवं व्यवसाय में प्रचार के लिए लगातार नए-नए तरीके अपनाने चाहिए। जरूरी नहीं कि जो तरीका पिछले साल तक काम कर रहा था, वह आज भी उतना ही कारगर हो ऐसा भी नहीं कि आपने दो महिने पहले प्रचार कर दिया था तो अब दोबारा उसकी जरूरत ही नहीं। लोगो के दिल में जगह बनाने के लिए एवं एक अच्छी छवि बनाये रखने के लिए लगातार विज्ञापन-प्रचार की जरूरत होती है।'

भारत में लगभग 14 करोड़ घरों में टीवी है और लगभग 620 टीवी चैनल देखे जाते हैं। जिसमें सन् 2011 के एक सर्वे के अनुसार कम्पनियों ने 11600 करोड़ रुपये केवल टीवी विज्ञापनों पर खर्च किये, इसके अलावा अन्य माध्यमों की चर्चा अभी बाकी है। टेक्नोलॉजी के बारे में टीवी कॉमर्शियल जानकारी देते हैं। लैपटॉप खरीदने के लिए इंटरनेट का सहारा लिया जाता है। गाड़ी के नए मॉडल के विज्ञापन 'बिलबोर्ड्स-होर्डिंग्स' में देखने को मिल जाते हैं। इनके साथ-साथ रेडियो, मैगजीन और आउटडोर सब मिलकर एक औसत उपभोक्ता का सामना दिनभर में 3000 विज्ञापन संदेशों से करवाते हैं। इन सभी विज्ञापनों में कला सर्जनात्मकता का महत्व झलकता है।²

क्रिएटिव डायरेक्टर निखिल राव के अनुसार, "विज्ञापन विजुअल्स और टैगलाइन्स की मदद से आपकी सोच को बदलते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य कम्पनी की

आय को बढ़ाना है। कौनसी बात आपको उत्पाद की ओर खींचती है, यह आपके साथ-साथ विज्ञापन पर भी निर्भर करता है। यह कीमत हो सकती है या गुणवत्ता या फिर उम्मीद। अगर कोई विज्ञापन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आपकी उम्मीदों पर खरा उतर जाता है तो समझिए विज्ञापनकर्ता का उद्देश्य पूरा हुआ।" इसलिए इस व्यवसाय के अद्भुत प्रस्ताव जरूरी हैं। विज्ञापन की भाषा में इसे यू.एस.पी 'यूनिक सेलिंग प्वाइंट' कहते हैं। ओगिल्वी एंड माथर इण्डिया के क्रिएटिव डायरेक्टर अभि. जीत अवरथी कहते हैं कि, "विज्ञापन कम्युनिकेशंस, मानव संसाधन, इतिहास, कला-संस्कृति, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र का मिश्रण है।" इसलिए विज्ञापन का कला सर्जनात्मकता महत्वपूर्ण अंग है।³

1. Advertising - Fair & Lovely

प्रारम्भ में विज्ञापन किसी सूचना या संदेश कहने तक सीमित था, लेकिन वर्तमान में विज्ञापन शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाने लगा है, अब यह केवल सूचना देने का साधन मात्र नहीं है, बल्कि बिक्री अभिवृद्धि और साख बढ़ाने का एक प्रभावशाली सम्प्रेषण उपकरण बन गया है। विज्ञापन शब्द की संरचना दो शब्दों वि+ज्ञापन के संयोग से बनी है, जिसमें वि का अर्थ है विशेष तथा ज्ञापन का अर्थ है सूचना या जानकारी देना ही विज्ञापन है, विज्ञापन उपभोक्ता का ध्यान किसी वस्तु विचार या सेवा की ओर आकर्षित करने का कार्य करता है।

सन् 1975 में विकसित 'फेयर एंड लवली' दुनिया की पहली 'फेयरनेस क्रीम' है। सन् 2003 में भारत की बारहवीं सबसे विश्वसनीय ब्राण्ड के रूप में दर्ज किया गया है और 2004 में एक सुपर ब्राण्ड के रूप में पहचान हुई। इस क्रीम में 'मल्टीविटामिन' और पोषण फार्मूले के साथ इसे सौन्दर्य उपचार के लिए बनाया गया है। इसके विज्ञापन में काले से गोरे होने व 'फेयर एंड लवली' के इस्तेमाल से 7 दिनों में ही असर दिखाने, कोई नुकसान नहीं पहुँचाने और त्वचा को और अधिक साफ बनाने का दावा किया है एवं चेहरे की सौन्दर्य समस्याओं को दूर करने की बात करते हुए, उज्ज्वल भविष्य का भी दावा किया है, जो कि कम्पनी के उत्पाद की बिक्री को बढ़ाता है। इसमें विटामिन 'बी' का इस्तेमाल किया गया है। भारत में युवा महिलाओं के लिए सबसे भरोसेमंद ब्राण्ड में से एक है। 'फेयर एवं लवली' 2001 और 2002 में 'इकनॉमिक टाइम्स' के एक सर्वेक्षण में 180 शीर्ष ब्रांडों में चौथे स्थान पर एवं 2004 में 'नव भारत टाइम्स' के सर्वेक्षण में सातवें स्थान पर रही। इस कम्पनी के विज्ञापन अत्याधिक आकर्षित रहे हैं, चित्र संख्या 1 देखे, जिसमें कला सर्जनात्मकता का महत्व है।⁴

2. Corporate identity - Wonder Cement

कॉर्पोरेट पहचान अर्थात् 'लोगो', कम्पनी का नाम या फिर कम्पनी की छवि है, जनता के मन में कम्पनी और उत्पाद की छवि को बनाना प्राथमिक कार्य है, अतः कॉर्पोरेट पहचान विज्ञापन व्यापार में लक्ष्य प्राप्ति और फर्म की पहचान बनाये रखने के लिए किया जाता है।

वंडर सीमेंट आर.के. मार्बल समूह का एक हिस्सा है, जो भारत में अप्रैल 2012 में सीमेंट परियोजनाओं के एक रूप में शुरू किया था। वंडर सीमेंट लिमिटेड उदयपुर, राजस्थान में सबसे बड़ी सीमेंट निर्माण उद्योगों में से एक माना जाता है। बड़े पैमाने पर प्रतिस्पर्धी होने के कारण वंडर सीमेंट ने एक ब्राण्ड, गुणवत्ता, विश्वास और पारदर्शिता के साथ जुड़कर आगे बढ़ने में प्रतिबद्ध है। वंडर सीमेंट ने देश के सबसे पसंदीदा सीमेंट कम्पनियों के बीच रहकर अपनी एक अलग पहचान बनाने का लक्ष्य रखती है। राज्य के अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी निरंतर, नये विचार और हितधारकों के बीच विश्वास बनाये रखना तथा टिकाऊ व्यवसाय और अपने ब्राण्ड गुणवत्ता का निर्माण करने की सोचती है। त्रुटिहीन गुणवत्ता और प्रभावी संचार के माध्यम से समय की एक छोटी अवधि में ब्राण्ड अपनी छवि स्थापित कर चुका है, चित्र संख्या 2 में देखें, जिसमें कला सजर्नात्मकता का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।⁵

3. Launching Product - TVS Jupiter New

एक नये उत्पाद को बाजार में प्रस्तुत करने के लिए कम्पनी द्वारा उपभोक्ता को प्रभावित करने के साथ अपनी छवि बनाये रखने के लिए एक नयी विज्ञापन योजना का निर्माण किया जाता है, यह विज्ञापन के लिए सबसे महत्वपूर्ण है कि अच्छी गुणवत्ता वाली वस्तु हमेशा बाजार में अपनी स्थिति को मजबूत बनाए रखती है और अपने नये उत्पाद से जनता को अवगत कराती है। कम्पनी उत्पाद को बाजार में लाने से पूर्व ये शोध करती है कि वह उत्पाद आकर्षक होने के साथ रोमांचक भी हो। जै मोटर कम्पनी लिमिटेड भारत में मोटरसाइकिल, स्कूटर मोपेड और ऑटो रिक्शा बनाती है। जै कम्पनी ने सार्वभौमिक अपील के साथ अपना नया डिजाइन स्कूटर पेश किया है। यह स्कूटर वीगो की तुलना में बड़ा है। इस स्कूटर में सामान को रखने की और बैठने की जगह जै के अन्य स्कूटर से ज्यादा है।⁶ TVS कम्पनी ने इस नये 100 CC स्कूटर को सुविधाजनक एवं आकर्षक बनाया है, जो अन्य स्कूटर के मुकाबले ज्यादा प्रभावशाली है। जै ने होण्डा स्कूटर के मुकाबले बेहतर डिजाइन और सुविधाजनक स्कूटर का निर्माण कर बाजार में उतारा है, जिसने अपनी अच्छी छवि के साथ बाजार में जगह बना ली है एवं अपनी गुणवत्ता के कारण कम्पनी को लाभ दिया है। चित्र संख्या 3 में देखें, जिसमें कला

सर्जनात्मकता का महत्व रहा है।⁷

4. Bourn Vita - Packaging

वर्तमान में पैकेजिंग का प्रयोग अनिवार्य रूप में किया जाने लगा है। उत्पाद की सुरक्षा के साथ-साथ विपणन और अभिवृद्धि उपकरण के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है। वर्तमान में इसका उद्देश्य अन्य प्रतिस्पर्धी उत्पादों की श्रेणी से अलग उत्पाद को अलग पहचान कराना तथा यह निर्माता के नाम और व्यापारिक चिन्ह को भी उपभोक्ता तक ले जाना है। 19 जुलाई 1948 में कैडबरी का यह उत्पाद शुरू किया गया। कैडबरी Bourn Vita अपनी पहचान और विकास के लिए बच्चों में पोषण प्रदान करने का एक अच्छा खाद्य पदार्थ माना जाता है। अपने पूरे इतिहास में कैडबरी Bourn Vita लगातार उत्पाद, पैकेजिंग, बिक्री संवर्धन एवं वितरकों के मामले में नये-नये आविष्कार करती रही है। कैडबरी एक नामी ब्राण्ड के रूप में पिछले 60 वर्षों से अपनी छवि को बनाये हुए है। इस ब्राण्ड को मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य के प्रतीक के रूप में शुरू किया गया। कैडबरी ने इसे चॉकलेट स्वाद के साथ और अधिक विशिष्ट बना दिया गया। Bourn Vita को बाजार में एक प्रमुख जगह प्राप्त है। यह सार्वभौमिक सत्य है, कि मातायें अपने बच्चों के पोषण के लिए भावनात्मक महत्व देती हैं और इसलिए बच्चों के दैनिक खुराक दुध को अधिक स्वादिष्ट बनाने के लिए स्वादिष्ट विकल्प देखती हैं। यही कारण है Bourn Vita अपनी नयी पैकेजिंग के साथ बच्चों में चॉकलेट स्वाद के साथ-साथ टेस्टी व हेल्दी होने का दावा करती है, जिसे कम्पनी ने अपनी पैकेजिंग के जरिये आसानी से दिखाया है। कैडबरी 2010 में नई पैकेजिंग के साथ नया अभियान 'तैयारी जीत की' शुरूआत की। जिससे ठवनतद टपजं ने प्रतिस्पर्धी जगह में बेहतर परिणाम हासिल किए। 2008 में ठवनतद टपजं द्वारा 'लिटिल चैम्प्स' के रूप में 2 से 5 वर्ष तक के बच्चों के लिए शुरू किया। DHA और मट्टा प्रोटीन की तरह वैज्ञानिक रूप से सिद्ध सामग्री के साथ तैयार किया गया है और इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही इसकी पैकेजिंग को नया रूप दिया गया और बिक्री अभिवृद्धि के साथ-साथ कला सर्जनात्मकता का यह प्रयास सफल रहा।⁸ चित्र संख्या 4 में देखें।

5. Media Startegy - i Ball

माध्यम नीति अपनाते समय इस तथ्य पर ध्यान दिया जाता है, कि विज्ञापन के लिए उपलब्ध विभिन्न वैकल्पिक माध्यमों एवं माध्यम वाहनों में से अपने उत्पाद के लिए कौनसा विज्ञापन श्रेष्ठ है। ऐसा कौनसा विज्ञापन माध्यम एवं माध्यम वाहन है, जो बाजार के पूर्ण भाग का आच्छादन करता है और चाहे गये समय पर एवं चाहे गये आकार में विज्ञापन संदेश को उसके मूल रूप में प्रभावी और विश्वसनीय ढंग से

निर्धारित बजट में लक्षित उपभोक्ताओं तक पहुँचा सके। विज्ञापन नीति बनाते समय विज्ञापन माध्यम एवं विज्ञापन वाहन की श्रेणी का भी ध्यान रखा जाता है, कि माध्यम किस श्रेणी का है और वह किन लोगों द्वारा अधिक पसंद किया जाता है।

i Ball मुख्य रूप से एक निजी तौर पर आयोजित इलेक्ट्रानिक्स कम्पनी है। मुंबई में विकसित इस कम्पनी द्वारा कम्प्यूटर व स्मार्ट फोन बनाये जाते हैं। सितम्बर 2001 में शुरू इस कम्पनी के 'आउटडोर मिडिया' काफी प्रभावशाली रहे हैं। इस कम्पनी द्वारा कम्प्यूटर और कम्प्यूटर से जुड़े पार्ट बनाये जाते हैं। प टंसस कम्पनी ने अपनी शुरुआत एक माउस विज्ञापन से की थी और फिर कुछ ही सालों में 27 से ज्यादा उत्पाद प टंसस कम्पनी ने बना दिये। आज 'आउटडोर मीडिया' द्वारा वर्तमान समय में कम्पनी विख्यात हो रही है। सन् 2010 में प टंसस द्वारा निर्मित 'सेलुलर फोन' ने कारोबार में कदम रखा और 60: जनसंख्या का वर्तमान में मोबा. ईल हैंडसेट का मालिक है और यहाँ तक कि कम्पनी ने गांवों तक अपने फोन को पहुँचाया है। आज प टंसस के विज्ञापन हर दुकान या बाजार में देखने को आसानी से मिल जाते हैं। इस कम्पनी ने अपना प्रचार-प्रसार 'आउटडोर मीडिया' नीति द्वारा पूरा किया और अपने विज्ञापन को आकर्षित रूप में पेश किया, जो उपभोक्ता को एक बार जरूर आकर्षित करता है। आज i Ball को भारत में 45 से ज्यादा उत्पाद बेचने का श्रेय मिल रहा है। सन् 2012-13 में 50 करोड़ से अधिक का उद्यम है। देश भर में इसकी 24 शाखाएँ हैं। प टंसस कम्पनी ने अब तक लाखों से अधिक उत्पाद बेच दिये हैं और आज सेवा प्रदाताओं में सर्वश्रेष्ठ में से एक होने पर गर्व करती है। उत्पादकों के मध्य अपनी एक अलग पहचान बनाये हुए है, जिसका श्रेय मजबूत विज्ञापन नीति, विपणन एवं कला सर्जनात्मकता को जाता है।⁹ चित्र संख्या 5 में देखे।

6. Promotion - Colgate

'ब्राण्ड इमेज' बनाने के लिए विज्ञापन माध्यम एक सबसे महत्वपूर्ण भाग है। कम्पनी की उन्नति उसके उत्पाद की छवि पर आधारित रहती है। इसी के साथ 'कॉलगेट' कम्पनी ने अपनी छवि को मजबूत करने के लिए कुछ नये उत्पाद का निर्माण किया। सन् 1873 से शुरू हुआ और सन् 1896 में पहली 'टूथपेस्ट' के रूप में सामने आया। भारत में 1930 के दशक के बाद बाजार में 'कॉलगेट' का 'टूथपेस्ट' पर्याय बन चुका था, जिसे ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में स्वीकार कर लिया था। सन् 1992 में 'कॉलगेट' ने चीन में अपना पहला कारखाना स्थापित किया। सन् 1999 तक वह देश का सबसे ज्यादा बिकने वाला ब्राण्ड बन गया था। 'कॉलगेट' में उच्च गुणवत्ता के साथ ग्राहक की सन्तुष्टि एक सकारात्मक गुण है। सन् 2002 में

'कॉलगेट' ने चीन में 'टूथपेस्ट' के लिए शेयर बाजार के 20: पर कब्जा कर लिया था। सन् 2009 में 'कॉलगेट' ने अपने अन्य उत्पाद के जरिए पूरी दुनिया के 200 से अधिक देशों पर व्यवसायिक अधिकार कर लिया था। 'टूथपेस्ट' बाजार में एक साल में लगभग 55.9: की वृद्धि हुई है। हाल ही में 'कॉलगेट' के शेयर जून 2013 के बाद छः महीनों में 2.7: की वृद्धि हुई है। 'कॉलगेट' कम्पनी द्वारा मंसूडे की सूजन कम करने और 12 घंटे लगातार दांतों की सुरक्षा करने आदि के लिए कोलगेट का उत्पाद इस्तेमाल करने की सलाह दी है। कम्पनी ने इस उत्पाद को हर स्तर के व्यक्ति के इस्तेमाल के लिए छोटे पैक में भी या कम कीमत में इसे बाजार में बेचा जा रहा है। 'कॉलगेट' दांतों की मजबूती, मंसूडों की सूजन की रोकथाम, लंबे समय तक स्थायी ताजा सांस और बच्चों के लिए विशेष फार्मूले के लिए टूथपेस्ट बनाता है एवं इसे बाजार में उपभोक्ता तक पहुँचाने के लिए कला सर्जनात्मकता से विज्ञापन नीति का उपयोग किया जाता है।¹⁰ चित्र संख्या 6 में देखें।

7. TV Commercial Campaign - Surf Excel

टीवी विज्ञापन जिसे प्रायः टीवी कमर्शियल विज्ञापन या 'एड फिल्म' कहा जाता है। संदेश पहुँचाने वाले किसी संगठन द्वारा किए गए भुगतान के तहत उसके लिए निर्मित टीवी कार्यक्रम का एक विविध रूप है। आजकल अधिकतर टीवी विज्ञापनों में संक्षिप्त विज्ञापन शामिल होते हैं, जो कुछ सैंकण्ड के या अधिकतम मिनट के होते हैं। टीवी विज्ञापन द्वारा तरह-तरह के उत्पादों, सेवाओं और विचारों को बढ़ावा दिया जाता है।

प्रथम टीवी प्रसारण 1 जुलाई 1941 को अमेरिका में शुरू हुआ। 'सर्फ एक्सल' सन् 1948 में पाकिस्तान में शुरू हुआ और 1959 में भारत में पहली बार 'डिटर्जेंट पाउडर' के रूप में प्रारम्भ हुआ। सर्फ एक्सल ने 'दाग अच्छे होते हैं' नीति पर अध्ययन किया एवं 'दाग अच्छे होते हैं' यह 'टैगलाईन' प्रसिद्ध हुई। 'सर्फ एक्सल' के विज्ञापन में 50: पानी की खपत कम और समय की बचत को दिखाया है, जो जनता के लिए भारत में तीव्र पानी की कमी को देखते हुए यह एक महत्वपूर्ण लाभ है। जिसको विज्ञापन की भाषा में CSR (Corporate Social Responsibility) Advertising कहा जाता है।¹¹ TV विज्ञापन द्वारा इस कम्पनी ने बहुत अधिक लाभ कमाया है। सन् 2005 में शुरू यह 'कैम्पेन' इतना मजबूत रहा की बच्चों के मन में दाग को बुरा समझने की सोच बदल गयी, इस जट विज्ञापन में 'दाग अच्छे हैं' के जरिये बच्चों को चैपियंस बनाना सिखाते हैं, बच्चा अपनी टीचर को खुश करने के लिए कुत्ता बन जाता है एवं वह एक दोस्त की खुशी के लिए कीचड़ में कूद जाता है। इस TV विज्ञापन के जरिये लोगो में एक अलग सोच पैदा हुयी। इस

ब्राण्ड के जट विज्ञापन बहुत अधिक प्रभावशाली रहे हैं और लोगो के दिलों में अपने उत्पाद की छाप छोड़ी है, जो कला सर्जनात्मकता विचार का सफल परिणाम है।¹² चित्र संख्या 7 में देखे।

8. Sales Promotions - Suzuki Bike

यह बिक्री अभिवृद्धि सम्बन्धित गतिविधि है, जो विपणन और व्यक्तिगत बिक्री दोनो को बढ़ाती है। बिक्री अभिवृद्धि एक प्रत्यक्ष प्रलोभन है, इसका उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से उत्पाद खरीदने के लिए दिये गये प्रस्ताव एवं बिक्री बढ़ाना है। बिक्री अभिवृद्धि गतिविधियों को वितरकों और विक्रेताओं द्वारा उत्पाद बेचने के लिए प्रोत्साहित करने और बिक्री प्रक्रिया को गति प्रदान करने के लिए अभिकल्पित किया जाता है। सुजुकी मोटर लिमिटेड का निर्माण जापान में हुआ है। सुजुकी कारों को पिछले 3 दशकों से भारत की जनता प्रयोग में ले रही है और इस कम्पनी द्वारा दोपहिया वाहन कुछ सालों पहले ही अस्तित्व में आये हैं।¹³

त्यौहार नवरात्रा के अवसर पर सुजुकी ने अपनी 'एक्सचेंज स्कीम' प्रस्तुत की एवं अपनी नई मोटरसाईकिल को बढ़ावा देने के लिए फिल्म स्टार सलमान खान के साथ समझौता किया और अपनी ब्राण्ड की इमेज को बढ़ावा दिया। सुजुकी के भारत में उपलब्ध 11 'बाइक मॉडल' हैं। इसके विज्ञापन 'वे ऑफ लाइफ' जीवन का अपना तरीका 'हेड लाइन' के जरिये भारतीय लोगो के मन में खुशी व एकता को दर्शाते रहे हैं। आज सुजुकी दुनिया के सबसे बड़े वाहन निर्माताओं की प्रतिस्पर्धा में नवें स्थान पर है। विशेष ऑफर देने का मतलब है, कि अपनी कम्पनी के नये उत्पाद की बिक्री को बढ़ाना, ताकि उपभोक्ता ऑफर के द्वारा कम्पनी से जुड़े, कम्पनी की इमेज बढ़े और कम्पनी को लाभ हो। अतः विशेष अवसर पर ऑफर देने से लाभ अधिक मिलता है। चित्र संख्या 8 में देखे।

इस प्रकार विज्ञापन के सभी चरणों में कला सर्जनात्मकता का महत्वपूर्ण योगदान है। क्योंकि विज्ञापनकर्ता को अपनी बिक्री अभिवृद्धि को बढ़ाने के लिए एवं अपनी छवि बनाये रखने के लिए उपभोक्ता के सामने हर बार नवीन कला सर्जन प्रस्तुत करना पड़ता है।

संदर्भ ग्रन्थ :-

1. लेख : यू ही नहीं चले ग्राहक, प .सं. 15, मी नेक्सअट, मार्च 2013, राजस्थान पत्रिका।
2. लेख: डी.वी.आर. से डरते विज्ञापन, प .सं. 3, मी नेक्सअट, अगस्त 4, 2012, राजस्थान पत्रिका।
3. पूजा र्मा : लेख-दुनिया का सबसे रचनात्मक पेशा एडवरटाइजिंग, पृ.सं. 15,(भास्कर लक्ष्य) सितम्बर, 2012।
4. लेख : प्रचार नहीं स्मार्ट डवरटाइजिंग, प .सं. 3, मी नेक्सअट, 5 मई 2013, राजस्थान पत्रिका।
5. एन.रघुरामन : मैनेजमेंट फण्डा, प .सं. 19, 15 अप्रैल 2014, सिटी भास्कर।



प= 1 ङ; क 1 ढसु . . म्पुयम दक ङककु



प= 1 ङ; क 2 ङम 1 हल दक म्पुहद



प= 1 ङ; क 3 म्पुह 1 - त ङ वु दक ङककु



प= 1 ङ; क 4 ङाडक दमि ङकु, ङुडड ३ ङ अ



प= 1 ङ; क 5 म्पुडक दक ङककु



प= 1 ङ; क 6 म्पुडक दक ङककु



चित्र संख्या. 7 'सर्फ एक्सल' का टी वी विज्ञापन



चित्र संख्या. 8 'सुजुकी' बिक्री अभिवृद्धि विज्ञापन

अमनदीप कौर
शोधार्थी, चित्रकला विभाग
पेसेफिक यूनिवर्सिटी,
उदयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

जयपुर की समसामयिक महिला चित्रकार डॉ. रेखा भटनागर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

बीकानेर में जन्मी, उदयपुर में शिक्षा ली और जयपुर में बसी रेखा आज देश ही में नहीं विदेशों में भी प्रसिद्ध चित्रकार के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। वर्तमान में आप केवल भारत के ही नहीं, बल्कि अन्य देशों के छात्रों को भी चित्रकला का अध्यापन करा रही हैं। अब तक आपके सबसे अधिक चित्र जर्मनी में खरीदे गये हैं।

रेखा का जीवन परिचय और शिक्षण

रेखा का जन्म 27 अगस्त 1947 ई. को बीकानेर में हुआ। बाल्यकाल से ही कला में अधिक रुचि होने के कारण आपने चित्रकला में अध्ययन करना शुरू किया। बचपन में जब सब बच्चे खेलने में मगन होते थे तो उस समय आपका रुझान चित्रकला की ओर था और खेलने में कोई रुचि नहीं थी। आपने 1966 में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से बी.ए. और 1968 में उदयपुर विश्वविद्यालय से ड्राइंग एण्ड पेन्टिंग में एम.ए. किया। इसी वर्ष आपने इटालियन फेस्को, फेस्को ब्यौनो व टेम्परा पद्धति में वनस्थली विद्यापीठ से प्रशिक्षण प्राप्त किया जिसमें आपको कोर्स सर्टिफिकेट दिया गया। 1989 में आपने वाचस्पति की उपाधि रा. जस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से प्राप्त की।

कला की अनवरत साधना

आपने पढ़ते व पढ़ाते समय भी कला की कूची का अध्ययन जारी रखा। आपने देश में ही नहीं बल्कि विदेशों में भी कई प्रदर्शनियाँ लगाईं। आपने भित्ति चित्र भी बनाए। सन् 1972 से 1973 तक और 1984 में खासाकोटी होटल, जयपुर “आसमान” के लिए मीनू कार्ड भी बनाये। 1985 में आपने कई प्रोजेक्ट भी तैयार किये। कड़ी मेहनत से “रणथम्भौर और आमेर” की इतिहास परियोजनाओं पर कार्य किया। रेखा कहती हैं— “मैं आगे बढ़ना चाहती थी और मैंने पीछे मुड़कर कभी नहीं देखा कि कहाँ क्या हो रहा है।”

पुरस्कारों से सम्मानित

* 1969 – ग्राफिक्स में पुरस्कृत, राज्य ललित कला अकादमी, 11वीं कला प्रदर्शनी।

* 2004 – समाज रत्न पुरस्कार, राजस्थान जन मंच, जयपुर।

रेखा भटनागर की कृतियों की विषयवस्तुगत तथा शैलीगत विशेषताएँ

रेखा ने अपनी कृतियों में शीट (कागज) पर ज्यादा चित्रण किया है। फ्री शीट पर चारकोल, पैस्टल एवं जलरंग से कार्य किया। आपको टेक्सचर अधिक प्रिय है। कैनवास पर अब तक आपने फूलों को ही चित्रित किया। आपको अल्पना व मांडना पसन्द रहा है। उनमें बनने वाले डिजाइन को आपने अपने कई चित्रों में बनाया है। आपने ऐचिंग, वुड प्रिंटिंग (छापा चित्रण) में भी कार्य किया। रेखा कहती है “मेरे चित्रों में, मैं घटी हुई घटनाओं को ही व्यक्त करती हूँ।”

रेखा ने अनेकाअनेक एकल एवं सामूहिक प्रदर्शनियाँ लगाई

- * 1968 – “राजस्थान की कला मौजूदा रूझान” जवाहर कला केन्द्र द्वारा आयोजित एक यात्रा प्रदर्शनी।
- * 1969 – राजस्थान ललित कला अकादमी की 11वीं वार्षिक प्रदर्शनी।
- * 1970 – गोपाल स्टेडियम, उदयपुर में राजस्थान के “टखमन-28” समूह की तीसरी प्रदर्शनी।
- * 1975 – राजस्थान ललित कला अकादमी, जयपुर द्वारा आयोजित ‘कला मेला’।
- * 1995 – 36वीं वार्षिक कला प्रदर्शनी, राजस्थान ललित कला अकादमी, जयपुर।
- * 1996 – समकालीन चित्रों की प्रदर्शनी “राशि आर्ट गैलरी” द्वारा आयोजित।
- * 1997 – बारबर आर्ट गैलरी, गुपील, ऑंटारियो, कनाडा।
- * 1997 – “भारतीय प्रेरणास्रोत” समूह कला प्रदर्शनी “हरबोउर फरन्ट सेन्टर टोरंटो, कनाडा” 50वें साल का स्वतंत्रता समारोह।
- * 2001 – राजपूताना शेरेटन होटल, जयपुर।
- * 2004 – 74वीं वार्षिक अखिल भारतीय प्रदर्शनी। आई फेक्स, दिल्ली और राजस्थान ललित कला अकादमी, जयपुर।

- * 2006 – “राजस्थान की महिला कलाकार” जवाहर कला केन्द्र, जयपुर।
- * 2007 – “राजस्थान की कला मौजूदा रूझान” जवाहर कला केन्द्र द्वारा आयोजित एक यात्रा प्रदर्शिनी।

संग्रहों में कार्य

आपके कार्य जनजातीय अनुसंधान केन्द्र, जयपुर में; एन.सी.सी. कार्यालय, जयपुर में; राजस्थान ललित कला अकादमी जयपुर में; भारत और विदेशों के विभिन्न निजी संग्रहों में; एवं राज्य संसाधन केन्द्र, राजस्थान, जयपुर में संग्रहीत है।

रेखा भटनागर एक अच्छी लेखिका

रेखा एक अच्छी चित्रकार होने के साथ ही एक अच्छी लेखिका भी हैं। आपने “उदयपुर क्षेत्र के लोक चित्रों” पर शोध कार्य किया; सन् 1999 में आपने सोना देवी सेठिया कॉलेज, सुजानगढ के लिए संगोष्ठी और कार्यशाला पर लेख लिखे; 1988 में “लोक कला में होली के रंग” नवभारत टाइम्स, जयपुर के लिए लेख लिखा; 1998 में “राजस्थान की ग्रामीण चित्रकला पर लेख व त्रैमासिक कला पत्रिका के लिए भी कई लेख लिखे; 1995 में “सुजस जनसंपर्क” पत्रिका में भी “लोक विश्वास में आस्था के रंग” लेख लिखा; “जयपुर के लोक माड़ना” पर सन् 1992-93 में लेख लिखे; 1997 में “सुंदर रंग भावना से प्रेरित रचनायें” लेख “सुजस जनसंपर्क” में छपा।

ब्याख्यान / सेमिनार

आपने प्रदर्शनियों एवं प्रोजेक्ट कार्यो के अलावा कई ब्याख्यान एवं सेमिनारों में भाग लिया। जिनमें 1986-1995 तक जवाहर कला केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, राज्य ललित कला अकादमी, जयपुर कनोडिया कॉलेज, जयपुर आदि में। 2001, 2004, 2005, 2006, 2007 में भी आपने अनेकों सेमिनारों का आयोजन किया।

अच्छी अध्यापिका

रेखा भटनागर सन् 1968 में सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर में चित्रकला की प्रवक्ता के पद पर नियुक्त हो गई थी। यहाँ आप 2 साल तक (1968 से 1970 तक) रही। 1970 से 2007 तक आप कनोडिया पी.जी. महिला महाविद्यालय, जयपुर में चित्रकला की वरिष्ठ प्रोफेसर रही। आपने महिला पोलोटेक्निक कॉलेज में एम.एन. आई.टी. विभाग में वास्तुकला डिजाइन सिखाया। आपने दो साल तक विश्वविद्यालय परीक्षाओं के लिए केन्द्र अधीक्षक के रूप में कार्य किया।

प्रमुख चित्र

पेस्टल रंगों से बने चित्र 'काली आंधी'; 'कलस्टर ऑफ हट्स'; 'चारा बेचने वाली', 'प्रकृति चित्र'; 'राजस्थान की महिलाएं'; 'लैडस्केप ऑफ उदयपुर'; 'राजस्थान की सीरीज' (गोल्ड ऑफ राजस्थान); 'वरमीलयन ऑफ नाईट'; 'चित्तौड़गढ़'; 'मौर'; 'महासतियाँ'; 'सनरसट'; 'इन्बेडीड इन स्टोन'।

चारकोल से बने चित्रों में 'कमल कुण्ड'; 'सेन्स ऑफ डिजाईन'; 'पानी-कमल-बुद्ध और मैं'; 'आम का पेड़'; 'आंधी'; 'छः भाई बहन'; 'पोनड', 'मेमोरी ऑफ चिलडोड'। आपने जलरंगों से भी प्रकृति चित्रण किया जिनमें 'चित्तौड़गढ़'; 'बूंदी'; 'उदयपुर'; 'कश्मीर'; 'मांडू'; 'सामोद'; 'अलमोडा' आदि शहरों के प्रकृति चित्र बनाये।

रेखा भटनागर के चित्रों की समीक्षा

चित्र "मोर" को रेखा ने पेस्टल रंगों से बनाया। जिसमें मोर को पंख फैलाए हुए चित्रित किया गया है। मोर को हरे व नीले रंग से चित्र के मध्य में खड़ा किया गया उसके पंखों की बाहरी तरफ नीले व हरे रंग से बाह्य रेखा खींची गई है। मोर के पंखों में अल्पना एवं मांडनों की तरह बारीक-बारीक डिजाइन बनाए गए हैं। कहीं साथीया तो कहीं मोर के पंखों पर पत्तों को ही चित्रित किया गया है। मोर की टांगें काफी लम्बी बनाई गई हैं। चित्र के पीछे का हिस्सा पीले रंग का है, जिसमें कहीं-कहीं लाल और हरा रंग लगाया है। यह चित्र आपने सन् 2002 में डॉ. बेकर के कहने पर बनाया उन्होंने कहा कि "आपके राजस्थान में इतने मोर हैं, आप उनको चित्रित करो।" यह चित्र बाद में डॉ. बेकर जो जर्मनी के रहने वाले हैं उन्हीं ने खरीद लिया था। (चित्र-1)

"महासतियाँ" चित्र में 8 गुम्बदों को चित्रित किया गया है। चित्र के एक कोने में सीडियाँ बनाई हैं व चित्र के बाईं तरफ एक स्त्री खड़ी है, तो पुरुष दीवार का सहारा लिए खड़ा है और स्त्री पुरुष का सहारा लिए खड़ी है। पुरुष के सिर पर पगड़ी व स्त्री के सिर पर दुपट्टा है। दोनों को घुटनों तक ही चित्रित किया गया है। गुम्बदों को अनेक रंगों में चित्रित किया गया। गुम्बदों के नीचे एक छोटा सा दरवाजा बनाया गया और पास में दो स्तम्भों को चित्रित किया गया। चित्र में पीले व हरे रंग का प्रयोग अधिक किया गया। यह चित्र 1994 में पेस्टल रंगों से बनाया गया। (चित्र-2)

रेखा का चित्र "आम का पेड़" चारकोल से बना है। इस चित्र को आपने कई भागों में बांट कर चित्रित किया। चित्र के बाएं तरफ ऊपर एक स्त्री को चित्रित किया गया जिसका बायां हाथ उसके माथे पर है और दायें हाथ से उसने अपना

घाघरा पकड़ रखा है। उसे देखकर प्रतीत होता है कि वो किसी को दूर से देखने का प्रयास कर रही है। स्त्री, सिर पर दुपट्टा, माथे पर बिन्दी, हाथों में कंगन, गले में हार पहने चित्रित है। चित्र के दाएं तरफ ऊपर तो चांद और चांद के ठीक नीचे आम का पेड़ बनाया गया जिस पर सात आम लगे हुए हैं। नीचे कुछ जड़े दिखाई हैं। चित्र के सबसे नीचे के हिस्से में अल्पना, मांडना की तरह बारीक-बारीक चित्रण किया गया है व एक भाग को काले रंग का रखा गया। (चित्र-3)

“मैमोरी ऑफ चिल्डोड” यह चित्र सन् 2001 में चारकोल से बनाया गया। इस चित्र में दूर हल्के-हल्के पहाड़ और उसके पास बड़ी-बड़ी झाड़ियाँ दिखाई गई है। दो बड़े-बड़े पत्थर हैं जिनमें एक पर तो चौकोर डिब्बे की तरह लाईनें बनाई गई और दूसरे पर अल्पना-मांडना की तरह बारीक-बारीक डिजाइन बनाए हैं। पास में एक लम्बी चोटी वाली लड़की खड़ी है और उसके बगल में एक लड़का। पत्थरों के नीचे लहरदार रेखाएं खिंची गई हैं। लड़के और लड़की को बिल्कुल काले रंग



(चित्र-1)



(चित्र-2)



(चित्र-3)

प्रेमलता परिहार
शोधार्थी, चित्रकला विभाग
राज.वि.वि., जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

“भारतीय मूर्तिकला में यक्ष—यक्षी अवधारणा”

भारतीय संस्कृति एवं धर्म का प्रमुख आधार प्राचीन भारतीय ग्रंथ, वेद, उपनिषद, पुराण व साहित्य आदि तात्कालिक परिवेश के प्रमुख स्रोत हैं। जिनसे हमें प्राचीन भारतीय समाज में प्रचलित धर्म, संस्कृति, कला, विभिन्न देवी—देवताओं व अन्य अमानवी शक्तियों की अवधारणाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। इन विभिन्न अमानवी रूपों में ‘यक्षों’ का भी उल्लेख है जो उनके तात्कालिक धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक व कलात्मक महत्त्व को परिलक्षित करते हैं। साथ ही भारतीय कला के क्रमिक विकास में (चित्रकला व मूर्तिकला) प्राप्त साक्ष्य इनके कलात्मक महत्त्व की पुष्टि करते हैं।

वास्तव में ‘यक्ष’ एक प्रकार का पौराणिक चरित्र है। आनन्द कुमार स्वामी, दलवाली पुसें, वासुदेव शरण अग्रवाल, जे.पी.एच. फोगल, एच. जैकोबी, अरुण जी, जेम्स फर्गुसन, जीमर तथा डी.डी. कोसाम्बी आदि विद्वानों ने इसका उल्लेख किया है। इनमें आनन्द कुमार स्वामी का ग्रन्थ ‘यक्षज’ विशेष उल्लेखनीय है। कुमार स्वामी फर्गुसन के इस मत में विश्वास करते थे कि यक्षों और नागों की उपासना, जो उर्वरता और वृष्टि की शक्तियों का दैवीकरण थे, भारत की आर्येतर जातियों में प्रचलित थी। उनका कहना था कि हिन्दू धर्म के अनेक मूल तत्त्व प्रारंभिक वैदिक साहित्य में नहीं मिलते। सर्वप्रथम ब्राह्मणों और उपनिषदों में संसारवाद, कर्मवाद और भक्ति आदि अवधारणाओं का आर्विभाव हुआ। यही बात असंख्य देवी—देवताओं एवं यक्षों पर लागू होती है।¹

इसी दिशा में अरुण जी का ग्रन्थ ‘यक्षों की भारत को देन’ भी यक्षों के इतिहास को नई दिशा प्रदान करता है। अरुण जी ने यक्षों को प्राचीन भारत की एक प्रमुख जाति एवं विशिष्ट यक्षों को लोक पूजित देवता माना है।² ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाए तो प्राचीन ग्रंथों से यक्षों के अनेक पक्षों का ज्ञान प्राप्त होता है। कुछ प्राचीन ग्रंथों में कहा गया है कि यक्षों को कश्यप ने उपासना के लिए उत्पन्न किया था। कुछ अन्य ग्रन्थों के अनुसार वे प्रचेता के पुत्र थे। पद्यपुराण के अनुसार उन्हें ब्रह्मा ने अपनी मनः सामर्थ्य से उत्पन्न किया था। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में

कहा गया है कि ब्रह्मा से उत्पन्न होने पर यक्षों ने जल को क्षीण करने की चेष्टा की थी इसलिये वे यक्ष कहलाये। विष्णुपुराण में यक्षों को प्रजापति से उत्पन्न माना गया है।³ इसी संदर्भ में विष्णुपुराण में एक प्रसंग है जब ब्रह्मा ने अंधकार में स्थित होकर क्षुधाग्रस्त सृष्टि की रचना की, उसी के अंतर्गत यक्ष तथा राक्षसों की उत्पत्ति हुई। उत्पत्ति के समय ये सभी समान थे परन्तु उत्पन्न होते ही यक्ष व राक्षस सब ब्रह्मा जी को खाने के लिए दौड़े। उनमें से कुछ बोल पड़े “रक्षा करो, रक्षा करो” तो वे राक्षस कहलाये और जिन्होंने कहा कि “हम भक्षण करेंगे” वे यक्ष कहलाये।⁴ अतः यक्षों व राक्षसों को परस्पर संबंधित माना गया है।

यक्षों की उत्पत्ति के समान ही ‘यक्ष’ शब्द की व्युत्पत्ति भी अनिश्चित है। ‘यक्ष’ शब्द का प्रयोग ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में अनेकत्र मिलता है जिसका अर्थ कुछ भयानक या अद्भुत है, जादूगर या दैविक बर्बर शत्रु। विष्णुपुराण की आठ देवयोनियों में ‘यक्ष’ भी एक हैं।⁵ यक्ष शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है “जादू की शक्ति”। दूसरी ओर ‘यक्ष’ शब्द का एक पर्याय ‘राज’ है। जिससे अरुण जी ने अनुमान किया है कि कदाचित् राजयोग या राजविद्या का अर्थ राजाओं का ज्ञान नहीं, यक्षों का ज्ञान है। “गीता” में इस विद्या का जनक ब्रह्मा को बताये जाने से इस अनुमान का समर्थन होता है क्योंकि ‘यक्ष’ शब्द का एक पर्याय ‘ब्रह्म’ है। अंग्रेजी भाषा में ‘यक्ष’ का पर्यायवाची शब्द नहीं मिलता है। जबकि पालि में ‘यक्ख’ तथा प्राकृत में ‘जक्ख’ को यक्ष का पर्याय माना गया है। श्रीमती रीज डेविडस के अनुसार— ‘यक्ष’ शब्द का निकटतम पर्याय ‘जिन’ है।⁶

कुमार स्वामी के अनुसार ‘यक्ष’ शब्द का सम्बन्ध ‘अथर्ववेद’ में उल्लिखित ‘यक्ष्म’ ज्वर से हो सकता है और यह भी संभव है कि ‘यक्ष’ शब्द और यक्षों की कल्पना दोनों ही आर्येत्तर हो। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में ‘यक्ष’ शब्द का आधार ‘क्षी’ धातु को माना गया है। जिसका अर्थ ‘क्षीण करना’ या ‘विनाश करना’ है। ‘यक्ष’ शब्द की उत्पत्ति व विभिन्न पर्याय प्राचीनकाल में प्रचलित थे जिनकी विभिन्नता के कारण ‘यक्ष’ शब्द की उत्पत्ति के संदर्भ में एक मत होना कठिन प्रतीत होता है।

पतंजलि ने अपने ‘महाभाष्य’ में गुह्यकपति वैश्रवण का कई बार उल्लेख किया है। वह उसे शिव के साथ लौकिक देवताओं की कोटि में रखते हैं और पिशाचों को उसका गण बताते हैं। पिशाचों से पतंजली का आशय स्पष्टतः यक्षों से है।⁷

यक्षों से संबंधित अतुलनीय ज्ञान हमें बौद्ध व जैन साहित्यों से प्राप्त होता है। बौद्ध धर्म में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के यक्ष माने गये हैं। ‘दीघनिकाय’ के ‘आटानाटीय सुत्त’ में यक्षों के राजा वेस्सवण बुद्ध को बताते हैं कि यक्ष प्रायः बुद्ध

और उनके धम्म को नहीं मानते। बुद्ध के उपदेश लोगों को पाप कर्म से बचने का आग्रह करते हैं इसलिए वे यक्षों को प्रिय नहीं हैं। कुछ यक्ष बौद्ध भिक्षुओं को कष्ट देते हैं परन्तु महायक्ष सद्धर्म में सहायता करते हैं और दुष्टात्मा यक्षों पर अंकुश लगाते हैं। वेस्सवण ने इन्द्र, सोम, वरुण, प्रजापति, मणिभद्र व आडवक इन सभी को यक्ष बताया है।⁸

बौद्ध साहित्य में लगभग सभी हिन्दू देवताओं को कहीं न कहीं 'यक्ष' कह दिया गया है। और वहाँ इस शब्द का प्रयोग सम्मानजनक अर्थ में हुआ है। बौद्ध साहित्य में मार (कामदेव) को भी यक्ष बताया गया है।⁹ 'महावस्तु' ग्रंथ के अनुसार मार यक्षों के साथ अनेक गणों का पूज्य था। बौद्ध धर्मानुयाईयों के अनुसार यक्ष कच्चा माँस खाते थे। वे बौद्धों की हत्या करते थे। सब प्रकार से भयानक माने जाने पर भी ब्राह्मणों के साहित्य में यक्षों को इतना बुरा नहीं कहा गया है। एक समय में बौद्धों द्वारा यक्षों की गणना राक्षसों के साथ की जाने लगी थी।¹⁰ इसके बावजूद बौद्ध साहित्य में ऐसे भी संकेत उपलब्ध हैं जिनमें यक्षों की गरिमा और मानवों की प्रति उनकी कृपा तथा मनुष्यों का उनके प्रति भक्तिभाव भी दृष्टिगत है। जिनका स्पष्ट उदाहरण मध्यकालीन भारतीय मंदिरों में उत्कीर्ण मूर्तियों में मिलता है।

बौद्ध साहित्य की भांति जैन साहित्य में भी यक्षों का विशेष विवरण मिलता है। जैन साहित्यों में 24 तीर्थकरों के पश्चात् जैन देवकुल में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान यक्ष एवं यक्षियों को प्राप्त हुआ है। ये यक्ष-यक्षियाँ तीर्थकरों के उपासक या शासक देवता के रूप में संघ की रक्षा करते थे। जिनों के साथ इनको सम्बद्ध करने की धारणा लगभग छठी शती ई. में विकसित हुई थी।¹¹ पांचवी शताब्दी के अन्त तक जैन देवमण्डल में जैन तीर्थकरों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के देवी-देवताओं, यक्ष-यक्षियों, विद्याओं, नैगमेषी, शलाकापुरुष, सरस्वती, लक्ष्मी, कृष्ण, बलराम व राम आदि को सम्मिलित कर उनकी सामान्य विशेषताओं को निश्चित कर दिया गया था जिनका विस्तृत उल्लेख आठवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य रचित जैन ग्रन्थों में मिलता है।¹²

भारतीय चित्रकला व मूर्तिकला में मुख्यतया जैन धर्म की जिन प्रतिमाओं के साथ एक यक्ष व एक यक्षी को अंकित करने की परम्परा बन गयी जो वर्तमान तक प्रचलित है। जैन चित्रित ग्रंथों व उत्कीर्ण मूर्तियों, जो आज अनेक संग्रहालयों में संरक्षित हैं, में यक्ष-यक्षियों का अंकन मिलता है जिससे उनके प्राचीन भारत में पूजित होने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। अरुण जी के मतानुसार किसी समय भारतीय समाज में यक्ष पूजा बहुप्रचलित थी और इसके साथ एक विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा भी जुड़ी थी।

कालान्तर में बौद्ध व जैन धर्म में यक्षों को देवसमूह में स्थान दिया गया है जिनमें बहुत से हिन्दू पुराकथाओं से अपनाये गए देवी-देवता भी थे। जबकि अन्य सम्प्रदायों में यक्ष पूजा को घोर विरोध का सामना करना पड़ा। ऋग्वेद काल में अनेक वैदिक ऋषि यक्षों के विरोधी बताये गये हैं। यहाँ तक कि जैन व बौद्धों में भी ‘दुष्ट’ यक्षों की पूजा का विरोध किया गया। ब्राह्मण साहित्य में भी हर देवता को किसी न किसी प्रसंग में यक्ष कहकर गौरवान्वित किया गया है। जहाँ एक ओर ‘महाभारत’ में विष्णु के साथ कुबेर को भी ‘भागवत’ कहा गया है, वहीं कुछ उपनिषदों में तो स्वयं ब्रह्म को भी यक्ष बता दिया गया है।¹³ यह भी मान्यता है कि गणेश जी की प्रारंभिक मूर्तियाँ यक्ष रूप में ही प्राप्त हुई थी।

ब्राह्मण सम्प्रदायों ने किस प्रकार यक्ष पूजा को अपने सांचे में ढाला इसका एक उत्तम उदाहरण ‘मत्स्यपुराण’ (अध्याय-180) में प्रदत्त हरिकेश यक्ष की कथा है। जिसमें वह अपने पिता पूर्णभद्र यक्ष के क्रोध की परवाह न करके शिव की आराधना करता है और नित्य काशीवास का वरदान पाता है। इसी पुराण के अध्याय-183 में बहुत से यक्षों को शिवगणों में गिनाया गया है। इन तथ्यों से संकेतित है कि किसी समय काशी में यक्ष और शिवपूजा में संघर्ष चला था जिसमें शिवपूजा को विजय मिली। हरिकेश यक्ष आजकल हरसू ब्रह्म नाम से पूजित है तथा अन्य यक्ष शिव के गणों में सम्मिलित कर लिए गए।¹⁴

महाभारत में मुन्जवट तथा राजगृह में दूर-दूर तक प्रसिद्ध यक्षिणी मंदिरों का उल्लेख है। जहाँ प्रतिदिन पूजा होती थी। जिसमें राजगृह की यक्षी ‘जरा’ का नाम उल्लेखनीय है। लगभग तीसरी शती ई. में रचित बौद्ध ग्रंथ ‘महामयूरी’ में विभिन्न स्थलों पर पूजित यक्षों की एक लम्बी सूची दी गई है जिससे स्पष्ट है कि यक्ष पूजा केवल भारत ही नहीं वरन अफगानिस्तान और ईरान से लेकर पूर्व में बंगाल तथा दक्षिण में सिंहल तक प्रचलित थी।¹⁵

‘यक्ष’ वृक्ष देवता भी कहे गये हैं। द्रविड़ तथा सुमेर में वृक्षों से संतान कामना की जाती थी। ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में बौद्ध समाज में यक्ष पूजा के प्रचलन के प्रमाण भरहुत के प्राचीन स्तूप से प्राप्त यक्ष-यक्षी मूर्तियों से भी प्राप्त है। बनारस में भी शुंग युग तक यक्षों की पूजा के प्रमाण मिलते हैं। एक ओर प्राचीन काल में यक्ष पूजा के प्रमाण प्राप्त हैं वहीं दूसरी ओर आज भी इनकी पूजा बंगाल से गुजरात, सिंध, बिलोचिस्तान तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक वीर ब्रह्म के रूप में प्रसिद्ध है।

भारतीय मूर्तिकला के क्रमिक विकास में यक्ष-यक्षियों के अनेक मूर्त प्रमाण प्र.

पत्त है जो आज विश्व के विविध संग्रहालयों में संरक्षित है। जो तात्कालिक परिवेश का मूर्त उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जब से मनुष्य ने मूर्ति पूजा प्रारंभ की, तभी से उसने असंख्य देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण प्रारंभ किया। मूर्तिकला के इसी विकास क्रम में यक्ष-यक्षियों की मूर्तियों का भी निर्माण हुआ। किसी भी ठोस धातु पत्थर को उसकी प्रकृति के अनुसार गढ़कर, खोदकर, उभारकर, कोरकर, पीटकर व ढालकर इच्छित त्रिआयामी रूप देकर मूर्ति का निर्माण किया जाता है।

भारतीय मूर्तिकला के सबसे प्राचीन प्रमाण सिन्धुकाल से प्राप्त होते हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता से प्राप्त उत्कीर्ण मोहरों पर कुछ ऐसे दृश्याकन हैं, जिनसे तत्कालीन यक्ष पूजा का संकेत मिलता है। हालांकि यक्ष-यक्षियों की व्याख्या प्राचीन ग्रन्थों में इससे भी पूर्व समय से प्राप्त है किन्तु इनकी मूर्तियों के प्रत्यक्ष उदाहरण मौर्यकाल से प्राप्त होते हैं। मौर्यकाल में यक्ष-यक्षियों की मूर्तियों का निर्माण प्रमुखता से हुआ। जो मथुरा से ओडिसा, वाराणसी से विदिशा और पाटलिपुत्र के शूपरिक तक विस्तृत क्षेत्र में पाई जाती है।

पत्थर से निर्मित ये विशाल आदमकद मूर्तियाँ चारों ओर से काटकर बनाई गई हैं। यक्ष प्रतिमाओं में मथुरा जिले के परखम ग्राम व बरोद ग्राम से प्राप्त यक्ष मूर्तियाँ, भरतपुर में नोह ग्राम से प्राप्त यक्ष की मूर्ति, प्राचीन वाराणसी के राजघाट स्थान से प्राप्त त्रिमुख यक्ष की मूर्ति (जो वर्तमान में भारत कला भवन, वाराणसी में संरक्षित है।), कुरुक्षेत्र में अमीन तथा उड़ीसा के शिशुपालगढ से प्राप्त यक्ष मूर्तियाँ प्रमुख हैं। इनके अलावा ग्वालियर से प्राप्त मणिभद्र यक्ष की मूर्ति व पटना से प्राप्त एक यक्ष मूर्ति (जो वर्तमान में पटना संग्रहालय में संरक्षित है।) भी मौर्यकालीन यक्ष मूर्तियों के उत्तम उदाहरण हैं। यक्षियों की मूर्तियों में सबसे प्रसिद्ध पटना शहर में दीदारगंज से प्राप्त 'चामर धारिणी यक्षी प्रतिमा' है जो यक्षी प्रतिमाओं का सुंदर, संजीव और नारी सौंदर्य का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करती है। यह मूर्ति वर्तमान में पटना संग्रहालय में संरक्षित है। इसके अतिरिक्त मथुरा के झींग-का-नगला गांव से प्राप्त मनसा देवी यक्षी, वेसनगर (मध्यप्रदेश) से प्राप्त यक्षी प्रतिमा, मेहरौली से प्राप्त यक्षी, पटना जिले से प्राप्त दोमुँही यक्षी प्रतिमा भी मौर्यकालीन यक्षी प्रतिमाओं के उदाहरण प्रस्तुत करती है।¹⁶

शुंगकालीन स्तूप साँची व भरहुत में भी बुद्ध की जातक कथाओं के अतिरिक्त अनेक स्थानों पर यक्ष-यक्षियों का अंकन हुआ है। साँची के तोरणद्वारों पर स्तम्भों के नीचे दोनों ओर 'द्वारपाल यक्ष' उत्कीर्ण हैं। वहीं कुछ दृश्यों में यक्षों को दानवाकार आकृति वाला उत्कीर्ण किया गया है जो नाटे शरीर व मोटे पैरों वाले हैं उन्हें

‘कुभाण्ड’ कहा गया है और इन्होंने अपने हाथों में मालाएँ धारण कर रखी हैं। दूसरी ओर यक्षियों की सौंदर्यमयी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जिन्हें विभिन्न भाव-भंगिमाओं में प्रस्तुत किया गया है। इनमें केवल दाहिनी व पूर्वी तोरणद्वार पर ही यक्षी मूर्ति सुरक्षित रह सकी है। भरहुत से प्राप्त मूर्तियों में भी यक्ष-यक्षियों की अनेक मूर्तियाँ लेख और विन्यास के आधार पर पहचानी गयी हैं। यक्षियों में चद्रा, चूलाकोका, सुदसना, यक्षी और सुदर्शना आदि प्रमुख रूप से उत्कीर्ण हैं। जिन्हें समृद्धि की देवी माना गया है। वहीं यक्ष मूर्तियों में गगितोयख, सुप्रवास, यक्ष राज कुबेर, सुचिलोमा, आजकालक, विरुरढक आदि यक्ष भरहुत के स्तूप में उल्लेखनीय स्थान हैं।¹⁷

एक अन्य यक्ष-यक्षी की प्रतिमा रोपर-प्ट से प्राप्त हुई है जो शुंगकालीन है। (चित्र सं.-1)¹⁸ ग्यारहवीं-बारहवीं शती की उदयगिरी व खण्डगिरी की प्राचीन गुफाओं में प्राप्त जैन मूर्तियों में गुफा सं.-7 (नवमुनि गुफा) में तीर्थकर प्रतिमाओं के नीचे सात शासन देवीयों-चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रश्रृंखला, गांधारी, पदमावती और अम्बिका को सामान्य उभार के साथ उत्कीर्ण किया गया है। यहीं पर गुफा सं.-8 (बारभुजी गुफा) में 24 तीर्थकरों की प्रतिमाओं के साथ उनसे सम्बद्ध यक्षियों का सामूहिक चित्रण प्राप्त है।¹⁹

लगभग सातवीं-आठवीं शती ई. से जैन कला में जिन मूर्तियों में यक्ष व यक्षियों का अंकन आरम्भ हो गया था किन्तु नवीं शती ई. के बाद की जिन मूर्तियों में आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ व महावीर के साथ स्वतंत्र लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी युगलों का निरूपण भी होने लगा।

यक्ष-यक्षी युगल से युक्त प्राचीनतम जिन मूर्ति गुजरात के अकोटा से प्राप्त हुई है। यहाँ से प्राप्त ऋषभनाथ की प्रतिमा के साथ यक्ष के रूप में सर्वानुभूति या कुबेर तथा यक्षी के रूप में अम्बिका की मूर्ति उत्कीर्ण है। इसी प्रकार की स्वतंत्र लक्षणों वाली यक्ष-यक्षी युगलों की मूर्तियाँ देवगढ़, ग्यारसपुर, मथुरा, खजुराहो व राज्य संग्रहालय, लखनऊ में संरक्षित मूर्तियों में दिखाई देती हैं।²⁰ गुजरात के अकोटा से ही एक पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसमें मूर्ति के नीचे दांयी व बांयी ओर उनसे सम्बद्ध यक्ष-यक्षी की मूर्ति है। यह मूर्ति 640 ई. की है। (चित्र सं.-3)

जैसा कि पूर्व में उल्लिखित किया गया है भारतीय मूर्तिकला में गणपति की प्रारंभिक मूर्तियाँ यक्ष रूप में ही प्राप्त हुई हैं। यक्ष रूप में श्री गणेश का प्राचीनतम अंकन अमरावती स्तूप, आंध्रप्रदेश में उपलब्ध है। जो सातवाहन काल का है। जिसमें उनका सम्पूर्ण शरीर मानवाकार है जिसे सूंड तथा दांतों से रहित दिखलाया गया है। ऐसी ही एक अन्य मूर्ति श्रीलंका के मिहिनतले स्तूप से भी प्राप्त हुई है जिसमें उन्हें सूंड तथा दंतयुक्त बताया गया है।²¹

कृषाणकालीन कला में भी बुद्ध मूर्ति के साथ अनेक स्थानों पर यक्ष-यक्षियों का अंकन होता रहा तथा गुप्तकाल में भी बौद्ध, जैन व ब्राह्मण मूर्तियों के साथ कुबेर, हारीती आदि की मूर्तियाँ प्राप्त हुई। मध्ययुगीन भारतीय मंदिरों में खजुराहों में अनेक स्थानों पर यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ दृष्टव्य हैं। राजस्थान के आबानेरी में एक स्थान पर गजलक्ष्मी की मूर्ति है (चित्र सं.-2), जिन्हें गणपति व यक्षराज कुबेर के साथ बनाया गया है। इस मूर्ति के जैसी ही एक मूर्ति मध्यकाल की मथुरा म्यूजियम में संरक्षित है, जिसका वर्णन वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा यूनाइटेड प्रोविन्सेस हिस्टोरिकल सोसायटी, लखनऊ के एक जर्नल में किया गया है। इसी प्रकार एलोरा की गुफा सं.-32 में एक स्थान पर यक्षी की मूर्ति है। (चित्र सं.-4)

जैन मूर्तिकला में भी निर्मित जिन मूर्तियों में उनसे सम्बद्ध यक्ष-यक्षी की मूर्ति स्पष्टतया दृष्टिगत हो ही जाती है। प्राचीन काल से भारतीय मूर्तिकला जैसे-जैसे विकसित होती गयी, यक्ष-यक्षी मूर्तियों का भी विकास होता गया। इस क्रम अनेक यक्ष-यक्षी मूर्तियों का निर्माण हुआ। उपरोक्त वर्णित उदाहरणों के अतिरिक्त भारतीय मूर्तिकला में यक्ष-यक्षियों के ओर भी अनेक उदाहरण प्राप्त हैं, जो उनके महत्त्व और देव योनी में उनके स्थान को परिलक्षित करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. कुमार स्वामी, आनन्द : यक्षज, नई दिल्ली, 1980, पृ.सं.- 3
2. अरुण : यक्षों की भारत को देन, जोधपुर, 1990, पृ.सं.- गपपप
3. वही, पृ.सं.- गपअ
4. द्विवेदी, प्रेमशंकर, द्विवेदी, मनीष कुमार : भारतीय कला, साहित्य एवं संस्कृति, वाराणसी, 2010, पृ.सं.- 70
5. वही, पृ.सं.- 69
6. अरुण : यक्षों की भारत को देन, जोधपुर, 1990, पृ.सं.- गगअपपए गपपप
7. वही, पृ.सं.- गअपप
8. कुमार स्वामी, आनन्द : यक्षज, नई दिल्ली, 1980, पृ.सं.- 8
9. khosala, sarala : The historical evolution of the Buddha legend, Page no.- 72
10. कुमार स्वामी, आनन्द : यक्षज, नई दिल्ली, 1980, पृ.सं.-14
11. यादव, अवधेश : पूर्व मध्यकालीन जैन कला, वाराणसी, 2007, पृ.सं.- 115
12. तिवारी, मारुति नन्दन प्रसाद : जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, 1981, पृ.सं.-265
13. अरुण : यक्षों की भारत को देन, जोधपुर, 1990, पृ.सं.- गगपपपए गगपअ
14. वही, पृ.सं.- गगपपप
15. वही, पृ.सं.- गअपपपए गगए गगप
16. प्रताप, रीता : भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, जयपुर, 2009, पृ.सं.-456



चित्र संख्या – 1 “यक्षी एवं यक्ष”
शुंगकाल, रोपर – IV



चित्र संख्या – 2, “गज लक्ष्मी के साथ गणेश व कुबेर”, आबानेरी
19 x 26 इंच, आमेर म्यूजियम, जयपुर



चित्र संख्या - 3 "पार्श्वनाथ के साथ यक्ष एवं यक्षी"
अकोटा, गुजरात , 12.5 इंच, 640 ई.



चित्र संख्या - 4, "यक्षी"
गुफा संख्या - 32, ऐलोरा गुफा

डॉ.त्रिलोकी नाथ गौतम
प्राचार्य
श्री शिरडी साई बाबा पी.जी. महाविद्यालय,
किशनगढ़ – रेनवाल

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

भारतीय कला में आधुनिकता का दौर

कला के क्षेत्र में भारत की एक विशिष्ट पहचान शुरू से रही है। भारतीय कला का जो स्वरूप आज हमारे सामने है उसके पीछे सदियों का इतिहास और परम्परा मुख्य रही है। एक लम्बे अरसे तक अंधकार में समाई रही भारतीय कला में पाश्चात्य सम्पर्क से अनायास ही नव प्राणों का संचार दिखाई देता है। वस्तुतः यह वह समय था, जब ब्रिटिश साम्राज्य की नींव इस देश में जम चुकी थी। शिक्षा, कला, साहित्य तथा सामाजिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में अंग्रेजों का प्रभुत्व बढ़ रहा था। चित्रकला के क्षेत्र में परम्परागत भारतीय लघु चित्र शैली, मुगल शैली के स्थान पर कम्पनी शैली का प्रचार किया जाने लगा, जिससे कि भारतीय कला एवं संस्कृति का लोप हो सके। ऐसे में भारतीय कला समीक्षकों, कलाकारों का चिन्तित होना स्वाभाविक था। ऐसे ही लोगों द्वारा कला आन्दोलन की रूपरेखा बनाई गई। अंग्रेजी प्रभाव की यह लहर सर्वप्रथम बंगाल में आई और सन 1854 में ही अंग्रेजों द्वारा औद्योगिक कला सोसाइटी के तत्वावधान में कलकत्ता आर्ट स्कूल की स्थापना की गई। कला में रुचि रखने वाले शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग ने इस नये अध्याय को अपने हाथ में ले लिया, पर पाश्चात्य कला से यह सम्पर्क एक सीमा से आगे नहीं बढ़ सका। जागीरदारों, रजवाड़ों, राजाओं और बादशाहों के संरक्षण में, भिन्न-भिन्न अंचलों में अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं और भिन्नताओं को समेटे हुये यह कला बीसवीं सदी के उस निर्णायक मोड़ पर पहुंची जिसे हम भारतीय आधुनिक कला का शुरुआती दौर कह सकते हैं। आधुनिक कला के इस नवीन आंदोलन के सूत्रपात में थे— ई.वी. हैवेल, डॉ. आनंदकुमार स्वामी, ए.के. गांगुली, अवनीन्द्रनाथ टैगोर आदि।

कला के क्षेत्र में भारतीयता की परिकल्पना का प्रयास ब्रिटिश कलाविद् ई.वी. हैवेल ने किया जो उस समय (सन 1860) कलकत्ता आर्ट स्कूल के प्राचार्य बनकर आये थे। हैवेल भारतीय कला के वैचिष्य और विराट रूप के अधिक सन्निकट थे। उन्होंने सबसे पहले भारतीय कला परम्परा की श्रेष्ठता को पहचाना और तत्कालीन तरुण चित्रकारों की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति के विरुद्ध आवाज उठाई। उनका मानना

था कि पाश्चात्य शैली पर दी जा रही कला-शिक्षा से कोई लाभ नहीं होने वाला जबकि भारत का गौरवमय अतीत कला की समृद्धिशाली परम्परा का वाहक है और भविष्य भी मौलिक कलारूपों की प्रतिष्ठापना से उज्ज्वल हो सकता है। उन्होंने भारतीय धर्म और दर्शन का अध्ययन किया और उसी दृष्टिकोण से कला के विस्तार का विचार किया। उन्होंने गुप्तकालीन मूर्तियों के शारीरिक सौन्दर्य का अध्ययन कराया एवं अजन्ता, ऐलोरा के भित्ति चित्रों में कला और दर्शन के आदर्श तत्वों से भारतीय चित्रकारों को अवगत कराया। यहां से हैवेल ने भारतीय चित्रकारों को जो दृष्टि दी वह शुद्ध भारतीय थी।'

हैवेल की इस अवधारणा को मूर्तरूप देने का कार्य किया अवनीन्द्र नाथ टैगोर ने। अवनीन्द्र नाथ में न तो कल्पना का अभाव था और न ही मौलिक सूझबूझ का। उन्होंने प्राचीन और तत्कालीन भारतीय जीवन के भावनामय दृश्यों का चित्रण आरम्भ किया और मौलिक सर्जना द्वारा अभिव्यक्ति देने लगे। अवनीन्द्रनाथ ने प्राचीन चित्र परम्परा और तकनीकी साधनों को प्राप्त करने के लिए परम्परागत चित्रकारों को बुलाया। भारतीय कला के अध्ययन हेतु यह दल अजन्ता, बाघ तथा अन्य कला तीर्थों में भ्रमण करने गया जिससे इस दल के चित्रकारों ने अपने देश की कला का स्वरूप पहचाना। अवनीन्द्रनाथ ने अजन्ता का लयात्मक आकारीकरण, संवेदनाएँ एवं अनुभूतियों को अपना आधार बनाया। ये वाश पद्धति के द्वारा चित्र में एक विशेष वातावरण का सर्जन करते थे। आरम्भ में उनके इस नवीन प्रयोग का बिल्कुल स्वागत नहीं हुआ परन्तु बाद में उनकी परम्परा को आगे बढ़ाते हुये नंदलाल बसु, असित कुमार हलदर, सोमेन्द्रनाथ गुप्त जैसे समकालीन कलाकारों ने भारतीय परम्परा और राष्ट्रीयता से प्रेरित कला का प्रचार-प्रसार शुरु किया। हालांकि इनसे पूर्व राजा रवि वर्मा ने भारतीय मिथक पर आधारित विषयों को लेकर चित्र रचना की थी परन्तु उन्होंने अपने चित्रों में पाश्चात्य शैली और तैल रंगों का प्रयोग किया था। अवनीन्द्रनाथ ने भारतीय शैली में प्रयोग किये और बुद्ध जन्म, बुद्ध तथा सुजाता, ताजमहल का निर्माण, शाहजहाँ की मृत्यु, उमर खैय्याम, अलिफलेला, भारतमाता आदि सफल चित्रों का निर्माण किया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने रेखीय प्रधानता लिये हुये ऐसी आकृतियों का निर्माण किया जो मौलिक परम्पराओं पर आधारित थी। उनके चित्रों में सुकुमारता तथा लालित्य का प्रभाव झलकता है। उन्होंने प्रकृति व जीवन के रुखे पक्षों को भी चित्रित किया। उनके चित्रों में ज्यामितीय प्रभाव अधिक रहा। यहीं नहीं इस महाकवि ने अपने चित्रों के साथ-साथ गीतों और अन्य प्रकार की रचनाओं से साहित्य और संस्कृति में

पुनर्जागरण की भावना को बल प्रदान किया।

यामिनी राय ने पाश्चात्य शैली के चित्रांकन के स्थान पर बंगाल की पट-चित्रकला को सहज काल्पनिक रूपों से सृजित किया। लोककला को नव जीवन प्रदान करने के साथ-साथ वे जीवन पर्यन्त प्राकृतिक दृश्यों को भी अपने फलक पर उतारते रहे। इन्होंने बंगाल के लोक चित्रों से प्रेरणा लेकर आधुनिक कला की एक अलग ही अवधारणा रूपायित की जो माटी की देशजता लिये हुये थी।

1921 में जब नन्दलाल बसु ने कला भवन का जिम्मा संभाला तो स्वदेशी आन्दोलन अपने यौवन पर था एवं अवनीन्द्रनाथ के कला छात्रों ने इस समय तक अपने कला अध्ययन में काफी प्रगति कर ली थी। नन्दलाल की कला शिक्षा का विचार रवीन्द्रनाथ से भिन्न नहीं था। परिणामस्वरूप कला भवन की कला शिक्षा एवं वातावरण राजकीय कला स्कूलों से पूर्णतया भिन्न था। आरम्भ से ही नन्दलाल इतने उदार थे कि उन्होंने अपने छात्रों को भिन्न तकनीकों में प्रयोग करने की स्वतन्त्रता दी।¹ नन्दलाल बसु ने भारतीय इतिहास, पुराण आदि पर आधारित चित्रों का सृजन किया। चित्रकार असित कुमार हल्दर श्रेष्ठ भारतीय वातावरण में संस्कारित हुए थे। उन्होंने देश के ऐतिहासिक एवं पौराणिक प्रसंगों पर अनेक चित्र बनाये जिनसे भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के प्रति उनके अनुराग का परिचय मिलता है। उन्होंने भारतीयता के रंग में रंगी व्यापक कला-दृष्टि का विस्तार किया।³

देवी प्रसाद राय चौधरी और क्षितिन्द्रनाथ मजूमदार भी पुनर्जागरणकालीन चित्रकारों में से थे। क्षितिन्द्रनाथ के चित्रों में भारतीय धार्मिक तत्व विशेष रूप से मुखर हुए। देवीप्रसाद राय ने मद्रास स्कूल ऑफ आर्ट्स के प्रिंसिपल बनने के बाद भी भारतीय पृष्ठभूमि पर अनेक चित्र व मूर्तिशिल्प बनाये। इन्होंने भी टेम्परा पद्धति में चित्र सृजन किया, जो बंगाल शैली की प्रमुख विशेषता थी।

अमृता शेरगिल ने परम्परागत भारतीय चित्रशैलियों, विषयों एवं सन्दर्भों का आधुनिक कला प्रवृत्तियों से मेलजोल कर चित्रण किया और ख्याति पाई। भारत में रहते हुए उन्होंने अनेक चित्रों की रचना की जिनके विषय भारतीय व शैली और तकनीक पूर्णतः यूरोपीयन थे। लयबद्ध रेखा और विस्तृत धरातल इनके चित्रों की विशेषता रही। जिस समय ये भारत आई उस समय बंगाल शैली अपने पतन की और अग्रसर थी। कलाकारों में एक उलझन सी थी कि बंगाल शैली का अनुसरण किया जाय अथवा यूरोपीयन शैली में कार्य किया जाय। ऐसे समय में अमृता शेरगिल ने अपने नये प्रयोगों से भारतीय कला को नवीन कलेवर देने का प्रयास किया। अमृता ने इस अस्पष्टता को मिटाने का यत्न किया और भारतीय कला को नया मोड़ दिया।

इनके नये प्रयोगों से भारतीय कला को नया मार्ग मिला।⁴

1930 के पश्चात बम्बई तथा दिल्ली के कलाकारों ने इस दिशा में नए कदम उठाए। 1943 में कलकत्ता ग्रुप की स्थापना हुई। निरोद मजूमदार, पारितोष सेन, प्रदोष दास गुप्ता, सुनील माधव सेन, रथीन मैत्रा जैसे कलाकारों ने संगठित होकर इस ग्रुप की स्थापना की। इस ग्रुप की बम्बई में प्रदर्शनी हुई जिसे हरमन गोट्ज व मुल्कराज आनन्द द्वारा समर्थन मिला।⁵ इसी क्रम में सोमनाथ होर, रामकिंकर बैज, विनोद बिहारी मुखर्जी आदि ने आम आदमी की पीड़ा व त्रासदी से सरोकार रखने वाले चित्रों का निर्माण किया।

1947 में प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप की स्थापना के साथ ही बम्बई कला का नया केन्द्र बना, जो आज भी कला का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र बना हुआ है। इस ग्रुप के संस्थापक सदस्यों में एस.एच. रजा, के.एच. आरा, एम.एफ. हुसैन आदि थे। उन्होंने जिस आन्दोलन को जन्म दिया उससे कला में नवीनतम प्रयोग की भावना और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति को मुखरित करने के प्रयास के साथ-साथ मौलिकता को महत्वपूर्ण स्थान मिला। परन्तु इस सबके साथ-साथ कला पर मशीनी युग के प्रभाव के कारण चित्रों में अलंकरण की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी। तैल चित्र भी बड़े आकारों के बनने लगे। चमकीले तड़क-भड़क वाले रंगों का प्रयोग अधिक होने लगा। रेखाओं का प्रयोग भी रंगों के आगे गौण होने लगा। ऐसी प्रवृत्तियों वाले कलाकारों में रथिन मित्र, एन.एस. बेन्द्रे, कंवल कृष्ण, सतीश गुजराल, श्याम बक्ष चावड़ा, एम.एफ. हुसैन, भवेश सान्याल, के.के. हैबबर, एच.के. आरा, प्राणनाथ मागो आदि कलाकारों के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स ग्रुप के कार्यक्रमों, प्रदर्शनियों तथा उसके सक्रिय कलाकारों को शुरु में तो निराशा का सामना करना पड़ा, परन्तु धीरे-धीरे उसके साथ अनेक समर्थ भारतीय चित्रकार जुड़ते गए। दूसरे चरण में कृष्ण खन्ना, वी.एस.गायतोंडे, मोहन सामन्त तथा तैयब मेहता आदि ने उक्त ग्रुप से सम्बद्ध होकर स्वातंत्र्योत्तर भारतीय कला को एक मजबूत धरातल प्रदान किया। बम्बई के समानान्तर ही उन दिनों दिल्ली में भी शिल्पी चक्र नामक संस्था की स्थापना हुई जो इस तथ्य का संकेत था कि भारतीय चित्रकारों ने भारतीय कला के नाम पर चल रही सस्ती, भावुक, संकीर्ण और प्राणहीन कला के विरुद्ध एक संघर्ष छेड़ दिया था। रामकुमार, बी.सी.सान्याल, मागो, कंवलकृष्ण, हरकृष्णलाल, धनराज भगत आदि कलाकार इस संस्था के सक्रिय सदस्य थे।⁶

स्वतन्त्रता के पश्चात 1954 में भारत सरकार द्वारा देहली में ललित कला अकादमी

की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य कला एवं कलाकारों को संरक्षण प्रदर्शन एवं प्रकाशन हेतु एक मंच प्रदान करना रहा। साथ ही विभिन्न राज्यों में कला अकादमियों एवं कला संस्थानों की स्थापना से भी कलाजगत में सक्रियता आई, लोगों में कला के प्रति दिलचस्पी बढ़ी। विगत वर्षों में अनेक चित्रकार समकालीन आधुनिक कला में अपना एक मुकाम बनाने में सफल हुए हैं पर सबकी अपनी एक निजी शैली सामने आई, उनका चित्रण माध्यम व तकनीक अलग रही है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. चुग सविन्दर सिंह व मालाकार बिरदी चन्द, भारतीय चित्रकला, अंजली प्रकाशन, अजमेर, पृ 101
2. डांगी छगनलाल, समसामयिक भारतीय छापाचित्रण पद्धति का विवेचनात्मक अध्ययन, उदयपुर(अप्रकाशित शोध),पृ 108
3. प्रेमचन्द्र गोस्वामी, आधुनिक भारतीय चित्रकला के आधार स्तम्भ,राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी पृ 3
4. चुग सविन्दर सिंह व मालाकार बिरदी चन्द, भारतीय चित्रकला, अंजली प्रकाशन, अजमेर, पृ 121

बाबा रामदेव : 15 वीं शताब्दी के अछूतोद्धारक समाजसुधारक लोकनायक

भारतीय इतिहास में मध्यकाल संघर्ष का युग रहा, और यह संघर्ष हिन्दू एवम् मुस्लिम दो विरोधी संस्कृतियों में हुआ। राजस्थान के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट होता है कि पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान में इस्लाम का प्रवेश राजस्थान के सामाजिक इतिहास की युगान्तकारी घटना है। राजस्थान में इस्लाम का प्रवेश बल या शान्तिपूर्ण प्रयासों (सूफियों द्वारा) से ही नहीं हुआ अपितु यहां की तात्कालिक सामाजिक स्थिति भी इसके लिए उत्तरदायी रही है।¹

तत्कालीन हिन्दू धर्म को न केवल बाहरी दबावों अपितु आन्तरिक जर्जरताओं से भी जूझना पड रहा था। तत्कालीन समाज जातिगत भेदभाव और ऊँच नीच की भावना से ग्रस्त था। तत्कालीन समाज स्वरूप से ज्ञात होता है कि प्रत्येक जाति का अनेक उपजातियों में विभाजन हो चुका था।² इस समय स्त्रियों की स्थिति भी गौरवस्पद नहीं रही। कन्या जन्म शोक का अवसर माना जाता था। बहुविवाह, सतीप्रथा, देवदासी प्रथा आदि प्रथाओं से नारी के सम्मान में कमी आ गई थी।³ निम्न जातियां समाज की अनिवार्य सेवाएँ करने के उपरान्त भी घृणा और तिरस्कार की पात्र समझी जाती थी। अन्त्यज अथवा अस्पृश्य एवम् नीची समझी जाने वाली जातियों यथा भील, चमार, चाण्डाल, धोबी, खटीक, नट आदि को बस्ती तथा गांव से बाहर रहना पडता था। सार्वजनिक स्थलों यथा सरोवरों, कुओं और मन्दिरों के लाभ से वंचित रहना इनकी नियति बन गयी थी।⁴ नीची तथा अछूत समझी जाने वाली जातियों की दयनीय स्थिति ने समाज को जर्जर एवम् खोखला बना दिया।

मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा हिन्दू धर्म और संस्कृति पर प्रहार होने लगे। ऐसी परिस्थितियों में नीची तथा अछूत जातियों का नवप्रचारित इस्लाम की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था। इस्लाम में अतिरिक्त आकर्षण सामाजिक समानता और आर्थिक प्रलोभन थे। नीची तथा अछूत जातियों का इस्लाम के प्रति आकर्षण, इस्लाम का बढता प्रभाव, हिन्दू धर्म एवम् संस्कृतियों के मूल्यों और मान्यताओं के लिए कडी

चुनौती था। इस चुनौती एवम् हिन्दू और मुस्लिम दो विरोधी संस्कृतियों के संघर्ष का राजस्थान भी एक केन्द्र रहा। यहां भी इस्लाम के प्रवेश से हिन्दू धर्म के सामने एक चुनौती पैदा हुई।

राजस्थान में मुसलमानों द्वारा मूर्तियों को तोड़ना, मंदिरों को अपवित्र एवम् नष्ट करना, गौ वध करना तथा हिन्दुओं को बलात इस्लाम धर्म में दीक्षित करना आदि अनेक ऐसी बातें थीं। जिनके कारण समय के अनुरूप धार्मिक एवम् सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन तथा सुधार की आवश्यकता महसूस हुई। म्लेच्छ तथा अन्त्यज समझी जाने वाली नीची जातियों को समाज में उचित स्थान दिलाने, स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने तथा समाज में व्याप्त बुराईयों को दूर करने एवम् धर्म तथा गौ की रक्षा, स्थानीय जनता की रक्षा करना भी ऐसे धार्मिक संघर्ष के युग में आवश्यक हो गया था।

इस समय देश के साथ-साथ राजस्थान में ऐसे विचारक तथा संत हुए जिन्होंने परम्परागत धर्म के दोषों को दूर कर धर्म सुधार की ज्योति जलाकर भारतीय समाज में फैले जाति-पाति, ऊंच-नीच, के भेद को मिटाकर मानव मात्र के कल्याण हेतु प्रयास किया। ऐसे समय में कुछ ऐसे व्यक्ति सामने आये। जिन्होंने अपने शौर्यपूर्ण कृत्य, त्याग, वचनपालन, स्थानीय जनता एवम् गौ-वंश की रक्षा हेतु खुद के प्राण-न्यौछावर कर दिये। अछूत समझे जाने वाली जातियों को गले लगाकर इन लोक नायकों ने लोक देवता का स्थान प्राप्त किया। लोक देव उन्हें कहा जाता है जो परम्परा में जीवित और लोक द्वारा पूजित है। जो व्यक्ति समाज, संस्कृति एवम् लोक की भलाई हेतु त्याग अथवा बलिदान का आदर्श लोगों के सम्मुख रखते हैं। ऐसे लोक नायक देव स्वरूप को प्राप्त कर लोगों द्वारा पूजे जाने लगते हैं।

भौगोलिक रूप से राजस्थान का क्षेत्र मध्यकाल में विभिन्न खण्डों में विभक्त था। किन्तु यहां के लोक देवताओं तथा सन्तों ने अनेक मत, प्रणालियों, धाराओं एवम् सम्प्रदायों के इस प्रदेश को एक सूत्र में जोड़ रखा था। लोकमत तथा सन्तमत की दृष्टि से इतनी समृद्धता देश के इसी भू-भाग पर केन्द्रित होती है। लोकवाणी (सन्त वाणी) ने लोकस्तर पर एकात्मकता स्थापित की। भारत में जब राजनीतिक एकता नहीं थी। तब लोक देवताओं ने सांस्कृतिक एकता को बनाये रखा। लोक देवताओं ने मध्यकाल की चुनौतियों का सृजनात्मक उत्तर दिया।

मध्यकालीन राजस्थान की अशिक्षित खेतीहर एवम् निम्न जातियों में नवीन भक्ति भावना को प्रस्फुटित करने का श्रेय लोक देवताओं एवम् देवियों को जाता है।^{१०} ऐसे व्यक्तियों में गोगाजी, पाबूजी, तेजाजी एवम् रामदेव जी प्रमुख थे। ये लोक नायक

पहले अपने-अपने वर्ग में लोक देवता रूप में पूजे गये बाद में इन्हे सर्व साधारण द्वारा भी मान्यता मिली। ऐसे ही एक लोक देवता रामदेवजी हुए जिन्होंने जीवन पर्यन्त अछूतोद्धार तथा समाज सुधार हेतु कार्य कर अपने प्राण न्यौछावर कर दिये। लोक देव रामदेव द्वारा किये गये कृत्यों के कारण उनकी गणना पंचपीरों में की जाती है। “पाबू हडबू रामदेव, मांगलिया मेहा, पंचो पीर पधारज्यौ, गोगदे जेहा” ‘पीर’ शब्द मुस्लिम संस्कृति में आदरणीय शब्द है जिसका अर्थ सिद्ध महात्मा। राजस्थान में रामदेवजी को उनके परोपकारी कार्यों, समाज में समानता स्थापित करने, अछूतोद्धार करने, अलौकिक चमत्कार, पर्चे देने के आधार पर, अनुयायियों की संख्या के दृष्टिकोण से और उपदेशक एवम् संत तथा योद्धा के रूप में कार्य के आधार पर इनको पंचपीरों में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

रामदेवजी का जन्म तँवर वंशीय अजमाल जी एवम् मेणादे के यहां हुआ था। रामदेवजी की जन्मतिथि अज्ञात है। मारवाड रा परगना री विगत⁶ तंवरा री ख्यात⁷, रामसा पीर की ख्यात⁸ में मल्लीनाथ जी और रामदेवजी के आपस में मिलने, मल्लीनाथ जी द्वारा पोकरण का इलाका रामदेवजी को देने के आधार से यह ज्ञात होता है कि रामदेवजी मल्लीनाथ के समकालीन थे।⁹ बचपन में पराक्रम का परिचय देते हुए इन्होंने पोकरण में भैरव नामक क्रूर व्यक्ति का दमन कर अराजकता तथा आतंक को खत्म किया।¹⁰ इनका विवाह अमरकोट के दलजी सोढा की कन्या नेतलदे से हुआ था।¹¹ कालान्तर में अपनी भतीजी को दहेज में पोकरण भेंट कर देने पर इन्होंने रामदेवरा (रूणेचा) गांव बसाया और वहीं भाद्रपद शुक्ल एकादशी 1458 ई0 को जीवित समाधि ले ली।¹² इनके मुख्य स्थान रामदेवरा में प्रतिवर्ष भाद्रपद मास में प्रदेश का सबसे विशाल मेला आयोजित होता है।

रामदेवरा का यह मेला मुख्य रूप से धार्मिक तथा सांस्कृतिक आधार पर आयोजित होता है। यह मेला समानता, सामाजिक सद्भावना, वर्गविहीन छुआछूत रहित जात-पौत के भेदभाव से दूर एक प्राचीन मेला है यह मेला साम्प्रदायिक सौहार्द्र और संस्कृतिकरण का प्रतीक है रामदेवजी जीवन पर्यन्त जातिगत भेद मिटाने का प्रयास करते रहे और उनके समाधि स्थल पर आज भी ये संदेश परिलक्षित है। रामदेवजी की समाधि पर मजार बनी हुई है जो सूफी सन्त ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती (अजमेर) की मजार के सदृश्य हिन्दु मुस्लिम एकता का स्थान है। रामदेवजी की पूजा पद्धति देखने से यह प्रतीत होता है कि रामदेवजी का मुस्लिम पीरों से सम्बन्ध रहा। रामदेवरा में रामदेवजी की समाधि तथा ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह राजस्थान में ऐसे तीर्थ है जहां प्रत्येक धर्म, जाति और वर्ग से संबंधित श्रद्धालु आते हैं। जहां

हिन्दू, मुसलमान व अन्य धर्मावलम्बी उनकी पूजा एक साथ करते हैं। रामदेवरा में बाबा रामदेवजी की समाधि पर हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, जैन, बौद्ध, ईसाई धर्म के अनुयायी मनोकामना पूर्ति हेतु आते हैं। रामदेवरा "समन्वित-संस्कृति का केन्द्र है यहां विभिन्न सम्प्रदायों की संस्कृति एवम् धारायें आपस में भागीदार होकर एक दूसरे तत्वों को ग्रहण कर आपस में आदान प्रदान द्वारा एक दूसरे में स्थायी स्थान बना लेती है तब यह समन्वित संस्कृति का रूप धारण कर लेती है।

सामान्यतः गांवों में किसी वृक्ष विशेषकर खेजडे या नीम के नीचे जमीन से दो या पांच फीट ऊंचे चबूतरे पर खुले ताक में रामदेवजी के "पगलिये" स्थापित किये हुए मिलते हैं और वृक्ष पर उनके पगलियों से युक्त श्वेत ध्वजा फहराई जाती है जिसमें ऊपर लाल कपडे से रामदेवजी के चरण बने होते हैं इस तरह के स्थान को रामदेवजी का "थान" कहा जाता है इनके मंदिर को "देवरा" कहा जाता है कभी-कभी लाल रंग के कपडे के पगलियों के साथ श्वेत ध्वजा अथवा पांच रंगों की ध्वजा फहराई जाती है जिसे "नेजा" कहते हैं। रामदेवजी का फूल¹³ लोग गले में पहनते हैं।¹⁴ रामदेवजी के मंदिर राजस्थान, गुजरात के हर गांव और नगर में मिल जाते हैं किन्तु मुख्य मंदिर "रामदेवरा" रूणिचा ग्राम में है।

रामदेवजी की पूजा साधारणतः मेघवाल, चमार, कामड एवम् चर्म कार्य से जुडी हुई जातियां मुख्य रूप से करती है।¹⁵ रसैल ने भी इस बात की चर्चा करते हुए कहा है कि कामड जो राजस्थान के घुमक्कड गायक हैं मारवाड के संत रामदेव के पद चिन्हों की पूजा करते हैं। आर ई.इन्थावेन ने भी इस बात की पुष्टि की है कि गुजराती एवम् मारवाडी मेघवाल इस शताब्दी के प्रारम्भ में रामसा पीर के मुख्य अनुयायी थे।¹⁶ मंदिरों में अधिकतर पुजारी ब्राह्मण जाति के होते हैं परन्तु रामदेवजी के पुजारी ज्यादातर शूद्र वर्ण की जातियों के लोग हैं।

पूर्वकाल में राजपूत, ब्राह्मण, वैश्य, जैन एवम् अन्य उच्च वर्ग के व्यक्ति अपने आपको रामदेवजी का अनुयायी कहना पसन्द नहीं करते थे। कठिनाईयों में अथवा दुःखित अवस्था में ही ये रामदेवरा की यात्रा किया करते थे। समय के साथ-साथ रामदेवजी की पूजा इन कुछ वर्गों में भी बढ़ती गयी। निम्न जातियों के लोगों को रामदेवजी ने धार्मिक कार्यक्रमों एवम् पूजा पाठ में समानता का अधिकार दिया।¹⁷ रामदेवजी के अनुयायी बनने के लिये किसी प्रकार के अनुष्ठान प्रक्रिया रस्म एवम् बंधन में बंधित होने का विधान नहीं है जो भी रामदेवजी द्वारा बताये गये धार्मिक विचारों को मानते हैं और उनकी पूजा अर्चना करते हैं वे उनके अनुयायी कहे जा सकते हैं। पूर्व में आवागमन के साधन कम होने के कारण क्षेत्र विशेष के लोग ही

रामदेवजी के अनुयायी थे परन्तु आवागमन के साधनों में बढ़ोत्तरी के साथ रामदेवरा आने वाले यात्रियों की संख्या बढ़ जाने से रामदेवजी के अनुयायियों की संख्या भी बढ़ी है।

लोक विश्वास है कि रामदेवजी निर्धनों को धन, निपुत्रों को पुत्र, अन्धों को आंखें पंगु को पैर देते हैं तथा कुष्ठ आदि रोगों को मिटाने वाले हैं। “कोढियां रा कोढ झाडे, अंधा न आंख देवे, लूला लंगडा न हाथ पांव देवे।” जन विश्वास के अनुसार इन्हे सर्वसिद्धिप्रदाता, सुबुद्धिदायक एवम् कामना पूरक देवता माना जाता है। राजस्थान तथा गुजरात में लोग रामदेवजी को अवतारी पुरुष मानते हैं उनके अवतार धारण करने के तीन प्रयोजन माने जाते हैं भैरव राक्षस का वध, अछूतों का उद्धार तथा धर्म का सच्चा संदेश देना। लोक मानस में इनके चमत्कारों को “पर्चा” कहा जाता है। “पर्चा” शब्द परिचय शब्द से बना है परिचय से तात्पर्य है अपने अवतारी होने का परिचय देना। ग्रामीण लोगों में अकस्मात कोई विपत्ति आने पर रामदेवजी की “जोत” कर उनके चरणों का प्रक्षालन करके उस पवित्र जल को अमृत तुल्य समझकर कष्ट निवारण हेतु उसका आचमन किया जाता है। राजस्थान तथा गुजरात में अनेक जाति और वर्ग के लोगों द्वारा अपने इष्ट देवता के रूप में रामदेवजी की पूजा की जाती है। इस रूप में हम रामदेवजी को एक लोक देवता कह सकते हैं।¹⁸

लोक देवता का संबंध किसी जाति या कुल विशेष से नहीं अपितु सामान्य जन जीवन से होता है। ‘लोक’ शब्द ग्राम्य जीवन का द्योतक है। ‘लोक’ शब्द संस्कार एवम् परम्परागत विचाराधारा का भी द्योतक है। इसमें जन की परम्परावादी आस्था जुडी है। राजस्थान की संस्कृति में लोक देवताओं की परम्परा के अन्तर्गत मध्यकालीन धार्मिक प्रवृत्तियों का पूर्ण रूप व्यक्त होता है। यद्यपि बुद्धिजीवियों के अनुसार इनकी उपासना अन्धविश्वास पर आश्रित है तथापि इनके प्रति दृढनिष्ठा ने असंख्य जनसाधारण को सन्मार्ग ग्रहण करने हेतु प्रेरित किया। यह लोक देवताओं के प्रति विश्वास का ही परिणाम है कि राजस्थान की अधिकांश जनता धर्म संबंधी दार्शनिक शास्त्रार्थ में पडे बिना एकता, ध्यान और नैतिक जीवन के तत्वों का आत्मसात करने में सफल हुई।¹⁹ लोक देवता द्वारा कर्मकाण्ड तथा विभेद रहित निर्गुणात्मक संस्कृति तथा उनके अनुयायी द्वारा उपासना में सगुण संस्कृति के दर्शन होते हैं।

मध्यकालीन सांस्कृतिक-संक्रमण युग में रामदेवजी ने समाज में दलित एवम् महिला वर्ग को उचित स्थान एवम् महत्ता प्रदान कर समता का पाठ पढाया। दलित जातियों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने से बचाकर हमारी सांस्कृतिक विरासत को अभिन्न बना पुनः सुसमृद्ध किया। इस्लाम एवम् हिन्दू धर्म में आपसी सामंजस्य के

प्रयास कर राष्ट्रीय एकता एवम् सर्व धर्म समभाव अर्थात् मानव धर्म की व्याख्या कर धर्म का वास्तविक रूप प्रदर्शित कर दोनो में समानता स्थापित करने का प्रयास किया। रामदेवजी जैसे निर्गुण संत ने जातीयता एवम् साम्प्रदायिकता दोनो ही स्तरों पर भेदभाव को दूर करने में ऐतिहासिक योगदान दिया। जो आज के युग में भी प्रासंगिक है। रामदेवजी ने ब्राह्मणों के क्लिष्ट कर्मकाण्डों में अश्रद्धा व्यक्त करते हुए अलख एवम् अल्ला को एक मानते हुए दोनो सम्प्रदायों में सौहार्द्र की भावना जागृत की।²⁰

रामदेवजी ना केवल वीर योद्धा थे अपितु अछूतोद्धारक, समाजसुधारक भी थे। इन्होंने मूर्तिपूजा²¹ और तीर्थ यात्रा²² में अनास्था प्रकट करने के साथ-साथ जाति प्रथा का भी घोर विरोध किया।²³ रामदेवजी ने अछूत समझे जाने वाली जातियों की स्थिति में सुधार लाने के उद्देश्य से शोषण और भेदभाव के विरुद्ध जन जागरण शुरू किया। इन्होंने गांव-गांव घूमकर जाति व्यवस्था पर कडा प्रहार करते हुए लोगों को यह समझाने का प्रयास किया कि ईश्वर ने सभी मनुष्यों को एक समान बनाया है। अतः आपस में भेदभाव उचित नहीं है। उन्होंने हरिजन को गले का हार, हीरे मोती और मूंगा बताया। “हरिजन म्हारे हार हियेरा, मोत्यो मूंगा कहावे म्हारा लाल”। गांव में रात्रि विश्राम अछूत कहे जाने वाले व्यक्ति के घर पर ही करते थे। रात्रि में भजन कीर्तन के लिये लोगों को इकट्ठा कर भजनों के द्वारा हिन्दू समाज की एकता एवं सुदृढता पर बल दिया। रात के इस समागम को उन्होंने “जम्मा जागरण” का नाम दिया।²⁴

रामदेवजी के इस जम्मा जागरण के कारण पिछडी जातियों में आत्म विश्वास जागा। अब उन्होंने समाज में बराबरी का स्थान मिलने लगा और वे रामदेवजी के भक्त हो गये। रामदेवजी अब बाबा रामदेवजी के नाम से विख्यात होने लगे। बाबा रामदेवजी के प्रयासों के कारण तत्कालीन समाज में शोषण के विरोध आवाज उठाने लगी। पिछडी जातियों के साथ समान व्यवहार होने लगा फलस्वरूप हिन्दू समाज में लोगों की इस्लामीकरण की प्रक्रिया रूक सी गयी। हिन्दू समाज के इस्लामीकरण को रोकने के साथ उन्होंने परावर्तन (मुसलमान बने हिन्दुओं की शुद्धि) का अभियान भी शुरू कर दिया।

रामदेवजी ने अछूतोद्धार के साथ-साथ समाज सुधार हेतु प्रयास किया। उन्होंने जाति प्रथा तथा ऊंच नीच में अविश्वास जताते हुए प्रत्येक प्राणि में एक ही ईश्वर का वास माना है। ईश्वर को घट-घट वासी मानते हुए तीर्थ यात्राओं का विरोध करते हुए माना है कि ईश्वर को किसी स्थान विशेष से संबंधित अथवा बन्धनयुक्त नहीं किया जा सकता। कर्मवाद में विश्वास के कारण बाबा रामदेवजी ने कर्मों के

कारण निर्मित संसार के आवागमन चक्र से मुक्ति का एक मात्र साधन “नाम स्मरण” को माना है। श्रेय साधन की प्राप्ति पुर्नजन्म के लिए संरक्षित न कर वर्तमान जन्म में कर लेनी चाहिए।²⁵ तीर्थ यात्रा करने के उपरान्त भी व्यक्ति को अपने कर्मफलों से मुक्ति नहीं मिलती। कर्मफलों से मुक्ति हेतु नाम स्मरण की साधना के लिए बाबा रामदेवजी ने सत्संग पर बल देते हुए गुरु की महत्ता को स्वीकार करते हुए माना है कि सागर रूपी संसार से मात्र गुरु ही पार उतार सकता है। कर्मवाद में विश्वास के कारण मूर्तिपूजा में अविश्वास जताते हुए माना है कि व्यक्ति को मूर्ति पूजा करने की बजाय अपनी आत्मा का पूजन करते हुए सत्य तथा ईश्वर का अन्वेषण करना चाहिए।²⁶ बाबा रामदेवजी ने बाह्याडम्बरों, अनावश्यक रीति नीतियों, धार्मिक तथा सामाजिक कुप्रथाओं का विरोध किया। उन्होंने त्याग, संयम, सादगी, आत्मसंतोष और ईश्वरोपासना को ही मनुष्य जीवन का सुचिन्त्य लक्ष्य माना।

रामदेवजी दुष्चरित्रों के स्थान पर मानवीय प्रेम एवम् सदभावना का, समादर का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। उनके एक हाथ में “शस्त्र” और दूसरे हाथ में “वीण” है अर्थात् उनके साथ शक्ति एवम् सरस्वती दोनों साथ-साथ रहती है। उनके जीवन के तत्व दर्शन में हमें मानवतावादी धर्म, साम्प्रदायिकता एकता, राष्ट्रीय एकता, विश्वशान्ति, लोक जीवन की महत्ता, सभी धर्मों के प्रति सम्मादर भाव, समन्वय की भावना, आध्यात्मिक एवम् कर्म भक्ति, आत्म चिंतन की महत्ता, राष्ट्रीय निर्माण का चिंतन परिलक्षित होता है। जो आज के युग में भी रामदेवजी की उपादेयता को सिद्ध करते हैं।

ऐसे अद्वितीय महान चैतन्य लोक देवता संतों एवम् सुधारकों की आज न केवल भारतवर्ष अपितु समग्र विश्व को आवश्यकता है ताकि वर्तमान प्रदूषित देश एवम् विश्व जगत अपनी अनेकानेक समस्याओं से परिमुक्त होकर “सत्यं शिवं सुन्दरम्” के उच्चादर्श के साथ जीओ और जीने दो के मूलमंत्र का अहसास करके “सर्वे भवन्तु सुखिनः” एवम् “वसुधैव कुटुम्बकम्” कथन को पुनः चरितार्थ कर सकें।

संदर्भ ग्रन्थ

1. कालूराम शर्मा, मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास, पृ0 431, पंचशील प्रकाशन, जयपुर 2002
2. रामदेवजी की वाणी, पद्य 17, पृ0 100
3. रामदेवजी की वाणी, पद्य 18, पृ0 101
4. दिनेश चन्द्र शुक्ल एवम् ओकार नारायण सिंह, राजस्थान की भक्ति परम्परा एवम् संस्कृति, पृ0 42, राजस्थान ग्रंथागार, जोधपुर, 1992
5. सागरमल शर्मा, राजस्थान के लोक देवता, पृ0 12, शेखावाटी शोध प्रतिष्ठान, चिडावा,

1999

6. नैणसी, मारवाड रा परगना री विगत, भाग 2, पृ0 291, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
7. तंवरा री ख्यात, बस्ता नं0101, ग्रंथाक 13, जोधपुर रिकॉर्डस अभिलेखागार, बीकानेर
8. रामसा पीर री ख्यात, बस्ता नं0 26, ग्रंथाक 13, जोधपुर रिकॉर्डस, राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर
9. पेमराम, मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन, पृ0 52, राजस्थानी ग्रथागार, जोधपुर, 2009
10. नैणसी, पूर्वोक्त, भाग-2, पृ0 291
11. पूनम चन्द, रामदेवजी का ब्यावला, पृ0 36
12. तंवरा री ख्यात, बस्ता नं0 101, पृ0 13, जोधपुर रिकॉर्डस
13. चांदी अथवा सोने के पत्र पर उत्कीर्ण रामदेवजी की अश्वारोही मूर्ति
14. शिवप्रसाद त्रिपाठी, मरुभूमि के चार धर्मवीर जूंझार, पृ0 12, बनारस 1917
15. आर.वी.रसैल एण्ड आर.बी.हीरालाल, द ट्राईब्स एण्ड कास्ट ऑफ द सेन्ट्रल प्रोविशियस ऑफ इण्डिया कोस्टर हूट्स नीदरलैण्ड्स, एन्थ्रोपोलॉजिकल पब्लिकेशन्स, 1969
16. आई.ई. इन्थावेन, द ट्राईब्स एण्ड कॉस्ट ऑफ बम्बई गवर्नमेन्ट ऑफ बम्बई, पृ0 50, 1922
17. कुमुद शर्मा, लोकनायक बाबा रामदेव लोक धर्म एवम् लोक परम्परा, पृ063 जयपुर पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 2002
18. डॉ0 सोनाराम विश्णोई, बाबा रामदेव,सम्बन्धी लोक साहित्य पृ0 49, साईंटिफिक पब्लिकेशन्स, जोधपुर, 1989

शेखावाटी की पुरातन सांस्कृतिक नगरी: खेतड़ी

खेतड़ी इलाके की संस्कृति अपने आप में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं 18 वीं और 19 वीं सदी में यहां के विभिन्न राजाओं द्वारा बनाये हुए गढ़, महल, बावड़ी, स्थापत्य कला की दृष्टि से बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। यहां के मंदिर, मस्जिद उस समय की धार्मिक भावना के प्रतीक हैं तो दूसरी ओर प्रचुर मात्रा में बने हुए कुए, तालाब और बावड़ियां जन कल्याणकारी भाव के द्योतक हैं।

खेतड़ी में 18वीं और 19वीं सदी में ही अधिकतर गढ़, बावड़ी, कुए व छतरियां बने हैं। इससे स्पष्ट है कि यहां के राजाओं को कला व साहित्य के प्रति गहरी रुचि थी। खेतड़ी के भोपालगढ़ तथा बाधोर के किलों के विशाल द्वार तथा चारों ओर बनी हुई ऊंची दिवारों के चारो कोनों पर बने हुए बड़े-बड़े बुर्ज गुम्बदाकार बरामदे तथा भीतरी भाग में बने विशाल हाल तथा महल मुगलकालीन स्थापत्य कला के प्रभाव के द्योतक है। गढ़ों की बनावट में तराशा हुआ पत्थर तथा सुन्दर चिकना चूने का प्लास्टर आधुनिक कला का परिचायक है तो दूसरी ओर हवेलियों के बाहरी भाग पर पनघट, खेलकूद, ऊंटों की दौड़ के दृश्य ग्रामीण व लोककला की ओर इंगित करते हैं। यही सम्मिश्रण स्थापत्य कला की दृष्टि से हमें खेतड़ी की बावड़ियों, दरवाजों, कुण्डों, तालाबों, हवेलियों में देखने को मिलता है।

खेतड़ी के गढ़:-

1. भोपालगढ़

वैसे तो शेखावाटी में दर्जनों किले हैं। मगर झुंझुनू जिले के खेतड़ी कस्बे के पहाड़ पर स्थित भोपालगढ़ का किला पूरे जिले में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। समुद्र तल से 2337 फीट की ऊंचाई पर स्थित इस किले का निर्माण सम्वत् 1814 में शार्दूलसिंह के पौत्र भोपालसिंह जी करवाया इसका नाम भोपालगढ़ गढ़ रखा था।

अरावली पर्वतमाला की सबसे ऊंची चोटी पर स्थित इस गढ़ में राजा बाघसिंह व बख्तावरसिंह ने भी अपने शासन काल में कई महलों का निर्माण करवाया था और

इसे अधिक आकर्षक तथा वैभव प्रदान किया था। इस किले की बनावट हवामहल की तरह है। यह किला शक्ति और प्रतिष्ठा का प्रतीक है तथा अपनी मजबूती के लिए प्रसिद्ध है। किले का मुख्य द्वार इतना मजबूत है कि उसे तोड़ना सम्भव नहीं है दरवाजे पर लोहे की बड़ी बड़ी मेख लगी हुई हैं जो सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। किले के चारों ओर खाई, पहाड़ियों पर बना हुआ परकोटा और उनसे जुड़ी बड़ी-बड़ी बुर्जे किसी भी दुश्मल को नेस्ता ना बुद करने को तैयार दिखाई देती है। इस प्रकार यह किला अपनी प्राकृतिक स्थिति एवं बनावट के कारण अपना कोई सानी नहीं रखता।

इस किले में बने हुए सुन्दर महल, छतरियां, दीवान-ए खास कोच तथा रंगो से बनाई गई चित्रकारियों, स्वर्णयुक्त नकाशी व शीशमहल यहां की छटा को अनुपम बनाये हुए हैं। किले में एक तरफ दिवान आम बना हुआ है तो दूसरी ओर रनिवास है। जो अपने आप में दो मंजिली इमारत का गढ़ है। पहले आबादी गढ़ में ही रहती थी जो धीरे-धीरे नीचे आकर बस गये। अब किला विरान दिखाई देता है राजा बख्तावरसिंह के सम्वत् 1886 में पर लोकवासी हो जाने पर उनकी रानी चुड़ावत भी उनके साथ सती हुई थी।

खेतड़ी के अन्तिम नरेश सरदारसिंह की मृत्यु के बाद यह किला ट्रस्ट के अधिाकार में आ गया है। लेकिन खेतड़ी राजघराने के उत्तराधिकारी का केश चल रहा है। जिससे यह विवाद में पड़ गया है। संरक्षण के अभाव में यहां के भित्ति चिन्ह, शीशमहल, सोने की नकाशी सब नष्ट हो रही है। बची खुची चित्रकारी भी हर वर्ष धीरे-धीरे अपना मूलरूप खोती जा रही है। फिर भी भोपालगढ़ का बुलन्द दरवाजा काल के अमित थपेड़ों को सहता हुआ लगभग 250 वर्षों से यथावत खड़ा अपने अतीत की कहानी कह रहा है।

2. बाधोरगढ़

समुद्रतल से लगभग 3200 फुट की ऊंचाई लिए जो अरावली पर्वत श्रृंखला की दूसरे नम्बर की ऊंची चोटी पर स्थित है जो खेतड़ी से तीन मील दूर है। इसका परकोटा 25 मील के घेरे में है और राजस्थान के प्रसिद्ध गढ़ चित्तौड़गढ़ और रणथम्बौर की तरह बाधोर का किला भी दुर्गम और प्राचीनता का प्रतीक है जो रक्त रंजित युद्धों व गौरवमय बलिदानों का साक्षी है तथा राजपूती वीरता का प्रतीक बनकर आज भी खड़ा है। इसमें लगे पत्थरों को प्राचीर में लगने का काम निश्चय ही एक आश्चर्यजनक कार्य था कि किस प्रकार कारीगरों ने उन्हें प्राचीर में जोड़ा, यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है।

दुर्ग के चारों ओर सुदृढ़ प्राचीर बनी हुई है जिसमें दुर्ग द्वार के अतिरिक्त

कहीं से भी प्रवेश पाना मुश्किल काम था। चारों तरफ पहाड़ नले होड़ लगाती हुई पर्वतमालायें, भयानक वातावरण और चारों तरफ धौर सन्नाटा और हिंसक जानवरों का भय। एक पत्ते की खड़खड़ाहट भी दर्शकों के रोंगटे खड़े कर देती है। इस दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

किले का निर्माण कब और किसने करवाया, इस सम्बन्ध में सही जानकारी का पता नहीं है। लेकिन यह किला धूला के राजावतों से खेतड़ी के राजा बख्तावरसिंह जी ने अपने पिता अभयसिंह जी के कहने से सन् 1815 में विजय किया था। दुर्ग में बौद्धकाल की मूर्तियां इसकी प्राचीनता को दर्शाती हैं इसके पास ही बीलवा का प्रसिद्ध घाटा भी है पहाड़ों की खोह में भगरे तथा शेर भी कभी-कभी दिखाई पड़ते हैं। किले में शान्दर महल और बगीचा भी है। बाद में यह किला खेतड़ी के राजाओं का प्रमुख आश्रय स्थल बन गया।

3. रामकृष्ण मिशन

एक लम्बी अवधि के बाद खेतड़ी में रामकृष्ण मिशन की विश्वव्यापी शाखा स्थापित करने का संयोग मिला। इस उद्देश्य के लिए राजा अजीतसिंह के पौत्र राजा सरदारसिंह जी सन् 1858 में महल के उस भाग को मिशन के लिए अर्पित किया, जहां स्वामीजी अपना धार्मिक प्रवास करते थे। खेतड़ी के समर्पित लोगों के सतत् प्रयास के परिणाम स्वरूप खेतड़ी में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की गई जिसे आज विवेकानन्द स्मृति मंदिर के नाम से जाना जाता है।

इस भव्य प्रसाद में स्वामी जी एवं राजा अजीतसिंह जी संगमरमर प्रतिमायें स्थापित की गई हैं। वस्तुतः आज खेतड़ी तीर्थ यात्रियों का पवित्र स्थल है जहां स्वामीजी का तीन बार आगमन हुआ और जहां उनमें जीवन की प्रमुख घटनाएं घटित हुईं।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास ने स्वामी विवेकानन्द द्वारा विश्व धर्म संसद शिकागो (अमेरिका) में दिये गये भाषण की स्मृति में दिनांक 21,22,23 सितम्बर 2014 को खेतड़ी में 'भारतीय शिक्षा-संस्कृति महोत्सव' का आयोजन किया गया था। वर्तमान में इसका जीर्णोद्धार कार्य बड़े जोर-शोर से चल रहा है।

संस्कृति के धरोहर : मंदिर

खेतड़ी ठिकाने की संस्कृति को उजागर करने में मंदिरों का भी विशेष योगदान है। ये मंदिर ऊंचे विशाल चबूतरों पर बने हुए हैं। मंदिर का शीर्ष भाग जहां मूर्ति रहती है चारों ओर से घिरा हुआ सुरक्षित स्थान है इस प्रकार हिन्दू शैली पर निर्मित यह मंदिर स्थापत्य कला के अद्भूत नमूने हैं।

मंदिरों की विशेषतः :

ऊंचे चबूतरों पर स्थित, भीतर कलात्मक चित्र और भीतरी भाग में मूर्ति की

प्रतिष्ठापना, रचना गुम्बददार, ऊपर कलशनुमा गोल शकल का सुनहरी रंग का पीतल का शिखरबन्द, जिस पर ध्वजा हेतु कलमी निकली होती हैं। ये इन मंदिरों की सामान्य विशेषतायें हैं। प्रत्येक मंदिरों के नीचे जमीनों के निःशुल्क पट्टे दिये हुए हैं ये पट्टे खेतड़ी द्वारा जारी किए गए थे जो आज तक चले आ रहे हैं और कानूनन वैध हैं।

1. भटियानीजी का मंदिर

राजा बख्तावरसिंह जी की द्वितीया राजमहिषी भटियानी जी ने सम्वत् 1882 में खेतड़ी में एक उत्तम मंदिर बनवाया था जो भटियानीजी का मन्दिर कहलाता है।

2. बड़ा मंदिर

खेतड़ी का यह विशाल मन्दिर राजा बख्तावरसिंह जी को रानी चूण्डावती जी का निर्माण करवाया हुआ है। यह सम्वत् 1814 में बना था और इसी सम्वत् की माघ शुक्ला 5 के शुभ दिन उसकी प्रतिष्ठा हुई थी।

इनके अलावा खेतड़ी में अनेक मंदिर प्रसिद्ध हैं उदाहरणार्थ रघुनाथजी का मंदिर, हरिसिंह जी का मंदिर, गदी के बालाजी का मंदिर प्रसिद्ध हैं। वैसे प्रत्येक राजा ने अपने समय में एक न एक मंदिर अवश्य बनाया है। अधिकांश मंदिर रघुनाथजी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके अलावा प्रत्येक मंदिर में शिवलिंग स्थापित किया गया है। अपने इस्ट के रूप में शक्ति की प्रतीक दुर्गा के मंदिर स्थान स्थान पर देखने को मिलते हैं।

विवेकानन्द स्मृति मंदिर (खेतड़ी)

स्वामी विवेकानन्द स्मृति मंदिर कहलाने वाला यह भव्य भवन खेतड़ी ठिकाने के समय कचहरी थी। जहां पर राजाजी न्याय किया करते थे। इसमें एक बहुत बड़ा हाल है जिसमें स्वामी विवेकानन्द जी ने अपना परिव्राजकास्था में निवास किया था स्वामी जी सन् 1891, 1893 और 1897 में खेतड़ी पधारे थे। इसी भवन में नृतकी मैना बसई द्वारा सुरदाश का भजन "प्रभू मोरे अवगुण चित्त न धरो" सुनकर स्वामी जी के प्रभावित होने की घटनायें इसी भवन के ऊपरी प्रांगण की हैं। 4 मार्च 1895 ई. का इसी हाल में एक विशेष दरबार हुआ था जिसमें अमेरिका में सम्मानित होने पर स्वामीजी को मान पत्र भेजा गया था। इसकी सर्वोपरि मंजिल के महल में जो अब उपासना के लिए नियम है। स्वामी जी राजा अजीतसिंह को विज्ञान पढ़ाते थे और विभिन्न विषयों पर ज्ञान चर्चायें होती थी।

18 जनवरी 1901 ई. को राजाजी अजीतसिंह की मृत्यु हो गई और 4 जुलाई 1902 को स्वामीजी राजाजी की समाधी पर पधारे। इसके बाद कई कारणों से राजस्थान

में मिशन का कार्य अधिक प्रगति नहीं कर सका। लेकिन स्वामीजी की प्रेरणा से सन्यासियों द्वारा मिशन हेतु राजस्थान में अलवर, जयपुर, बीकानेर, किशनगढ़ तथा आबू में धार्मिक सन्देश फैलाते रहे। एक लम्बे समय के बाद खेतड़ी का भाग्य मुस्कराया और खेतड़ी में वल्ड वाइड रामकृष्ण मिशन की शाखा स्थापित करने की आशा बलवती हुई। जब राजा अजीतसिंह के प्रपौत्र राजा बहादुर सरदारसिंह जी ने स्वामी जी स्वामी की स्मृति मंदिर हेतु जनाना डयोढी सहित अपनी यह विश्रामखाना रामकृष्ण मिशन को दिनांक 29.12.1959 ई. को दान कर दिया और विविध सुविधाएं उपलब्ध करावाईं स्व. पं. झाबरमल शर्मा तथा स्व. बेनीशंकर शर्मा के अथक प्रयासों से मिशन की यह प्रथम शाखा खेतड़ी में स्थापित हुई और स्वामीजी की यादगार लिए हुए इस भव्य भवन का विवेकानन्द स्मृति मंदिर नाम दिया गया।

इस भवन की मरम्मत कराके स्व. बेनीप्रसाद शर्मा ने इस विशाल भवन में स्वामी जी तथा राजा अजीतसिंह जी की संगमरमर की मूर्तियां स्थापित करवाईं। इस विवेकानन्द स्मृति मंदिर का विधिवत् उद्घाटन 11 नवम्बर 1963 ई. को राजस्थान के तत्कालीन राज्यपाल डॉ. सम्पर्नानन्द जी के द्वारा सम्पन्न हुआ था।

वास्तव में खेतड़ी एक ऐसा पवित्र तीर्थ स्थल है जहां तीन बार स्वामी विवेकानन्द की पवित्र वाणी गुंजी थी और स्वामीजी के जीवन की प्रमुख घटनाएं घटित हुई थी और मिशन का आध्यात्मिक कार्य प्रथम बार शुरू हुआ था। खेतड़ी में मिशन द्वारा पिछड़े हुए तथा गरीब बच्चों की तरफ विशेष ध्यान देकर शिक्षा देने हेतु एक लर्सरी विद्यालय जो "शारदा शिशु बिहार" के नाम से चलाया जा रहा है जो इस बच्चों के सर्वांगीण विकास पर ध्यान देता है शिक्षा के क्षेत्र में मिशन का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य पब्लिक लाइब्रेरी कम रीडिंग रूम का संचालन है। पुस्तकालय में चार हजार के करीब अच्छी पुस्तकें हैं तथा दूसरी पत्रिकाएं जनता के पढ़ने के लिए मंगवाई जाती हैं यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस टाऊन विद्यार्थी तथा नागरिक इस मूल्यवान पुस्तकालय का लाभ उठाते हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में एक प्रसूतिगृह तथा जच्चा बच्चा केन्द्र का भी संचालन किया जाता है। इस केन्द्र के अनुभवी कार्यकर्ता प्रस्तुति के पूर्ण तथा पश्चात् लाभ उठाने वालों के घर जाकर सेवा करते हैं।

विवेकानन्द स्मृति मंदिर में प्रार्थना, अर्चना, उत्सव, समारोह तथा दूसरे अन्य कार्यक्रम भी आयोजित होते हैं। राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में भी यहां के सन्यासी धार्मिक प्रवचनों के लिए जाते रहते हैं। इस संस्था के धीरे प्रगति के तरफ कदम बढ़ रहा है। दानी महानुभावों तथा संस्थाओं को खुले दिल से इस संस्था को दान देना चाहिए। रामकृष्ण मिशन खेतड़ी को दिया हुआ दान आयकर की धारा 80 आयकर अधिनियम 1961 के द्वारा कर मुक्त है। दान देने के चैक और ड्राट रामकृष्ण मिशन

खेतड़ी के नाम से भेजे जा सकते हैं।

4. खेतड़ी का नरसिंह जी का मंदिर

खेतड़ी ठिकाने की संस्कृति को उजागर करने में यहां के मंदिरों का भी विशेष योगदान है। खेतड़ी स्थित नरसिंह का मंदिर 400 वर्ष पुराना बताया जाता है। इस मंदिर का निर्माण राजपूतों द्वारा करवाया गया था और निर्वाण ही इसकी सेवा पूजा करते थे। इसके बाद यह मंदिर पंचायत के अधिकार में आ गया था। इस मंदिर में साधू सन्त ही रहते थे और वे लोग ही सेवा पूजा आदि करते थे। इन साधुओं तथा महन्तों में कई चमत्कारिक महन्त भी हुए हैं जिनकी भविष्यवाणी सही सिद्ध हुई हैं। ठिकाना के समय इस मंदिर को भोग के लिए धन राशि देवस्थान विभाग से मिला करती थी, लेकिन अब 25 वर्षों से इस मंदिर को देवस्थान विभाग से भोग आदि के लिए कोई धन राशि नहीं मिल रही है। लेकिन फिर भी दोनों वक्त मंदिर में पूजा अर्चना नियमित रूप से होती है।

यह मंदिर खेतड़ी में सबसे पुराना है। यह पूर्णतय हिन्दू शैली पर आधारित है। मंदिर में नरसिंह भगवान की धातु की बनी हुई मुर्ति है। खेतड़ी शहर में जिस किसी के यहां भी लड़के की शादी होती है तो निकासी सबसे पहले इसी मंदिर में आती है शिवालय बना हुआ है। श्रावण तथा कार्तिक के महिने में यहां श्रद्धालुओं की विशेष भीड़ रहती है। वर्तमान में मंदिर के पुजारी श्री महावीरप्रसाद स्वामी हैं जो परिवार सहित मंदिर में रहते हैं। मंदिर शहर के भीतरी भाग में होने के कारण इसमें महिलाओं की विशेष चहल पहल देखी जा सकती है।

5. श्री सत्यनारायण भगवान का मंदिर :

श्री सत्यनारायण भगवान का मंदिर खेतड़ी बाजार के बीच में स्थित है। इस मंदिर का निर्माण लगभग 150 वर्ष पूर्व करवाया गया था। यह मंदिर श्री भीमराज जी सितानी की धर्मपत्नि ने बनाकर इन्हें सौंप दिया था। इस मंदिर के गर्भगृह में एक भव्य शिवालय हैं तथा इसकी ऊपरी मंजिल में श्री सत्यनारायण भगवान की सुन्दर एवं कलात्मक मूर्ति विराजमान है। सभा मठ के सामने श्री हनुमानजी की मूर्ति है। ठिकाने खेतड़ी के समय यहां सत्संग प्रेमी प्रतिदिन सत्संग करते थे। किवदन्ती के अनुसार मंदिर के पुजारी श्री रामायण दास जी ने एक दिन भगवान का शयन करा के स्वयं भी शसन करने चले गये थे। सत्संग प्रेमी लोग आये और सभा मंड बन्द देखकर वहीं पर बैठकर सत्संग करने लगे। उसी समय स्वतः ही भगवान के किवाड़ खुल गये। इस घटना से प्रभावित होकर ठिकाणा के तत्कालीन सुपरिन्टेन्डेंट कैरोल साहब ने सत्संग के लिए चबूतरा तथा एक हारमोनियम बाजा मंदिर को भेंट किया था।

इस मंदिर में आश्विन शुक्ला द्वितीया सम्वत् 1981 के दिन श्री रामायण सत्संग नाम की संस्था की स्थापना हुई। यह संस्था इस मंदिर का संचालन कर रही है और इसे जनता का पूरा सहयोग मिल रहा है। इस मंदिर के सभागढ़ का जीर्णोद्धार 1990 में भगवानदास कानोड़िया के पुत्र पवन कानोड़िया द्वारा करवाया गया था जिससे शिंशे की पच्चीकारी का कमाल देखने लायक है। सालभर मंदिर में विभिन्न धार्मिक उत्सव बड़ी धूमधाम तथा श्रद्धा से मनाये जाते हैं। प्रतिदिन रामायण भगवान की कथा का आयोजन किया जाता है। जिसमें दूरदराज के श्रद्धालु कथा सुनने को आते हैं वार्षिक उत्सव पर अनेक प्रकार की झांकिया तथा भगवान की सवारी निकाली जाती है। इस मंदिर की बहुत अधिक मान्यता है।

6. श्री हनुमानगढ़ी का मंदिर (खेतड़ी)

श्री हनुमानगढ़ी मंदिर एक अत्यन्त प्राचीन मंदिर है। खेतड़ी शहर के ईशान कोण के टीले पर बाबा शिवराम दास जी रहते थे। एक दिन एक गोपाल बालक आश्चर्यान्वित होकर बाबाजी के पास आया और कहने लगा, बाबाजी इस गाय के थनों से स्वतः से ही दूध गिर रहा है। बाबाजी ने इस घटना से प्रभावित होकर उस स्थान की खुदाई करवाई उस भुगर्भ में एक ध्वस्त मंदिर का सा रूप दिखाई दिया। लोगों ने बस इसी बाबाजी की प्रेरणा से खुदाई करने पर बजरंगबली महाराज जी आदमकदम मूर्ति निकली। जिनके दर्शन करके बाबाजी कृत्य हो गये। बाबाजी जन सहयोग से मंदिर के निर्माण कार्य में जुट गए। यह समय लगभग विक्रम सम्वत् 1600 के आसपास का था। जब जयपुर के राजा और सामन्त वाम मार्ग से मुक्त होकर वैष्णव सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण कर रहे थे। इससे पहले यह मन्दिर कब बना तथा किसने बनवाया था अतीत की दास्तान है। इसके बाद मन्दिर का निर्माण कई भागों में हुआ है। सम्भवतः विक्रम सम्वत् 1600 में बजरंग बली महाराज के निज मन्दिर तथा मण्डप की निर्माण हुआ था। प्रचलित किंवदन्तियों के अनुसार अधर मंदिर के निर्माता चौधरी लोग कहते हैं। कि उनके पूर्वजों ने श्री हनुमान गढ़ी का मंदिर बनवाया था और लीलड़िया सेठो का कहना है कि इस मंदिर का निर्माण उनके पूर्वजों ने करवाया था जो उस समय लीला थोथा के ठेकेदार थे। लेकिन मंदिर का निर्माण वास्वत में किसने करवाया यह एक शोध का विषय है।

अधर मंदिर के महन्त स्वामी चन्ददास जी महाराज जी, जिनके दो शिष्य हरिदासजी (2) सियाराम जी थे। श्री हरिदास जी हनुमान गढ़ी मंदिर में रहते थे। वे धीरे धीरे पूर्ण वैराग्य के रंग में रंग गए थे और पूजा अर्चना का भी ध्यान नहीं रहा ऐसी स्थिति में स्थानीय नवयुवकों ने मिलकर भाद्रपद की शुक्ला 14 शनिवार वि. सं. 2007 को एक संगठन का प्रार्दुभाव किया, जो वि. सं. 2010 में श्री हनुमानगढ़ी

सत्संग के नाम से गठित हो गया।

धीरे धीरे समय व्यतीत होता गया, फिर श्री बजरंग बली महाराज की कृपा से तथा बाबा रामेश्वरदाजी टीबा बसई वालों की प्रेरणा से हनुमानगढ़ी मंदिर का जीर्णोद्धार कार्य दिनांक 1.1.1980 ई. को आलम हुआ जिसमें श्री बजरंग बली महाराज के निज मंदिर का पुर्न निर्माण कार्य तथा उसके ऊपर 25 फुट ऊंचा शिखर बन्द बनाया। श्री बजरंगबली महाराज के निज मंदिर के ठीक सामने भगवान शिवशंकर निज मंदिर का निर्माण तथा उसके ऊपर 25 फुट ऊंचा शिखरबन्द बनाया गया। मंदिर के पश्चिमी भाग में राम दरबार का सुन्दर तथा कलात्मक ढंग से निर्माण तथा उसके ऊपर भी 25 फुट लम्बा शिखर बनाया गया मंदिर के मुख्य प्रवेश द्वार के ऊपर श्री गणेश जी महाराज का प्राचीन और अर्वाचीन शैली का भव्य गंगला निर्माज्ञा किया गया है। मंदिर के चारों कोनों पर चार सुन्दर दत्तरियों का निर्माण की गई हैं। इस प्रकार उक्त शिखर बंगला एवं छत्तरियों के निर्माण करने से श्री हनुमान गढ़ी मंदिर की छवि बड़ी मनोहारी बन पड़ी है।

7. खेतड़ी का श्याम मंदिर

खेतड़ी में सन् 1975 में कुड श्याम भक्तों के मन में भावना जाग्रत हुई कि और श्री हरिराम जी बगड़िया के नेतृत्व में श्री श्याम मित्र मण्डल संस्था का गठन किया गया तथा हरिराम बगड़िया के निवास पर ही प्रत्येक एकादशी को बाबा की ज्योत व जागरण का कार्यक्रम आरम्भ किया गया। कुछ समय पश्चात् श्री फूलचन्द कांकरिया ने अपनी चूणा चौक स्थित जमीन श्याम मंदिर निर्माण हेतु इस संस्था को दान कर दी और 4 जुलाई 1976 ई. को मंदिर का निर्माण कार्य आरम्भ हो गया। मंदिर को भव्य स्वरूप खेतड़ी के प्रसिद्ध चित्रकार तथा मूर्तिकार श्री गजानंद चेजार ने प्रदान किया। श्याम विश्राम भवन को प्रथम मंजिल पर स्थित यह भव्य मंदिर काफी सुन्दर तथा आकर्षक दिखाई देता है। मंदिर का मुख्य दरवाजा पूर्व की ओर खुलता है तथा सीढ़िया चढ़ने का मुख्य द्वार उत्तर की तरफ है। मंदिर में पहुंचने के लिए 15 सीढ़ियां चढ़नी पड़ती है। 6-7 सीढ़ियों में चढ़ते ही सामने दरबार में बैठे मनमौजी श्याम बाबा के दर्शन होने लगते हैं। अन्दर प्रवेश करते ही गर्भगृह में श्याम बाबा की शीश की भव्य प्रतिमा सिंहासन पर विराजमान है जो बड़ी विलक्षण एवं प्रभावशाली है। जिसके दर्शनमात्र से आत्मा विभोर हो उठती है। बड़ा मनमौजी है श्याम बाबा । दिन में कई कई रंग बदलता है फिर वही श्याम रंग चाहे उसे मनवाचित फल दे दे और दया करने पर आये तो जिन्दगी दे दे क्या कहने हैं श्याम बाबा के। कई भक्तों ने मनोकामना पूरी होने पर चांदी के छत्तर लगाये हैं।

गर्भगृह के चारों ओर परिक्रमा बनी है तथा आसपास शिव जी और हनुमान

जी की सुन्दर तथा भव्य प्रतिमायें विराजमान हैं सभा मण्डप के आंगन में संगमरमर जड़ा हुआ है। इसके आगे बड़ा सत्संग हाल बनी हुई है यहां आने वाले श्रद्धालुओं को मन में शान्ति का आभाष होता है तथा वे आत्म विभोर हो जाते हैं हाल में पंखे तथा ट्यूब लाइटें लगी हुई हैं।

वर्तमान में मंदिर के पुजारी श्री ओमप्रकाश जी हैं जो भक्तों को प्रसाद भी देते हैं श्याम बाबा का आशीर्वाद भी मिलता है। मन्दिर में नियमित रूप से पांच बार आरती होती है और सैकड़ों लोग आरती में शामिल होते हैं। मंदिर दोपहर में बन्द कर दिया जाता है।

मंदिर के निर्माण में आर्थिक सहयोग खेतड़ी के प्रवासी नागरिकों का रहा है और इसका संचालन भी श्याम मित्र मण्डल संस्था करती है। यहां वर्ष में दो बड़े उत्सव आयोजित होते हैं। एक तो जन्माष्टमी पर दूसरा मूर्ति स्थापना का वार्षिकोत्सव जिसमें विशाल भजन संध्या तथा अखण्ड ज्योति का आयोजन किया जाता है तथा सवारी निकाली जाती है। मंदिर के ऊपर शिखर बन्द का निर्माण बाकी है।

श्याम बाबा का यह स्थान एक तीर्थ का रूप ले रहा है कहते हैं यहां जो भी आता है बाबा उसकी झोली भर देते हैं। जितना वह सोचकर भी नहीं आते हैं। आसपास के क्षेत्र में यह मंदिर बहुत प्रसिद्ध है।

बाघेश्वर तीर्थ स्थल

श्री बाघेश्वर धाम खेतड़ी तहसील के तहत खरकड़ा गांव के पास एक पौराणिक तीर्थ स्थल के रूप में विख्यात हैं। मौजूद प्राचीन मूर्तियों के अवशेषों से पता चलता है कि यह स्थान करीब पांच हजार वर्ष पुराना है। यही पर शिवमंदिर में स्थित शिवलिंग व अन्य मूर्तिया अपनी पुरानी स्थिति में ही हैं। यहां प्राकृतिक झरना के बारे में बुजुर्ग सन्तों से सुना था तथा लोक कथाओं के अनुसार नृसिंह भगवान ने हरिणकश्यप के वध के बाद अपने रक्त रंजित नाखून धोने के लिए झरना निकाला था। जब कभी इस जल स्रोत की सफाई करते हैं तो तीन दिशाओं से जल धाराओं के दर्शन होते हैं। एक धारा शिवमंदिर की तरफ से एक धारा उत्तर दिशा व एक धारा पश्चिम दिशा में आकर त्रिवेणी संगम बनाती है।

बाघेश्वर स्थान पर वर्तमान में नृसिंह भगवान का मंदिर है। उसे करीब 200 वर्ष पूर्व मोहनलाल अहिर गून्ती निवासी ने बनवाया था जिसकी विधि विधान से पूजा अर्चना होती आ रही है। यहां पर करीब 1000 वर्ष पुरानी समाधि हैं जो श्री नागरनाथजी महन्त ने सम्वत् 1605 नाग पंचमी के दिन समाधि ली थी। नागरनाथजी के तीन शिष्य थे। प्रथम श्री स्वरूप नाथजी जिन्होंने सिंघाना की पहाड़ी पर जो वित समाधि ली थी दूसरे शिष्य शिवनाथ सुरोलिया ब्राह्मण परिवार में थे। जिन्होंने नाथ सम्प्रदाय ग्रहण कर तीर्थ स्थल की पूजा पाठ का भार संभाला। उन्हीं के वंशज

शम्भूनाथ जी महन्त हैं। सन् 1969-70 में केदारनाथ जी के तत्वावधान में बाघेश्वर उत्थान समिति का गठन हुआ था। खेतड़ी नरेशों ने अपने शासनकाल में इस स्थान की पूजा, अर्चना के लिए काफी जमीन माफी में दी थी।

वि. सं. 1307 में श्री शिवनाथ जी के पुत्र दवोनाथजी ने यहां एक बावड़ी बनाई थी जो अब जीर्ण अवस्था में है। इसी स्थान पर एक श्री रघुनाथ जी का मंदिर है जिसका निर्माण 250 वर्ष पूर्व लूणसिंह निर्वाण खरकड़ा ने करवाया था। इसके मुख्य द्वार पर एक हनुमान जी का भी मंदिर है।

यहां नृसिंह जयन्ती पर विशेष मेला लगता है। श्रावण मास में शिवजी पर कावड़ चढ़ाते हैं और हस्त गंगा में स्नान करते हैं। तीर्थ स्थल पर जाने के लिए पक्की सड़क बनी हुई है। यह सड़क खेतड़ी नगर से चंवरा जाती है। दूसरा रास्ता खरखड़ा होते हुए बाघेश्वर पहुंचता है। दिल्ली से यह स्थान 200 कि.मी. दूर पड़ते हैं।

चारों तरफ अरावली पर्वतमालाओं से घिरा यह स्थल पर्यटकों के लिए आकर्षक का केन्द्र है। प्राकृतिक सदाबहार झरना, श्रावण भादों में तो इस स्थल की सुन्दरता देखते ही बनती है। प्रकृति की इस अनुपम रचना के दर्शन मात्र से ही मन में सम्पूर्ण सुखों की अनुभूति होती है। इसका रमणीय एवं मनोहर रूप दर्शकों को सदैव लुभाता रहता है। इस तीर्थ स्थल को गलत्ता की तरह पवित्र मानते हैं। यहां के कुण्ड में स्नान करके लोग अपने आपको धन्य समझते हैं।

खेतड़ी का तालाब

शेखावाटी संभाग में खेतड़ी का तालाब अति महत्वपूर्ण है। इसे सन् 1871 ई. (वि. सं. 1928) सेठ पन्नालालजी ने बनवाया था जैसा कि शिलालेख में दर्ज है। तालाब की दिवारों में लक्ष्मी, गणेश, शिव की अनेक मूर्तियां हैं। जो अब भी अस्पष्ट रूप से कायम हैं। तालाब के द्वार के ठीक सामने नीचे के भाग में 52-12 इंच का शिला फलक जुड़ा हुआ है जिसमें सिंह की आकृतियां हैं। बीच में दो खम्भे हैं। जिनके बाहर के कोनों पर दो सिंहों की आकृतियां हैं। बीच में खड़ी हुई देव मूर्ति है जिसके सिर पर मुकुट है कान, गला कटि एवं भूजा आदि स्थानों पर आभूषण है। मुख पर दाढ़ी है, बाया हाथ नीचे लटक रहा है। जिसमें कमण्डल है। दाया हाथ उठा हुआ है नीचे पीछे की ओर मेष जैसा छोटा सा पशु उत्कीर्ण है जो इस प्रतिमा को अग्नि होना सूचित करता है। खेतड़ी के तालाब की प्रतिमाये त्यौंदा गांव के पास प्राचीन नगर पट्टण के टीले से आई है।

इसके अलावा तालाब का निर्माण कलात्मक ढंग से करवाया गया था जिसके निर्माण में उस समय एक लाख रुपये खर्च हुए थे। इसके चारों ओर ऊंची ऊंची दिवारें, स्त्रियों और पुरुषों के अलग-अलग घाट, परिभ्रमण के लिए चोतरफा पंका

फर्स, रहने के लिए कई बाहर दरी तथा तिबारे बनाये गये है। तालाब की वास्तुकला अद्भूत है। ऐसी चित्ताकर्षक तालाब राजस्थान में मिलना दुर्लभ है जो श्री पन्नालाल शाह की स्मृति में एक महान स्मारक है।

खेतड़ी के संत

1. संत मक्खनदास जी महाराज

आप 25 वर्ष की उम्र में सियाजी के बड़ौदा से आये थे। आप मेरठ के वैश्य थे। आप सर्वप्रथम बाघोर के पास सामरा गाँव में आये थे। यह स्थान पहाड़ियों पर बहुत ही हरा-भरा रमणीक है। बहुत से सन्त यहाँ साधना के लिए आते रहते हैं। आपने 25 वर्ष तक यहाँ पर तपस्या की। तत्कालीन खेतड़ी नरेश इसके बाद अपनी बाग वाली कोठी में ले आये। इस कोठी में भी लगभग 25 वर्ष तक रहे। इस कोठी में आने के बाद दूर-दूर तक के रजवाड़े, सेठ साहूकार आपके दर्शन करने आया करते थे। आप रामानन्द वैष्णवी सम्प्रदाय के सिद्ध संत थे।

कुछ दिन बाद आपकी आँख खराब हो गई और भक्त लोग आँख का इलाज कराने के लिए इन्हें खेतड़ी ले आये। खेतड़ी में आपको पन्नालाल शाह के तालाब पर ठहराया। यहाँ आप जीवन पर्यन्त रहे। आपकी आँख का इलाज नहीं हुआ। खेतड़ी आने के बाद आप खटिया पर ही लेटे रहे। नित्य भण्डारा चलता। अनेकों चमत्कारपूर्ण घटनाएँ खेतड़ी के आस-पास के लोगों में भी आज चर्चित हैं।

आपने 111 वर्ष की आयु में रामनवमी के बाद जो बारस आती है, विक्रम सम्वत् 1918 में आपका परलोकवास हुआ। आपकी बर्षी पर चैत्र शुक्ला एकादशी को जागरण और बारस को भण्डारा तथा मेला होता है। आप मेरठ जिले के अग्रवाल जाति के थे। आप इस क्षेत्र में बहुत ही सिद्ध संत हुये।

2. संत श्री रसिकमोहनदास (भोपालगढ़)

संत श्री रसिक मोहनदास जी जिला लखनऊ के अग्रवाल परिवार के हैं। आपने छोटी सी अवस्था में ही सलेमाबाद आकर श्रीजी महाराज से विक्रम सम्वत् 2027 में दीक्षा ले ली आपका जन्म मंगसिर सुदी दशमी वि.स. 2008 का है। आपने लखनऊ में इन्टर तक शिक्षा प्राप्त कर सन्यास ले लिया। आपके घर का नाम रामावतार था। श्री जी महाराज निम्बार्क सम्प्रदाय के हैं। ये लोग भगवान कृष्ण के भक्त होते हैं। श्री जी महाराज के आश्रम में चलाचोकड़ी के एक राजपूत संत रहते थे, उन्हीं के साथ आप इस क्षेत्र में आ गये। चला से आप खेतड़ी आये। खेतड़ी में मक्खनदास जी के स्थान पर उस समय मंगलदासजी की प्रेरणा से आप भोपालगढ़ पर आये।

प्रो. किरन सरना
दृश्यकला विभाग,
पंकज रानी, शोधार्थी
वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली (राज.)

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

ग्रामीण हस्तकला पर औद्योगिक प्रभाव

सृजनात्मकता¹ मनुष्य का जन्मजात गुण है, मनुष्य ने अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति और क्षमता के बल पर अनेक कलाओं को जन्म दिया है। जिसमें हस्तकला का प्रमुख योगदान है भारत की हस्तकला देश का गौरव बढ़ाने में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है।² भारत अपनी हस्तशिल्प³ कलाओं के लिए विश्वभर में जाना जाता है तथा सांस्कृतिक विरासत सदियों से कृतिक रूप में विकास कर रही है और इस परम्परा की झलक देश भर में निर्मित हस्तशिल्प की अनेक वस्तुओं में दिखाई देती है।⁴ वैदिक साहित्य में कलाओं की संज्ञा शिल्प है।⁵ हस्तशिल्प विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को तैयार करने वाले परम्परावादी कारीगरों⁶ कारु, शिल्पी (अमर कोश, 2/10/4) की सांस्कृतिक पहचान का दर्पण माना जाता है। परम्परागत कला के रूप में हस्तशिल्प एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ कलाकार अपने चिंतन, मनोभावों और कल्पनाशीलता की अभिव्यक्ति प्रदान करता है।⁷

प्राचीन समय में लोग जानवरों की खाल तथा वृक्षों की छाल को अपने कपड़े के रूप में काम लेते थे एवं शरीर को ढकने तथा सजाने के लिए घास तथा पत्तों का प्रयोग करते थे जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ। वस्त्रों का भी विकास होने लगा मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं में वस्त्रों का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वस्त्रों का हमारे दैनिक जीवन से महत्वपूर्ण संबंध है।⁸

भारत एक अतिप्राचीन देश जहाँ सभ्यता ईसा के हजारों वर्षों पूर्व से विकसित थी। कपड़ा बनाने की कला में भारतवासियों को दक्षता प्राप्त थी भौगोलिक परिस्थितियों, भाषाओं, धर्मों एवं सामाजिक परम्पराओं के स्वरूप यहाँ की सभ्यता का एक अंग वस्त्र उत्पादन भी है।⁹ सूत कातना और कपड़ा बुनना आर्यों के जीवन के प्रमुख कार्यों में था ऋग्वेद की ऋचाओं में ताना बना और कपड़े बुनने के तरीकों का उल्लेख है।¹⁰

भारत एक कृषि प्रधान देश है तथा कृषि के बाद सबसे बड़ा उद्योग वस्त्र निर्माण का है। देश की जनसंख्या की तथा देश के विभिन्न राज्यों की अपनी अलग-अलग भाषा, वेशभूषा एवं भौगोलिक परिस्थितियाँ होने के कारण यहाँ वस्त्रों की आवश्यकता अधिक एवं अलग-अलग रूप में पड़ती है। सादे वस्त्रों से लेकर अति अलंकृत वस्त्र भी भारत के अनेक केन्द्रों मशीनी एवं हथकरघे के द्वारा किया जाता है।¹¹

हस्त करघा(तंतक)¹² कला :

रेशों से निर्मित धागे ही वस्त्र के मुख्य आधार हैं। इन्हें ही दोनों और से आपस में गूँथकर वस्त्र का रूप दिया जाता है। ब्वससपमते ने अपनी पुस्तक में लिखा है—लताओं गुल्मों का आपस में फंसते हुए बढ़ना देखकर तथा पक्षियों का तिनकों को आपस में फंसाकर घोंसला बनाते देखकर ही मानव ने भी लचीली वस्तुओं को गूँथकर कुछ बनाने का प्रयत्न किया। प्रारंभिक वस्तुएँ जो इससे प्रेरित हुई थी। चटाई, टोकरी आदि। वास्तव में वस्त्र निर्माण की प्रक्रिया इन सबसे ही मानव को मिली।

वस्त्र निर्माण किसी भी प्रकार के हस्त चलित अथवा विद्युत चलित करघे से किया। जाए, परन्तु करघे के प्रमुख भाग या पुर्जे एक समान ही रहते हैं जो निम्नलिखित है¹³—

1. वार्प—बीम(इंजन)¹⁴—यह एक वेलना कार रॉलर होता है जिस पर कपड़े की लम्बाई के अनुसार ताने के धागे को लपेटा जाता है। यह करघे के अंत में गतिशील होता है और ताने के धागों से भर जाने पर हल्की गति से घुमाकर पलेटते हुए धागों को ढीला छोड़ते रहते हैं, यह क्रिया वस्त्र की बुनाई करते समय बराबर चलती रहती है।

2. हारनेस—लूम पर लगा एक फेम होता है जिसमें असंख्य तार होते हैं जिन्हें हील्ड कहते हैं। ताने के धागों को अलग-अलग रखने के लिए हारनेस का उपयोग किया जाता है। प्रत्येक हील्ड में एक छोटा छिद्र होता है तथा प्रत्येक छिद्र से ताने के एक धागे को गुजारा जाता है। इस प्रक्रिया को ड्राकिंग कहते हैं।¹⁵

3. शटल(तसतम)—शटल का प्रयोग बाने के लिए किया जाता है। शटल में पर्न पर बाने के धागों को लपेटा जाता है।¹⁶

4. रीड—कंधे जैसे लोहे के दांतों से बनी होती है। जिसमें ताने के धागों को हील्ड से गुजारने के बाद रीड के दांतों से निकाला जाता है। इस प्रक्रिया को डेटिंग कहते हैं।¹⁷

इन प्रक्रिया द्वारा हम किसी भी प्रकार के वस्त्रों को हस्तकरघे द्वारा तैयार

किया जा सकता है।

हमारे गांव आज भी भारतीय संस्कृति के ध्वजवाहक बने हुए हैं। ग्रामीण परम्परागत रोजगारों में बढ़ाई, लुहार, मोची, बुनकर आदि के रोजगार आते हैं परन्तु बुनकर प्रमुख रोजगारों में से एक है।¹⁸ वस्त्र निर्माण करने वाले बुनकरों को ऋग्वेद में 'वासोवाय' कहा गया है।¹⁹ ग्राम में प्रचलित कपड़ा बनाने के परम्परागत रोजगार में लगे लोग 'कोली के नाम से जाने जाते हैं।' जिस प्रकार से हम जानते हैं कि व्यक्ति को तन ढकने के लिए पकड़ा तो चाहिए ही इसके अतिरिक्त मौसमानुकूल भी पकड़ों की आवश्यकता पड़ती रहती हैं। गांव की यह सभी आवश्यकता गांव में कोली का रोजगार करने वाले लोग ही पूरा करते हैं।²⁰ इसी प्रकार से उत्तर प्रदेश में स्थित बिजनौर जनपद में ग्राम शिवाला कला जो नक्शे की दृष्टि से अपना कोई विशिष्ट स्थान नहीं रखता।²¹ परन्तु ग्रामीण हस्त करघा महिला कलाकार अपने इस परम्परागत रोजगार का अग्रसर कर रही हैं।²² जैसे की अर्थवेद में भी बुनाई का कार्य अधिकतर महिलाओं द्वारा किए जाने का उल्लेख है। कपड़ा बुनने वाली स्त्रियों को 'वार्यतृ' और 'सिरी' कहा गया है।²³

ग्राम शिवाला कला में हस्त करघा कला का प्रचलन लगभग 60 वर्ष पूर्व से चला आ रहा है। यहाँ के लोग विभिन्न प्रकार की हस्तकलाओं से जुड़े हैं जैसे—कढ़ाई, कशीदाकारी, बुनाई आदि ये इन सभी कलाओं के द्वारा अपने परिवार का पालन पोषण कर रहे हैं परन्तु हस्तकरघा कला कलाकारों के प्रमुख रोजगारों में से एक है।²⁴

हस्तकला कला ग्रामीण कलाकारों के लिए एक रोजगार नहीं कला थी।²⁵ कलाकार अपनी इच्छानुसार यह कार्य करते थे और उन्हें यह कार्य करने में आन्दानुभूति होती थी परन्तु धीरे-धीरे जब उनका कला के प्रति अत्यधिक रुझान होने लगा और वह कला में पूर्ण रूप से लीन होने लगे। शुरु-शुरु में उन्होंने हथकरघा का कार्य कला में रुचि होने व घर पर समय व्यतीत न होने तथा समय का सदुपयोग करने हेतु शुरु किया। धीरे-धीरे बिचौलियों द्वारा कुछ कलाकारों के घरों में करघे लगवाए गए इन करघों के द्वारा इस कला का आदान-प्रदान विभिन्न कलाकारों को किया गया। इस प्रकार करघे का कार्य सभी को आने लगा और शुरु में कलाकारों के द्वारा विभिन्न प्रकार के पर्दे, गलीचे चादर आदि वस्त्रों का निर्माण किया जो उनके दैनिक उपयोग की वस्तुएँ थी। इस प्रकार से धीरे-धीरे उनकी कला का विकास होने लगा और कलाकार विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को सौंदर्य पूर्ण बनाने लगे जिससे वह मनुष्य उनसे और आकर्षित हुए और उनका आयात-निर्यात होने लगा।

इस कारण वर्तमान में कलाकारों की हथकरघा कला ने कला से बदलकर उद्योग का रूप ले लिया है। पहले कलाकारों के द्वारा बनाई गई वस्तुएँ केवल गांवों और कस्बों तक सीमित रहती थी परन्तु अब आयात, निर्यात भारत के विभिन्न राज्यों में बिचौलियों द्वारा होने लगा है।

इस प्रकार हस्त कला ग्रामीण कलाकारों के परिवार का पालन पोषण कर रही हैं, उनके बच्चों की शिक्षा, घर का खर्च आदि का खर्च हथकरघे की आय के द्वारा ही किया जाता है। अतः कहा जा सकता है कि ग्राम शिवाला कला की हस्त करघा कला ने कलाकारों के लिए एक रोजगार का रूप ले लिया है, जो उनके जीवन यापन के लिए अति आवश्यक है, परन्तु मशीनी युग आ जाने के कारण कलाकार दिन प्रतिदिन जितना श्रम करते हैं उन्हें उसके अनुसार उनकी आय नहीं मिलती है।²⁶

सर्वेक्षण के दौरान एक महिला कलाकार द्वारा दिए गए साक्षात्कार का वर्णन—

शकीना की उम्र 50 वर्ष है। इनके चार बेटियाँ पांच बेटे हैं, इनकी तीन बेटियाँ करघे पर कार्य करती हैं इनके घर पर एक करघा बिचौलियाँ बुनकर द्वारा लगवाया गया है। इन्होंने बताया कि इनकी घरेलू स्थिति बहुत अच्छी नहीं है, जिससे यह अपने बच्चों का पालन-पोषण अच्छे ढंग से कर सकें व उन्हें उचित शिक्षा प्रदान करा सकें आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण इनकी तीन बेटियाँ अनपढ़ हैं। उनकी ये तीनों बेटियाँ बचपन से ही हथकरघा कला से जुड़ गई थी, शुरू-शुरू में ये हस्तकला का कार्य रुचिपूर्ण करती थी परन्तु आज यह कला उनके लिए रोजी रोटी बन जाने के कारण मजबूरी बन गई है न चाहते हुए भी उन्हें हथकरघा कला का कार्य करना पड़ता है क्योंकि इस कला के कारण ही उनका परिवार जीवन यापन कर रहा है। शकीना ने बताया कि वह दिन भर चरखे के द्वारा सूत को नाल पर फिराती है उसके बाद उनकी बेटियाँ नालों का प्रयोग करघे पर करती हैं। उनका पूरा दिन इस कार्य को करते-करते व्यतीत हो जाता है। शकीना जी ने बताया कि उनकी बेटियाँ एक दिन में लगभग एक मीटर कपड़ा बुन लेती हैं। जिनमें विभिन्न प्रकार की बुनाई द्वारा विभिन्न डिजाइन बनाए जाते हैं। आजकल बुनाई में चिक का कार्य बहुत प्रचलित है जिसके द्वारा विभिन्न प्रकार के पर्दे बनाए जाते हैं। शकीना के अनुसार उन्हें प्रतिदिन लगभग 100 या 150 रुपये तक की आय हो जाती है जिसे वह अपने घरेलू खर्च एवं अपने छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए बचा कर रखती है।²⁷

हथकरघे की कुछ पंक्तियों को रामधारी सिंह दिनकर के द्वारा इस प्रकार

दर्शाया गया है—

हर जिन्दगीहारे को हरिनाम से
 हर जिंदगी एक सूत है
 और दुनिया उलझे सूतों का जाल है
 इस उलझन का सुलझाना हमारे लिए मुहाल है।
 मगर जो बुनकर करघे पर बैठा है।
 वह हर सूत की किस्मत को पहचानता है।
 सूत के टेढ़े या सीधे चलने का क्या रहस्य है।
 बुनकर इसे खूब जानता है
 हारे को हरिनाम से।²⁸

उपसंहार :

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रदेश का बुनकर एक उत्कृष्ट कलाकार है जिसकी कुशलता के पीछे उनके पूर्वजों से प्राप्त अनेक पीढ़ियों का अनुभव व हस्तलाघव है परन्तु हस्त करघा कला ग्रामीण कलाकारों के लिए रोजगार का साधन बन गई है। मशीनी युग आ जाने के कारण भी कला का पूर्ण रूप से विकास नहीं हो रहा है। कलाकारों को परिश्रम के अनुसार आय न मिलने के कारण कलाकारों की हस्त करघा कला लुप्त होती जा रही है। अतः हथकरघा के कपड़ों की मांग सरकार द्वारा बड़ी-बड़ी कंपनियों में होनी चाहिए जिससे कलाकार अपना जीवन यापन सुखमय पूर्ण कर सकें और हथकरघा कला का कार्य रूचिपूर्ण कर सकें।

संदर्भ ग्रन्थ :

- 1 र.वि., साखलकर, कला कोश, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, तृतीय संशोधित संस्करण, 2011, पृ.सं.—41
- 2 डॉ. बृजमोहन सिंह, डॉ. प्रीती गुप्ता, बरेली की हस्तशिल्प कलाएँ, कुरुक्षेत्र, संपादक, प्रधान संपादक, नीता प्रसाद, जुलाई, 2009, वर्ष—55, अंक—9, पृ.सं.—7
- 3 सरकार तमाल, शिल्पी संकुल, बेहतर भविष्य की ओर, योजना, संपादक, मई, 2011, वर्ष—55, अंक—5, पृ.सं.—13
- 4 डॉ. बृजमोहन सिंह, डॉ. प्रीती गुप्ता, बरेली की हस्तशिल्प कलाएँ, कुरुक्षेत्र, संपादक, प्रधान संपादक, नीता प्रसाद, जुलाई, 2009, वर्ष—55, अंक—9, पृ.सं.—7
- 5 डॉ. चगदीश चद्रिकेश, वैदिक कालीन रूपकाएँ कलाएँ(चित्रमूर्ति एवं वास्तु), अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, पृ.सं.—21
- 6 डॉ. सुधीश कुमार पटेल, बदलते दौर में हस्तकला, कुरुक्षेत्र, जुलाई, 2009, वर्ष—55, अंक—9,

- पृ.सं.—13
- 7 अमर कोष, श्री पं. हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1978, पृ. सं.—325
- 8 मीनाक्षी गुप्ता, परम्परागत भारतीय वस्त्र, प्रकाशन राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 2007, पृ.सं.—3
- 9 डॉ. के. एन. वास्तव, डॉ. मीनाक्षी गुप्ता, परम्परागत भारतीय वस्त्र, प्रकाशन राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 2011, पृ.सं.—9
- 10 नवीन पंत, भारत का हथकरघा उद्योग, फॉरेन ट्रेड बुलेटिन, टवसण.गगए छवण.12ए श्रनदमए 1990
- 11 डॉ. के. एन. वास्तव, डॉ. मीनाक्षी गुप्ता, परम्परागत भारतीय वस्त्र, प्रकाशन राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 2011, पृ.सं.—2
- 12 डॉ. मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेश-भूषा, भारतीय भण्डार, प्रयाग, प्रथम संस्करण, पृ.सं.—36
- 13 डॉ. के. एन. वास्तव, डॉ. मीनाक्षी गुप्ता, परम्परागत भारतीय वस्त्र, प्रकाशन राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 2011, पृ.सं.—3
- 14 www.hi.wikipedia.org
- 15 मीनाक्षी गुप्ता, परम्परागत भारतीय वस्त्र, प्रकाशन राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 2007, पृ.सं.—3
- 16 भवनेमीवसक जंगजपसमे दक स्नदकंतल वताए क्ततहं क्मनसांतए चण.24
- 17 मीनाक्षी गुप्ता, परम्परागत भारतीय वस्त्र, प्रकाशन राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, प्रथम संस्करण, 2007, पृ.सं.—3
- 18 हेमा गांधी, हस्तशिल्प कला से रोजगार, कुरुक्षेत्र, जुलाई, 2009, वर्ष—55, अंक—9, पृ. सं.—3
- 19 स.एफ. मेक्समूलर, ऋग्वेद संहिता, वाराणसी, 1966, पृ.सं.—
- 20 ओम प्रकाश तोषनीवाल जितेन्द्र कुमार, गांवों के परम्परागत धंधे और उनका बदलता स्वरूप, कुरुक्षेत्र, फरवरी, 1990, वर्ष—35, अंक—4, संपादक, राम बोध मिश्र

अनुपमा
रिसर्च स्कॉलर
विजुअल आर्ट विभाग,
वनस्थली विद्यापीठ (राज.)

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

राजस्थान की लघु चित्रकला : रंग के संदर्भ में

सम्पूर्ण प्रकृति विविध रंगों से परिपूर्ण है जिसमें रंग इसमें सदैव से ही आकर्षण का प्रमुख कारण रहे हैं। राजस्थान की कला, संस्कृति, लोकगीतों एवं बोलचाल में रंग ऐसे गहरे रच-बस गये हैं जैसे वे राजस्थान के अभिन्न अंग हो। यहाँ जीवन के हर पक्ष में रंग अपनी पृथक-पृथक भूमिका अदा करते नजर आते हैं। सम्पूर्ण राजस्थान में धार्मिक मेलों, अनुष्ठानों, रीति-रिवाजों एवं उत्सवों आदि के अवसरों पर विविध रंगों के प्रयोग, इस क्षेत्र को सम्पूर्ण विश्व में अपनी विशिष्ट पहचान दिलवाते हैं। भौगोलिक दृष्टि से जहाँ राजस्थान की प्रकृति में रंगों की अल्पता रही है, वहीं यहाँ के निवासियों तथा कलाकारों ने कला एवं दैनिक जीवन में विविध रंगों का प्रयोग करके इनकी क्षतिपूर्ति की है।

राजस्थान की लघु-चित्रकला परम्परा विशुद्ध रंगों के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है। राजस्थानी लघु-चित्रकला में विविध आकर्षक रंगों का सौन्दर्य प्रेक्षक को रसास्वादन तो करवाता ही है साथ ही शताब्दियों पूर्व बने लघु-चित्र, रंगों के दृष्टिकोण से आज भी मन को ताजगी की अनुभूति करवाते प्रतीत होते हैं। राजस्थान के लघु-चित्रों में चटक रंगों का प्रयोग सम्पूर्ण विश्व की कला में बेजोड़ है, वास्तव में राजस्थान विविध रंगों एवं लघुचित्रों के दृष्टिकोण से भारत का सर्वाधिक श्रीसम्पन्न राज्य रहा है। वैसे तो राजस्थान में चित्रकला की परम्परा और भी पुरातन रही है। 15वीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं 16वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में यह परम्परा और नवीन रूप लेती गई।¹ लघु-चित्रों का विकास सम्पूर्ण राजस्थान में धीरे-धीरे अग्रसर होता रहा।

राजस्थान की अजस्रधारा अनेक स्कूलों, रियासतों, शैलियों एवं उपशैलियों को परिप्लावित करती हुई 17वीं-18वीं सदी में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची, जिससे इसका समन्वित रूप सामने आया। इसके विराट परिवेश में अनेक शाखाएँ और उपशाखाएँ समाविष्ट हो गयी,² जो सभी रंगों के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण रही हैं। भौगोलिक तथा शैलीगत विशेषताओं को दृष्टिगत रखते हुए राजस्थानी चित्र-शैलियों को निम्न चार शैलियों एवं उपशैलियों में विभक्त किया जाता है -

1. मेवाड़ शैली

- उदयपुर, नाथद्वारा, प्रतापगढ़ आदि।

2. मारवाड़ शैली — जोधपुर, बीकानेर, नागौर, किशनगढ़ आदि।

3. हाड़ौती शैली — बूंदी, कोटा, झालावाड़ आदि।

4. ढूँढाड़ शैली — जयपुर, अलवर, उनियारा आदि।

उपर्युक्त सभी शैलियों एवं उपशैलियों में चटक रंगों का विरोधी एवं आकर्षक ढंग से प्रयोग दर्शक को मंत्रमुग्ध कर देने वाला तो है ही साथ ही साथ ये रंग चित्रों के माध्यम से संवाद करते जान पड़ते हैं। इन शैलियों में बने चित्रों में विषयानुरूप रंग-संयोजन की प्रधानता रही है।

मेवाड़ शैली के लघु-चित्रों में रंग —

राजस्थानी चित्रकला में ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से मेवाड़ स्कूल का सर्वोपरि स्थान रहा है।⁵ राजस्थान के दक्षिणी प्रदेश में अवस्थित यह भू-भाग मालवा और गुजरात से लगा है तथा अपने प्राकृतिक परिवेश के कारण प्राचीन समय से ही सामरिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। 'राजस्थानी चित्रकला' की जन्मभूमि राजस्थान ही है और उसका आरम्भिक केन्द्र मेदपाट (मेवाड़) रहा है।⁶ मेवाड़ शैली के रंगीन लघु-चित्रों की पृष्ठभूमि पर दृष्टिगत करें तो ज्ञात होता है कि यहाँ की प्रारम्भिक चित्रकला में जो मेवाड़ लोक चित्र शैली से मिलकर रंगों के चटखपन, प्रकृति की अलंकारिक रूप-सृजना की गई है, वह गुजरात व मालवा शैलियों का मिलाजुला प्रभाव है।⁷ उदाहरणों में 'सावग-पडिक्कमसुत्तचुन्नी' (श्रावकप्रतिक्रमण सूत्रचूर्नी, 1260ई.) तथा 'कल्पसूत्र' (1426ई.) के साथ ही 'सुपासनाहचरियम्' (सुपाश्वरनाथचरितम्, 1422-23) ग्रंथ हैं, 'सुपासनाहचरियम्' राजस्थानी लघु चित्रण की भावभूमि एवं जैन, गुजरात शैली के प्रभाव से युक्त अनोखा ग्रंथ है। इसके सैंतीस चित्रों की पृष्ठभूमि लाल एवं हिंगलू रंग से मंडित एवं स्त्री-पुरुषों के वस्त्र हरे, नीले, गुलाबी और श्वेत रंगों से सुसज्जित हैं, जो राजस्थानी लघु-चित्रकला की पृष्ठभूमि को समझने में सहायक हैं। इनके साथ ही साथ गीतगोविन्द, बालगोपाल स्तुति, बसंत विलास, रागमाला, श्रृंगार, ऋतुवर्णन, कृष्ण-लीला आदि विषयों के पट चित्रों में प्रयुक्त रंगों का प्रयोग राजस्थानी लघु-चित्रकला के विकासक्रम को समझने में सहायक हैं।

मेवाड़ में महाराणा जगतसिंह प्रथम का समय (1628 ई.-1652 ई.) महत्वपूर्ण माना जा सकता है, महाराणा जगतसिंह साहित्य एवं कलाप्रेमी राजा थे। उन्होंने राजमहलों में 'चितारों की ओवरी' नाम से कला विद्यालय भी प्रतिष्ठित किया,⁸ जहाँ कलाकार एकत्रित होकर रंगों की पिसाई तथा चित्रांकन आदि कार्य करते थे। इनके समय के प्रमुख चित्रकारों में साहिबदीन और मनोहर रहे, जिनमें से साहिबदीन द्वारा चित्रित 'भागवतपुराण' के चार उपलब्ध स्कन्ध (8,9,11,12) कला की दृष्टि से बेजोड़

हैं, जिनका चित्रांकन 1648 ई. में हुआ। उनके 234 पन्नों में 129 सुन्दर चित्र हैं, जिनमें पीले, लाल, हरे और नीले रंगों का विशेष प्रयोग हुआ है।⁷ लघु-चित्रों में रंगों का विकास मेवाड़ के प्रमुख क्षेत्रों— उदयपुर, नाथद्वारा तथा प्रतापगढ़ आदि में भी दर्शनीय रहा है। मेवाड़ शैली के चित्रों में विशुद्ध रंगों का प्रयोग अधिक हुआ है। साहिबदीन कृत 'मारू रागिनी' इसका उचित उदाहरण है। इस चित्र संयोजन में पृष्ठभूमि को पीले रंग से तथा चित्र की अग्रभूमि में पुरुषों के वस्त्रों में लाल, नीली विशुद्ध रंगों का प्रयोग करके आकृतियों को पृष्ठभूमि से पृथक किया है (देखिये चित्र सं. 1)। मेवाड़ की ही प्रमुख उपशैली देवगढ़ के लघु-चित्रों में मेवाड़ के विपरीत पीले रंग का बाहुल्य नजर आता है।

मेवाड़ स्कूल के रंगों की अपनी निजी विशेषता रही है। परम्परागत मेवाड़ चित्र शैली के लघु-चित्रों में फलक संयोजन को दो भागों में विभाजित किया गया है। पहला किनारे का आकार तथा दूसरा मध्य का आकार। किनारे प्रायः नारंगी व लाल-हिंगलू रंग से लगभग एक व डेढ़ इंच की चौड़ाई में चित्रित किये जाते थे, जैसे साहिबदीन कृत 'मारू रागिनी' चित्र में दृष्टव्य है (देखिये चित्र सं. 1)। प्राचीन चित्रों में इस बाह्य लाल व नारंगी सीमारेखा का अंकन स्थान-स्थान पर सफेद पृष्ठभूमि में भी अच्छा समन्वय स्थापित करता दिखाई देता है साथ ही ध्यान केंद्रित करके दर्शक की दृष्टि चित्र में भली-भांति बांधने में इसकी विशेष भूमिका रही है।⁸ मेवाड़ शैली के पूर्व के लघु-चित्रों में रंगों का चटकपन अधिक है, तो बाद के चित्रों में रंगों में सूफियानापन है, जो मुगल कला के प्रभावस्वरूप आया जान पड़ता है। मिश्रित रंगों का प्रयोग भी तत्कालीन मेवाड़ के लघु चित्रों में देखा जा सकता है। मेवाड़ शैली में प्रकृति चित्रण में भूमि को लाल, हरे व पीले रंगों में चित्रित किया गया है तथा पेड़-पौधों के रंगों में भी हरे रंग की विविधता विशेष दर्शनीय है। रात्रि के दृश्यों में गहरे नीले अथवा धुएँ के रंग की पृष्ठभूमि में सफेद बिन्दियों को लगाकर चित्रकार ने तारों से पूर्ण रात्रि का मनोरम दृश्य चित्रण किया है। स्वर्ण रंग का प्रयोग बादलों में बिजली की चमक दिखाने तथा आभूषण एवं वस्त्रों के किनारे के चित्रांकन में प्रयोग में लिया गया है। मेवाड़ के लघु-चित्रों के साथ ही मारवाड़ की लघु-चित्रकला भी रंगों के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण रही है।

चित्र संख्या 1 'मारू रागिनी'



मारवाड़ शैली के लघुचित्रों में रंग –

राजस्थान की प्रत्येक शैली, उपशैली की अपनी स्वयं की अलग पहचान और अलग से रंग योजना है। मारवाड़ शैली की उपशैलियों में भी चित्रगत मौलिकताएँ दर्शनीय हैं। रंगों के दृष्टिकोण से जोधपुर शैली, बीकानेर शैली के साथ ही किशनगढ़ शैली अपनी विशिष्टताओं के कारण विश्वभर में प्रसिद्ध रही हैं। मारवाड़ शैली के आरम्भिक लघु-चित्रों में 1623 में 'रागमाला' पर बने चित्र महत्वपूर्ण है। रागमाला चित्रों में रंगों का प्रतीकात्मक प्रयोग नजर आता है। रागमाला के साथ ही कृष्ण-चरित्र, ढोलामारु, नायक-नायिका, शिवपुराण, शिवरहस्य, देवी महात्म्य, दुर्गा-सत्पशती, नाथ-चरित्र, सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति, सूरजप्रकाश, पंचतंत्र, कामसूत्र, कृष्ण-रुकमणी, नाथ-सम्प्रदाय आदि विषयों पर बने चित्रों में भी रंगों का सौन्दर्यपूर्ण अंकन किया गया है। इन चित्रों में प्रयुक्त रंग तत्व योजना चित्रों को सजीव बनाती प्रतीत होती हैं।

जोधपुर के लघुचित्रों की रंग-संगति में प्रायः गरुगोली वाला पीला रंग अधिक प्रयोग में लिया गया है। हाशिये लाल और उनकी सीमान्त रेखा पीले रंग से खींची गई है। दक्खिनी कलम के प्रभाव से पृष्ठभूमि में कभी-कभी हरा रंग भी कलाकारों ने भरा है।⁹ इसका उचित उदाहरण जोधपुर के महत्वपूर्ण चित्रकार दाना द्वारा बनाया गया 'चौगानप्लयेर्स' नामक चित्र है। इस चित्र की पृष्ठभूमि में हल्के हरे व नीले रंग के साथ घोड़ों पर सवारों को गहरे रंगों से बनाया है (देखिये चित्र सं. 2)। जोधपुर के लघु-चित्रों में कलाकारों ने बादलों के मध्य कौंधती बिजली को सुनहरे रंग से तथा वास्तु को सफेद रंग से बनाया है।

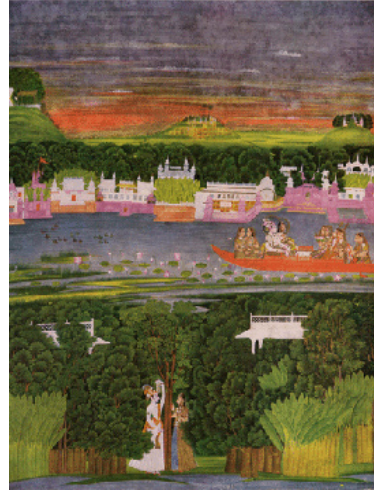


चित्र संख्या 2 'चौगान प्लयेर्स'

जोधपुर शासकों के वंशज द्वारा बसाये गये बीकानेर की कलात्मक धरोहर मारवाड़

शैली के अन्तर्गत आती है। जिस तरह से जोधपुर में प्राथमिक रंगों का वैविध्य रहा है उसके विपरीत बीकानेर के लघु-चित्रों में प्राथमिक के स्थान पर द्वितीयक रंगों का आकर्षक प्रयोग किया गया है। मुगल शैली के प्रभाव स्वरूप बीकानेर के चित्रों में कोमल रंगों का अधिक प्रयोग हुआ है। पीले, नीले व स्वर्ण रंगों के साथ ही लाल, बैंगनी, जामुनी, स्लेटी, बादामी रंगों का प्रयोग शैली की विशेषता रही है।¹⁰ इस शैली में रंगों का सौन्दर्य लघु-चित्रों में इतना लावण्यमय है कि उसका अनुभव दर्शक को आनन्दानुभूति से भर देता है। बीकानेर के चित्रों में जहाँ रंगों का सूफीयानापन नजर आता है वहीं किशनगढ़ के चित्रों में सप्तरंगों की विविध छटाएँ मन मोह लेने वाली है।

किशनगढ़ मारवाड़ क्षेत्र में स्थित है, जो कि प्राकृतिक छटाओं से परिपूर्ण है। किशनगढ़ के लघुचित्रों में कलाकारों ने रंगों के स्वप्निल संसार की रचना का अद्भुत संगम किया है। जिसमें हरे वृक्षों से युक्त घने कुंज, नील गगन में झिलमिलाते तारे, पूर्णिमा का चोंद, नदी व झरने का नीला जल एक ओर मन को शीतलता प्रदान करता है तो वहीं दूसरी ओर ऊषा कालीन रक्ताभ आसमान, मौसम के अनुसार सुनहरा, पीतवर्ण मन को ऊर्जा से भर देता है। यहाँ के चित्रों में प्रयुक्त रंग-योजना सजीव व आकर्षक है। चित्रों में नारी शरीर को गौरवर्ण एवं हल्के गुलाबी रंग से बनाया है वहीं कृष्ण को नीले रंग से बनाया है 'नौका-विहार' नामक चित्र इसका उचित उदाहरण है (चित्र सं.3)।



चित्र संख्या 1

कलाकारों ने अपनी सुन्दर एवं सजीव रंग-योजना के द्वारा रात्रि दृश्यों को भी बखूबी बनाया है साथ ही प्रकृति के चित्रण में भी रंगों का अद्भूत भी प्रयोग कलाकारों ने किया है। आसमान को भूरे, पीले, नीले, लाल, बैंगनी, हरे रंगों के बादलों से बनाया है, ये सभी रंग मिलकर निराली ही छटाओं का परिदृश्य प्रस्तुत करते हैं। विशेषकर श्याम रंग, बादलों का धूसर रंग अधिक देखने को मिलता है। किशनगढ़ के कलाकारों ने चित्रों में रंगों को अपनी विशेष शैली के अनुरूप ही सृजित किया है। चित्रों में गहराई, उभार अथवा छाया का प्रयोग, रंगों के द्वारा ही किया है।¹¹ उदाहरण स्वरूप 'बनी-ठनी' के चित्रांकन में निहालचन्द ने कोमल रंगों का अत्यन्त

आकर्षक ढंग से प्रयोग किया है। बनी-ठनी की पारदर्शी चुनरी को हल्के नीले रंग से तो बनाया ही साथ उस पर सुनहरी रंग से हल्की छापे भी दी है। आभूषण के मोतियों में प्रयुक्त सफेद रंग और हाथों में लगा आलता सहज ही दर्शक की दृष्टि को मोह लेते हैं। किशनगढ़ के प्रमुख शासक नागरीदास अर्थात् राजा सांवतसिंह को रंगों का अच्छा ज्ञान था, वहीं कलाकार निहालचन्द द्वारा बनाये गये चित्रों में रेखाचित्र और वर्णचित्र काव्यों के आधार पर बनाये गये हैं, जो अत्यधिक प्रभावपूर्ण हैं (चित्र सं.1)। किशनगढ़ के चित्रकारों ने विषय की अनुकूलता के अनुरूप वर्ण-संयोजन का प्रयोग कर लघुचित्रों को अधिक प्रभावपूर्ण बना दिया।

किशनगढ़ के चित्रों में जहाँ अनुकूल रंग योजना का प्रयोग हुआ वहीं, विरोधी रंग संयोजन भी आकर्षक ढंग से किया गया है। कृष्ण एवं राधा को भी विरोधी रंग-योजना जैसे – साँवले नीलवर्ण से कृष्ण तथा राधा को गौरवर्ण बनाया है। नागरीदास के एक दोहे में भी रंगों का प्रतीकात्मक प्रयोग नजर आता है –

श्याम सारि गौरी चलत, चॉपि चंहुटियन चार।

मनहुं कंवल के अग्र है, आवत भृग कुमार।।

जरह नरद घनश्याम पिय, दवै अंगुरिन गही लेत।

मनो कोयल की चंचु मैं, पीत अब छविदेत।।¹²

उपर्युक्त दोहे में राधा-कृष्ण के चौपड़ खेलने का वर्णन किया गया है। इसमें राधा की गोटियाँ काली हैं तथा कृष्ण की गोटियाँ पीली हैं। जिस तरह से तन्मय होकर खिलाड़ी चौपड़ खेलते हैं ठीक वही हाव-भाव राधा और कृष्ण के चेहरों पर भी परिलक्षित हो रहे हैं। चित्रकार नागरीदास ने अपने काव्यात्मक दोहों के साथ ही साथ चित्रों में भी सुन्दर रंगों का चित्रांकन किया।

हाड़ौती शैली के लघु चित्रों में रंग –

किशनगढ़ की तरह ही बूँदी शैली के लघु-चित्र भी अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं। बूँदी के चित्रों में हासिये स्वर्ण रेखा से सम्पन्न सिन्दुरी रंग में या पीले अथवा हरे रंग में बने हैं,¹³ जो स्थानीय विशेषताओं के द्योतक हैं। गहरे नीले आकाश में घुमड़ते श्याम वर्ण-बादल,



चित्र सं.4 'राग बसन्त'

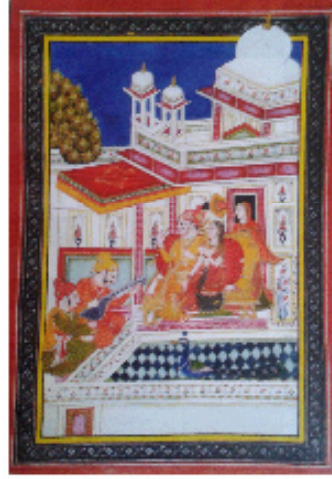
स्वर्ण व लाल रंग के स्पर्शों से युक्त है। लाल, सफेद, पीला व हरा रंग बूंदी के कलाकारों के विशिष प्रिय रहे। नारियों की वेशभूषा में काले रंग के लहंगे, लाल चुनरी व धवल कंचुकी कलाकारों ने बनायी है। पुरुषाकृतियों को नील वर्ण व गौरवर्ण में बनाया है। 'राग बसन्त' नामक चित्र में इन प्रतीकात्मक रंगों का प्रयोग नजर आता है (चित्र सं.4)।

बूंदी के चित्र में प्रकृति के सतरंगे वैभव के साथ ही संयोजित वास्तु, यहाँ की मौलिकता है।¹⁴ रंग-बिरंगे बादलों से युक्त नीला-आकाश, पक्षियों तथा फलों-फूलों का विविधतापूर्ण जैसा चित्रण बूंदी के लघु-चित्रों में किया गया है, वैसा चित्रण किशनगढ़ शैली को छोड़कर अन्यत्र कहीं और मिलना दुर्लभ ही है। कोटा शैली के लघु-चित्रों पर दृष्टिपात करें तो लाल, सुनहरी, हरा तथा सफेद रंग का विशेष प्रयोग किया गया है।

ढूँढाड़ शैली के लघु-चित्रों में रंग -

गुलाबी नगरी अर्थात् जयपुर तथा इसके आस-पास का क्षेत्र ढूँढाड़ कहलाता था, जिसमें अलवर, उनियारा आदि उपशैलियाँ रही एवं शेखावटी क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रहा। मेवाड़, मारवाड़ व हाड़ौती की तरह ही ढूँढाड़ क्षेत्र के लघु-चित्र भी स्थानीय विशिष्टताओं से युक्त हैं। जयपुर शैली के कलाकारों ने चित्रों के हाशिये बनाने में गहरे लाल रंग का प्रयोग किया। सफेद, लाल, नीला तथा हरा रंग भी जयपुर शैली में बहुलता से प्रयुक्त हुआ है। साथ ही साथ चाँदी और सोने का प्रयोग भी उन्होंने चित्रों में किया।¹⁵

अलवर उपशैली में रंगों का चुनाव अलवर शैली का अपना निजी गुण है। चिकने और उज्ज्वल रंगों के प्रयोग में लाल, हरे व सुनहरी रंगों का विशेष प्रयोग लघु-चित्रों में चित्रकारों ने किया है। उदाहरण स्वरूप 'राग-मल्हार' नामक लघु-चित्र में लाल व हरे रंग की अधिकता नजर आती है। प्रकृति के सौन्दर्यपूर्ण अंकन में बादलों को सुनहरी लाल, पेड़ों पर लाल व पीले रंग की विविधताओं के फूल तथा स्त्रियों के वस्त्रों में भी मुख्यतः लाल व सुनहरी रंगों का प्रयोग बूंदी, अलवर के कलाकार ने किया है। एक ही रंग की विविध रंगों का अत्यंत सौन्दर्यपूर्ण अंकन इस कृति में दृष्टव्य है (देखिये चित्र सं.5)।



चित्र सं.5 'राग-मल्हार' अलवर शैली

चित्र सं.6 'श्रीराग', उनियारा शैली

राजस्थान की उनियारा उपशैली में भी रंगों की चटक विविधता देखने को मिलती है, जिसमें मुख्य रंगों (नीला, पीला, लाल) के साथ सफेद एवं हरे रंगों को भी विविध तानों के साथ दर्शाया है। जिसमें 'श्रीराग' के इस चित्र में वाद्य-यन्त्र के साथ गायक को तल्लीन दिखाया है, जो लाल रंग की विभिन्न हल्की-गहरी रंगतों के वस्त्र पहने चित्रित हैं, जबकि सहयागी पुरुष ताल देते हुये हरे एवं पीले वस्त्रों के साथ दर्शाया है। रंगों का विरोधाभाषी प्रयोग होते हुये भी सफेद पृष्ठभूमि को किले की विभिन्न दिवारों के साथ उभारा गया है, जो अति सुन्दर है (देखिये चित्र सं.6)।

राजस्थान की बारहमासा एवं राग-रागिनी चित्रण में रंगों का कमबद्ध प्रभाव भी विशेष उल्लेखनीय है। ऋतुओं के अनुसार चित्रों में प्राकृतिक समयबद्धता को रंगों की विशेष छटा के साथ दिखाने का प्रयास किया है। राग-रागिनी चित्रण में रंगों का विशेष महत्व रहा है। जैसाकि हम 'श्रीराग' चित्र में देख सकते हैं।¹⁶

उपर्युक्त सभी शैलियों में बने लघु-चित्रों में रंगों का अमिश्रित, दीप्तिमान एवं प्रतीकात्मक प्रयोग दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देने वाला तो है ही साथ ही साथ रंग चित्रों में बोलते नजर आते हैं। राजस्थानी लघु-चित्रकला में विषयानुरूप रंग-संयोजन की प्रधानता रही है। कलाकारों ने रंग-संयोजन की दृष्टि से अत्यधिक रोमांचक एवं प्रभावशाली, वातावरण उपस्थित किया है। राजस्थानी लघु-चित्र शैलियों में रंगों का अद्भुत संसार नजर आता है। मेवाड़ शैली के चित्रों में अधिकांशतः प्राथमिक चटक रंगों का बाहुल्य है तो वहीं मारवाड़ शैली के लघु-चित्रों में लाल व पीले रंग की अधिकता है। बीकानेर शैली के रंगों में कोमलता के साथ सूफियानापन दृष्टव्य है तो वहीं किशनगढ़ एवं बूंदी शैली के चित्रों में मिश्रित तथा चटक रंग-योजना ने इन्हें विश्वप्रसिद्ध बना दिया है।

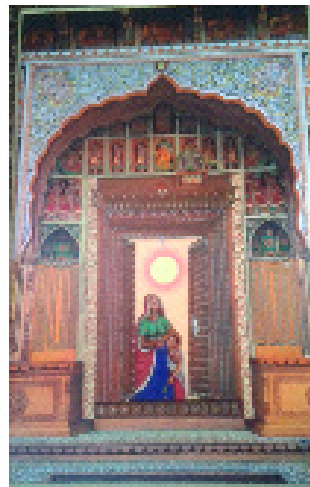
राजस्थान की लघु-चित्र शैलियों में रंगों का वैविध्य बिखरा पड़ा है जो अन्यत्र कहीं ओर देखने को नहीं मिलता है। राजस्थानी चित्रकला के आरम्भिक चित्रों में कला के प्रभाव स्वरूप प्राथमिक रंगों का प्रयोग अधिक हुआ है, बाद में मुगल कला के प्रभाव से रंगों की द्वितीय तानें भी अत्यन्त मनोरम दृश्य प्रस्तुत करती हैं। समसामयिक राजस्थानी लघु-चित्रकला परम्परा का समसामयिक कलाकारों पर भी प्रभाव रहा, जिसमें प्रमुख कलाकार पद्मश्री कृपालसिंह शेखावत, सुमहेन्द्र शर्मा, नाथूलाल वर्मा, कन्हैयालाल वर्मा, शैल चोयल, ललित शर्मा, समन्दर सिन्ध खंगारोत के चित्रों में रंगों का उत्सव नजर आता है तथा महत्वपूर्ण कलाकार सुमहेन्द्र शर्मा, नाथूलाल वर्मा तथा कन्हैया लाल वर्मा के लघु-चित्रों में रंगों का उत्सव नजर आता है(देखिये चित्र सं.7)। नाथूलाल वर्मा तथा कन्हैयालाल वर्मा के लघु-चित्रों में चटक, चमकदार रंगों के साथ ही शीतल रंगों का प्रयोग उनके प्रकृति के प्रति लगाव को दर्शाते हैं। पुष्पा दुल्लर के चित्रों में शेखावटी शैली का प्रभाव देखने को मिलता है। "शेखावटी विरासत" चित्र-शृंखला (देखिये चित्र सं.8) में विविध रंगों के माध्यम से इन्होंने शेखावटी परम्परा की अमूल्य धरोहर हवेलियों को कैनवॉस पर संजोया है। इन कलाकारों का योगदान सदियों से चली आ रही लघु-चित्रण परम्परा को आगे बढ़ाने में रहा है। सदियों पूर्व के लघु-चित्रों को देखें अथवा नवीन लघु-चित्रों को, सभी में रंगों का प्रयोग विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण रहा है, जो सम्पूर्ण कला इतिहास में अपनी मौलिक पहचान रखते हैं।



चित्र सं.7 'पाबूजी', कृपालसिंह शेखावत
दुल्लर

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. नीरज, जयसिंह : राजस्थानी चित्रकला, द्वितीय संस्करण-2009, पृ.सं.21



चित्र सं.8 "शेखावटी विरासत", पुष्पा

राजसमन्द जिले के तीर्थ स्थलों का कलात्मक स्वरूप

राजस्थान के उदयपुर जिले के तहसीलों में से कुछ को पृथक् कर राजसमन्द को अलग जिला बनाया गया। इस जिले की सीमाएँ भीलवाड़ा, अजमेर, उदयपुर जिलों को छूती हैं।

क. श्री रूपनारायणजी - राजस्थान की राजधानी जयपुर से ञ्यावर-भीम उदयपुर मार्ग पर गोमती चौराहे से क किलोमीटर जोधपुर मार्ग (देसूरी की ओर) पर चलने पर 'चारभुजाजी का मन्दिर' है। चारभुजाजी से ५ कि.मी. दूर सेवत्री ग्राम में श्री रूपनारायणजी का भव्य मन्दिर है। नाथद्वारा से चारभुजाजी होते हुए यहाँ तक बस आती है। यहाँ श्री रामचन्द्रजी ही श्री रूपनारायण नाम से प्रसिद्ध हैं। पास में पर्वत से एक नदी निकलती है, जिसे गोमती कहते हैं। श्री रूपनारायणजी का मन्दिर विशाल है। मन्दिर में श्यामवर्ण श्री मूर्ति है। ये उदयपुर महाराणाओं के पूज्य रहे हैं किन्तु वे एक शापवश गद्दी पर बैठने के पश्चात् श्रीरूपनारायणजी के दर्शन नहीं कर सकते। गद्दी पर बैठने से पूर्व दर्शन करने युवराज जाया करते हैं। चारधामों, नाथद्वारा, द्वारकाधीश, एकलिंगजी व चारभुजाजी के साथ-साथ इस स्थल के प्रति भी जन-सामान्य की अपार श्रद्धा है तथा मेवाड़ के इन चार धामों की यात्रा करने वाले इसके दर्शनार्थ भी अवश्य आते हैं।

ख. श्रीनाथद्वारा - श्रीनाथद्वारा राष्ट्रीय राजमार्ग ८ पर स्थित होने के कारण सीधा दिल्ली अहमदाबाद एवं ब बई से जुड़ा है। श्रीनाथद्वारा उदयपुर से ५ मील (८ कि.मी.) दूर स्थित है। नाथद्वारा रेल्वे स्टेशन से मु य मन्दिर क्व कि.मी. दूर है। श्रीनाथजी के मन्दिर का निर्माण अन्य भारतीय मन्दिर की भाँति कलात्मक ढंग से नहीं किया गया है। वैसे तो स पूर्ण मन्दिर पका बना हुआ है किन्तु निज मन्दिर की छत आज भी खपरैल की बनी हुई है। अतः इसका वास्तुशिल्प, मन्दिर की तरह न होकर गृह समान है। श्रीनाथजी का आवास स्थान होने के कारण निज मन्दिर के ऊपर कलश, सुदर्शन चक्र एवं सप्त

ध्वजा है।

मु य मन्दिर में प्रवेश के तीन प्रमुख मार्ग हैं- क. प्रथम मार्ग चौपाटी से लाल दरवाजे होकर आता है, यहीं से नगरखाना होकर गोवर्धन पूजा चौक में पहुँचा जाता है, जहाँ से सीधा सामने द्वार दिखाई देता है, जिसे 'सूरजपोल' नाम से पुकारते हैं। आजकल नवीन व्यवस्था के अनुसार यहाँ से दर्शन के लिए केवल महिलाओं का प्रवेश होता है। वहाँ से दाहिने सीढ़ चढ़कर 'धोली पटिया' पहुँचकर वहाँ से 'कमल चौक' पहुँचने के लिए सिंहपोल होकर जाना पड़ता है। सिंहपाल से ही ध्वजा के दर्शन होते हैं। हाथीपोल, रतनचौक व 'डोल तिवारी' में पहुँच कर श्रीनाथजी के दर्शनों से भक्तिगण लाभान्वित होते हैं।

ख. मन्दिर में प्रवेश का दूसरा मार्ग मोती महल होकर श्रीनवनीत प्रियाजी तथा कृष्णा भण्डार होता हुआ गोवर्धन पूजा चौक में पहुँचता है।

प. तीसरा मार्ग परिक्रमा के मार्ग में 'प्रीतमपोल' होकर 'धोली पटिया' पहुँचता है। आजकल प्रीतमपोल से सीध में बने द्वार के खुलने से सीधा कमल चौक पहुँचा जाता है।

श्रीनाथजी का स्वरूप-भगवान श्री गोवर्द्धननाथजी समस्त पुष्टिमार्गीय भक्तों के प्राण हैं। श्रीनाथजी के स्वरूप की भावना श्री गोवर्द्धन पर्वत धारण करने की है। भक्ति उसी के अनुसार ही स्वरूप का ध्यान रखकर उसकी सेवा करते हैं। 'गोवर्धनाधीशरूप मूलरूपानुसारतः' के अनुसार ही श्रीनाथजी का यह स्वरूप है। अपने भक्तों को निमन्त्रण देने के लिए अपना वज्रहस्त ऊपर किये हुए हैं और दूसरा हस्त मुट्ठी बन्द कर कटि के पास रखे हुए हैं। कटि स्थान-काम का सूचक माना गया है। उस पर मुट्ठी बन्द कर श्रीनाथजी भक्तों को काम-वासना पर नियन्त्रण का निर्देश दे रहे हैं।

श्रीनाथजी का विग्रह बाहर से चौकोर तथा अन्दर से गोल द्वार के आकार का है। श्रीनाथजी का वर्ण श्याम है। शास्त्रों में शृंगार रस का वर्ण श्याम माना गया है। श्रीजी तो स्वयं शृंगार रसात्मा हैं। इसी कारण उनका वर्ण भी श्याम है और दोनों भुजाएँ विशेष मुद्रा में हैं, ऊध्व्र भुजा गोवर्द्धन पर्वत धारण की भावना का सूचक और दाहिनी भुजा भक्तों के रक्षक नृत्यभाव की सूचक है।

श्रीनाथजी के पीठक में चारों ओर जो चिह्न हैं वे इस प्रकार हैं- श्रीनाथजी के मस्तक पर एक शुक है। उसके दाहिनी ओर दो मुनि तथा बांयी ओर एक मुनि विराजे हुए हैं। एक मुनि के नीचे क्रमशः मेष, सर्प और दो गाये हैं तथा दायीं ओर मुनियों

के नीचे क्रमशः मत्स्य, नृसिंह तथा दो मयूर हैं। गले में वरणमाला के स्थान पर काला सर्प है। स पूर्ण विग्रह में बाकी स्थान पर गिरि कन्दराओं की छवि है।

मन्दिर के दर्शनीय स्थलों में सुदर्शन चक्र व ध्वजा, धोली पटिया, कमलचौक, रतनचौक, डोल तिबारी, अनारचौक, षष्ठी कोण, मणि कोठा, श्रीनवनीतप्रियाजी का मन्दिर व उद्यान, श्रीमद् वल्लभाचार्यजी की बैठक, भीतरी परिक्रमा, बाहरी परिक्रमा आदि प्रमुख हैं। मन्दिर की व्यवस्था से स बन्धित स्थलों में गहना घर, खर्च भण्डार, श्रीकृष्ण भण्डार, खासा भण्डार, प्रसाद भण्डार, शाकघर, दूधघर, पानघर, फूलघर, मिश्रीघर, पेड़ाघर, पातालघर, गुलाबघर, वस्त्रघर, दर्जीघर, खरासघर, रसोईघर, विद्या विभाग आदि प्रमुख हैं। प्रतिदिन श्रीनाथजी के आठ दर्शन होते हैं— मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, सन्ध्या आरती तथा शयन।

मन्दिर के उत्सव

चैत्र - चैत्र प्रतिपदा को संवत् प्रारंभ होने से वर्ष प्रतिपदा का उत्सव होता है। इस दिन पुष्पों की मण्डली बनाई जाती है जो आकर्षक होती है। ठाकुरजी को विशेष भोग धराये जाते हैं। फ, ब, भ, म को चुन्दडिया गुलाबी, हरी तथा कजरी गणगौर के उत्सव मनाये जाते हैं। इस माह का दूसरा उत्सव 'रामनवमी' का है। अन्य जन्मोत्सवों की तरह ही यह उत्सव मनाया जाता है। इस दिन सवेरे श्रीनाथजी को पंचामृत से स्नान कराया जाता है।

वैशाख - इस माह महाप्रभुजी का जन्मोत्सव होता है। इस दिन सायंकाल बैण्ड-बाजे के साथ श्रीनाथजी मन्दिर की परिक्रमा की जाती है। श्रीवल्लभाचार्य के जीवन से स बन्धित प्रवचन होते हैं। वैशाख चतुर्दशी को नृसिंह चतुर्दशी उत्सव मनाया जाता है।

ज्येष्ठ - गर्मी की अधिकता से इस माह कई बार डोल तिबारी में जल भरा जाता है, श्रीनाथजी को चन्दन धारण एवं पुष्प मालिकाओं से शृंगार कराया जाता है, पूर्णिमा के दिन श्रीनाथजी 'जलयात्रा' करते हैं। उस दिन वेद मन्त्रों से श्रीनाथजी को स्नान कराया जाता है व असंय आमों का भोज कराया जाता है।

आषाढ़ - आषाढ़ शुक्ल तृतीया को इस माह का सबसे बड़ा उत्सव 'रथयात्रा' का है। उस दिन श्रीनाथजी के स मुख चाँदी का रथ रखा जाता है तथा श्रीनाथजी को एक लाख आमों का भोग लगाया जाता है।

श्रावण - इसमें स्वर्ण, रजत, काँच, पुष्प, चन्दन पत्र आदि के हिण्डोले प्रमुख हैं। श्रावण कृष्ण दशमी को 'हाण्डी उत्सव' होता है। उस दिन काँच के जडाव का हिण्डोला

होता है। हरियाली अमावस्या को चन्दन पत्रका, ठकुरानी तीज को काँच का तथा रक्षा बन्धन को काँच के पाटियों का हिण्डोला होता है। इनके दर्शन अत्यन्त मनोरम होते हैं। हिण्डोलों के दिन ठाकुरजी की गोद में श्री मदनमोहनजी विराजमान होते हैं।

भाद्रपद - भाद्रपद कृष्ण प्रतिपदा को सुवर्ण का हिण्डोला होता है। यह षष्ठ फीट ऊँचा है। श्रीनाथजी उस दिन सोने के मण्डप में विराजते हैं तथा श्रीनवनीतप्रियाजी श्रीनाथजी की गोद में विराजते हैं। जन्माष्टमी - इस दिन प्रातः श्रीनाथजी को पंचामृत में स्नान कराया जाता है। रात्रि को बारह बजे कृष्ण जन्म के दर्शन होते हैं। इक्कीस तोपों से कृष्ण जन्म का स्वागत किया जाता है। प्रभु की सभी लीलाओं को उस दिन दोहराया जाता है। नन्दोत्सव - जन्माष्टमी के अगले दिन प्रातः नन्दोत्सव होता है। उस दिन श्रीनाथ के स मुख श्री नवनीतप्रियाजी को पालने में पधराया जाता है। पुजारी ही नन्द, जसोदा व गोप आदि बनकर नाचते गाते हैं। उन पर दूध व दही के मटके उड़ेले जाते हैं। सारे स्थान में दूध दही की नदियाँ बहने लगती हैं। भाद्रपद शुक्ला अष्टमी के दिन राधाष्टमी तथा त्रयोदशी को वामन जयन्ती का उत्सव होता है।

आश्विन - प्रतिपदा से अमावस्या तक केले के पत्र, पुष्प, पंखुडियों एवं पुण्य कलियों से चिक्काकर्षक झाँकियाँ तैयार की जाती हैं।

कार्तिक - इस माह का प्रमुख उत्सव दीपावली है। मन्दिर में दीपमाला की जाती है। श्रीनाथजी का अनुपम शृंगार किया जाता है। काँच का मण्डप बनाकर नवनीतप्रियाजी को वहाँ बिठाया जाता है। दूसरे दिन भारत भर में प्रसिद्ध अन्नकूट का उत्सव होता है। सायंकाल गोवर्धन चौक में गोबर का गोवर्द्धन बनाकर पूजा की जाती है। गौ-पूजन के बाद दो प्रधान बैलों से उनको गुदाया जाता है। बाद में ग्वाल मन्दिर मार्ग में बैलों को खिलाते जाते हैं। गोवर्द्धन पूजा के बाद मन्दिर के द्वार बन्द कर दिये जाते हैं। कार्तिक शुक्लाष्टमी को गोपाष्टमी मनाई जाती है। उस दिन गायों को थूली खिलायी जाती है।

मार्गशीर्ष - इस मास में वर्तमान गोस्वामीजी का जन्मोत्सव होता है। उस दिन सुवर्ण मण्डप में श्रीनाथजी विराजते हैं।

पौष - गोस्वामी विठ्ठलनाथजी का जन्मोत्सव पौष कृष्ण नवमी को अन्य उत्सवों के समान ही मनाया जाता है।

माघ - बसन्त पंचमी के दिन बसन्त पूजा होती है। उस दिन से मन्दिर में गुलाल उड़ना प्रारंभ हो जाता है। होलिका दण्ड की भी स्थापना इसी दिन होती है। श्रीनाथजी के आठ दर्शन भी इसी दिन से होते हैं।

फाल्गुन - श्रीनाथजी का पाटोत्सव इसी माह होता है। वास्तव में पूरे माह ही

उत्सव होते हैं। 'डोल' उत्सव प्रमुखोत्सव है। पुष्प पत्रों का डोल तैयार किया जाता है। श्रीनवनीतप्रियाजी को श्रीनाथजी के स मुख झुलाते हैं। उसमें भोग चार होते हैं। डोल के दिन नगर में धुलण्डी मनायी जाती है।

भगवान् श्री गोवर्धननाथजी के 'प्राकट्य' के स बन्ध में गर्गसंहिता में भविष्यवाणी की गई थी। संवत् क्ष्म की श्रावण कृष्णा तृतीया को ऊर्ध्वभुजा का प्राकट्य श्री गिरिराजजी पर हुआ। कुछ दिनों पश्चात् श्रावण शुक्ल पंचमी को ब्रजवासियों ने पर्वत पर आकर भुजा के दर्शन कर उसकी पूजा-अर्चना की। ऊर्ध्वभुजा के प्राकट्य के अनन्तर चैत्र कृष्ण एकादशी संवत् क्ष्म को भगवान् श्रीनाथजी के मुखारविन्द का प्राकट्य हुआ, उसी दिन रायपुर के च पारण्य में महाप्रभुजी का भी जन्म हुआ। स्वामी और सेवक के रूप में श्रीजी और महाप्रभुजी का प्राकट्य एक अलौकिक घटना थी।

पंजाब के सेठ पूरणमल को स्वप्न में श्रीनाथजी के मन्दिर निर्माण कराने का आदेश मिला। उसने महाप्रभुजी का आज्ञा से हीरामणि नामक मिस्त्री के माध्यम से संवत् क्ष्म वैशाख शुक्ल तृतीया को मन्दिर की नींव रखी। उस समय पूरणमल ने एक लाख रुपये दिये। बीस वर्ष में मन्दिर बना। वि.सं. क्ष्म वैशाख शुक्ल तृतीया को पाटोत्सव हुआ।

चातुर्मास के पूर्ण होने पर मार्ग में अनेक गाँवों को पवित्र करते हुए मेवाड़ में श्रीनाथजी का रथ सिंहाड नामक स्थान पर आकर रुका। इस प्रकार ब्रज से सिंहाड पहुँचने में दो वर्ष पाँच माह व सात दिन लगे। संवत् क्ष्म में फाल्गुन कृष्ण सप्तमी शनिवार के दिन वेदोक्त रीति से श्रीदामोदरजी महाराज ने श्रीनाथजी को मन्दिर में प्रतिष्ठित किया। इस मन्दिर के पास जिस ग्राम का विकास हुआ वह 'श्रीनाथद्वारा' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

फ. चारभुजाजी (श्रीगढबोर) - श्रीगढबोर नाथद्वारा से लगभग अड़तीस कि.मी. कांकरोली से बर्सीस कि.मी. दूरी पर स्थित है। यहाँ का निकटतम रेल्वे स्टेशन आमेट चारभुजाजी है। यह छोटा-सा ग्राम चारभुजाजी के विशाल मन्दिर एवं श्रीकृष्ण की चमत्कारपूर्ण भव्य प्रतिमा के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हो गया है।^१

मन्दिर में महाराणा साहब श्री भीमसिंहजी ने संवत् क्ष्म का प्राचीनतम शिलालेख उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य शिलालेखों की नकल 'श्री गढबोरनाथ का इतिहास' नामक पुस्तक में उपलब्ध होती है।^१ प्रसिद्धि है कि चारभुजाजी की इस विशाल प्रतिमा की पूजा द्वार युग में पाण्डव किया करते थे।

भगवान् द्वारा प्रदत्त इन मूर्तियों में प्रथम मूर्ति की स्थापना श्री चारभुजाजी के नाम से गढबोर में एवं द्वितीय की श्री रूपनारायण के नाम से सेव श्री ग्राम में हुई। आज भी सुदामा गोप के वंशज इस मन्दिर में सेवा कार्य कर रहे हैं। गर्भगृह में भगवान् विष्णु

की चतुर्भुज मूर्ति है। मन्दिर में काँच का काम खूबसूरती से किया गया है। मन्दिर की बांयी ओर तिबारे में चित्रों के माध्यम से कृष्ण लीलाओं का चित्रण किया गया है। मन्दिर से दाहिनी ओर बड़े दरवाजे के बाहर कुण्ड है, जिसमें बड़े-बड़े मेलों के अवसर पर श्रद्धालु स्नान भी करते हैं। प्रत्येक भाद्रपद शुक्ल एकादशी को गढबोर में विशाल मेला लगता है जिसमें मेवाड़ के अतिरिक्त शेष राजस्थान, गुजरात तथा मध्यप्रदेश के लोग भाग लेते हैं। मनोकामना सिद्धि के लिए चारभुजाजी को इन क्षेत्रों में पूरी मान्यता प्राप्त है।

ब. कांकरोली (द्वारिकाधीशजी) - श्री वल्लभाचार्य स प्रदाय के अनुयायी वैष्णवों के सबसे वि यात मन्दिरों में से दो इसी प्रदेश में हैं। ये हैं 'नाथद्वारा के श्रीनाथजी' और 'कांकरोली के श्री द्वारिकाधीशजी'। ऐसे इनकी गणना मेवाड़ के चार धामों में की जाती है।

कांकरोली वल्लभ स प्रदाय के सात उपपीठों में प्रमुख पीठ है। यहाँ श्री द्वारिकाधीश के रूप में भगवान् श्रीकृष्ण की मनोहारी झाँकी के दर्शन होते हैं। कहा जाता है कि अपनी दानशीलता एवं न्यायप्रियता के लिए इतिहास प्रसिद्ध 'महाराजा अ बरीष' इसी प्रतिमा की आराधना करते थे।¹

वर्तमान मन्दिर काफी विस्तृत है। बड़े दरवाजे से प्रवेश करते ही सामने सीढ़ियाँ चढ़कर अन्दर जाने पर सामने ही द्वारिकाधीशजी के लघु विग्रह के दर्शन होते हैं। मु य मन्दिर के समीप 'मथुराधीशजी का भी मन्दिर' है। मन्दिर की सीढ़ियों के दाहिनी ओर ही लघु मार्ग से जाने पर मन्दिर के पृष्ठभाग में लहलहाती राजसमन्द झील है। यहाँ के विभिन्नोत्सवों में अन्नकूट, जन्माष्टमी, जलझूलनी एकादशी, फागोत्सव आदि प्रमुख हैं। वर्तमान मन्दिर का निर्माण 'महाराणा राजसिंह' ने सन् १७२६ में करवाया था।

कांकरोली के गुसाईं (आचार्य) वल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र विट्ठलनाथ के तीसरे पुत्र के वंशज हैं। मेवाड़ के राणा यहाँ के आर्यों के शिष्य होते आए हैं तथा मन्दिर की पूजा के लिए मेवाड़ राज्य की ओर से इक्कीस ग्राम मन्दिर को प्राप्त हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. वल्लभजी (संस्कृत), क 31, गणक 1, श्रीक 1, 1957, ऋ. 297
2. वल्लभजी (संस्कृत), ऋ. 297
3. 'जल अन्नकूट' श्रृंखला संस्कृत वज्रक, ऋ. 4-15
4. वल्लभजी (संस्कृत), ऋ. 297

अनित कुमार शर्मा
कला प्रवक्ता,
नई दिल्ली

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

नन्दलाल बसु : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

बीसवीं शती के प्रारंभ में बंगाल शैली एक निश्चित दिशा में कदम बढ़ा चुकी थी, किन्तु अखिरकार पूर्णता और परिपक्वता के स्तर पर प्रयास अभी जारी थे। शची रानी गुट्टू के अनुसार, “नन्दलाल बसु इस नये मोड़ पर एक महान् सर्जक सिद्ध हुए।”¹ नन्दलाल बसु अपने समकालीन चित्रकारों में काफी अग्रणी रहे हैं। उनकी कला में भारतीय कला के प्रति उनका लगाव और गहन अनुभूतियों की ही अखिरकार साकार हुई है। कलागुरु अवनीन्द्रनाथ की परंपरा को उन्होंने सींचा है। ‘शिव सिद्ध’ कलाकार के रूप में प्रसिद्ध बसु की कला में परंपरा का प्रस्फुटन, जीवन के उत्सव, संघ और स्वप्न आदि ने अपना रूप पाया है। तत्कालीन परिवेश में उन्हें ‘अधुनातन कला’ का मुहावरा गढ़ा था, जिसमें उनकी प्रयोगधर्मिता के नए आयाम दृष्टिगोचर होते हैं, वह आज परिदृश्य पर साफ दिखाई दे रहा है।

भारतीय कला के पौराणिक स्वरूप को आधुनिक युग की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित करने वाले नन्दलाल बसु का जन्म पंद्रह दिसंबर, सन् 1905 को बिहार राज्य के मुंगेर जिले में एक छोटे से कस्बे खड़गपुर में हुआ था। उनके पिता पूर्वचन्द्र बसु मूलतः बंगाली थे और दरभंगा नरेश की खड़गपुर तहसील में एस्टेट मैनेजर और वास्तुविद् के पद पर कार्यरत थे। उनकी माँ एक सुरुचि संपन्न, धार्मिक महिला थी और शिल्पकला में निपुण थी। दुर्भाग्य से मात्र आठ वर्ष की अल्पायु में ही उनकी माता देहान्त हो गया और वे उनके स्नेह तथा सान्निध्य से वंचित हो गए। बचपन में बसु का अधिकांश समय मिट्टी के खिलौने बनाने, नदी के पाटों को निहारने और जल में उठी लहरों को गिनने तथा उनसे खेलने में बीत रहा था, साथ ही उनके आसपास का परिवेश भी कुंआर, लोहार, बढ़ई आदि शिल्पकारों का था। अब उनकी पढ़ाई की आवश्यकता को देखते हुए पास के एक विद्यालय में बसु को दाखिला दिया गया। सन् 1917 ई. में मिडिल कक्षा पास करने के उपरान्त उन्होंने कलकत्ता आकर खुदीराम बसु स्कूल से सन् 1920 में एंट्रेंस की परीक्षा पास कर ली। किन्तु अब कॉलेज की पढ़ाई में उनका मन नहीं लगता था। वे

हमेशा कुछ न कुछ बनाते रहते क्योंकि कला सीखने की एक अहम् भावना उनके मन में बराबर पल रही थी। कॉलेज से पुस्तक खरीदने और कॉलेज की फीस भरने के पैसे से वे 'प्रवासी', 'मार्डन रिव्यू' आदि समकालीन पत्रिकायें खरीदते और उनमें प्रकाशित राफेल, रवि वर्मा आदि के चित्रों की अनुकृतियाँ बनाया करते थे।

ख़ूब वर्ष की उम्र में बसु का विवाह सुधीरा देवी से हो गया। लगभग तेईस वर्ष की उम्र में अपने चचेरे भाई अतुल मित्र की प्रेरणा से बसु ने कलकत्ता कला विद्यालय में प्रवेश लिया। यहाँ दाखिला मिलने में बसु को बहुत कठिनाई हुई थी। यह संयोग ही था कि नन्दलाल दाखिले के लिए लाए गए सिफारिशी पत्र के साथ अपने द्वारा बनाई गई एक कृति 'महाश्वेता' भी लाये थे। हैवेल ने उस चित्र को देखा और बहुत प्रभावित हुए। इस चित्र की बदौलत ही उन्हें दाखिला मिला।¹ सन् १९०५ में कला विद्यालय में प्रवेश लेकर बसु ने अवनीन्द्रनाथ के सान्निध्य में कला-प्रशिक्षण प्राप्त किया। यहाँ उन्होंने रामायण, महाभारत, पुराण आदि भारतीय प्राचीन विषयों पर आधारित चित्र बनाना प्रारंभ किया। उनके कार्य से प्रसन्न हो अवनीन्द्रनाथ ने उन्हें सन् १९०५ से ही साठ रुपये की मासिक छात्रवृत्ति देना प्रारंभ किया जो उन्हें शिक्षा-पूर्ण होने तक मिलती रही।

सन् १९०८ में इंडियन सोसायटी ऑफ ओरिएंटल आर्ट प्रथम प्रदर्शनी में नन्दलाल को 'सती दाह' और 'सती का देह त्याग' शीर्षक चित्र पर पाँच सौ रुपये का पुरस्कार प्राप्त हुआ। सन् १९०९ से १९१० के मध्य नन्दलाल ने अपनी कला शिक्षा पूर्ण की। सन् १९१० में वह लेडी हेरिंग्टन के साथ असित कुमार हालदार, समरेन्द्रनाथ गुप्त और वैकटप्पास सहित अजन्ता के भ्रमण चित्रों की प्रतिकृतियाँ करने गए। यहाँ वह अजन्ता से बहुत प्रभावित हुए, जो उनके चित्रों में भी झलकता है। आगे चलकर अवनीन्द्रनाथ और राजकीय कला विद्यालय, कलकत्ता के तत्कालीन प्रधानाचार्य पर्सी ब्राउन के वैचारिक मतभेद होने के कारण अवनीन्द्रनाथ ने वहाँ से त्यागपत्र देकर जोडासांको स्थित अपने आवास में कला की कक्षाएँ लगाना प्रारंभ कर दिया। पर्सी ब्राउन नन्दलाल की कला से काफी प्रभावित हुए थे, अतः उन्होंने नन्दलाल को कला विद्यालय में नौकरी का प्रस्ताव दिया। पर उन्होंने अवनीन्द्रनाथ के साथ जोडासांकों में काम करने के निमन्त्रण को वरीयता दी। वस्तुतः जोडासांको टैगोर परिवार का पुश्तैनी घर था और वहाँ उन्हें अपने भावात्मक एवं बौद्धिक स्तर को उठाने में भी मदद मिली। यहाँ वह ए.के. कुमारस्वामी, सिस्टर निवेदिता, ओकाकुरा और रवीन्द्रनाथ टैगोर के संपर्क में आये।² यहाँ उन्होंने कुमारस्वामी और सिस्टर निवेदिता द्वारा लिखित पुस्तक 'मिथ्स एण्ड लिजेंड्स ऑफ हिंदूज एण्ड बुद्धिस्ट' के लिए चित्रांकन किया। उन्होंने रवीन्द्रनाथ की कृति 'चयनिका'

आदि के लिए भी चित्रांकन किया। रवीन्द्रनाथ के निमंत्रण पर नन्दलाल सर्वप्रथम सन् १९०६ में शांति निकेतन आये थे। उनके प्रथम आगमन पर रवीन्द्रनाथ ने आश्रमवासियों के साथ आम्रकुंज में उनकी अर्थना की। रवीन्द्रनाथ ने स्वयं उचित अवसर पर उनके स मान में उन पर कविता रची और उसका पाठ किया।⁴ सन् १९०६ में नन्दलाल और मुकुल डे ने रवीन्द्रनाथ के साथ सियालदाह में पद्मा नदी के किनारे नाव पीर वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य और ग्रा य जीवन को निहारा। सन् १९०६ में नन्दलाल ने 'विचित्रा' नामक एक सांस्कृतिक गोष्ठी की स्थापना में रवीन्द्रनाथ को सक्रिय सहयोग दिया। इस गोष्ठी में समय-समय पर देश-विदेश के कई विचारक और कलाविद् आते रहते थे। कुछ समय के लिए यहाँ अर्राई के पो, हिशिदा आदि जापानी कलाकारों का आना हुआ। नन्दलाल ने उनके साथ काम करते हुए जापानी ढंग से चित्रांकन करने की तकनीक सीखी। किन्तु लगभग दो वर्ष के उपरान्त ही यह गोष्ठी बंद हो गई। इसके पश्चात् नन्दलाल ने जगदीश बसु के अनुरोध पर 'बसु विज्ञान मंदिर' की दीवारों पर महाभारत की कथाओं पर आधारित भिक्का चित्र बनाए।

नन्दलाल आर भ से ही अवनीन्द्रनाथ के साथ ओरिएंटल आर्ट सोसायटी से जुड़े हुए थे। किन्तु वे सप्ताह में एक दिन शांति निकेतन आकर, वहाँ बच्चों को चित्रकला की शिक्षा देते थे। सन् १९०६ में उन्होंने रवीन्द्रनाथ की कृति 'गीतांजलि' के आधार पर चित्र बनाए। अब उन्होंने सोसायटी के कार्य से त्यागपत्र देकर सन् १९०६ से शांति निकेतन में स्थायी रूप से रहना प्रारंभ कर दिया। वहाँ रवीन्द्रनाथ के निकट स पर्क में आने के बाद उन्हें एक नयी अनुभूति मिली। इस सन्दर्भ में उन्होंने स्वयं कहा है कि, "शिल्प गुरु अवनीन्द्रनाथ ने चित्रकला की शिक्षा दी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने तृतीय नयन दिया।"⁵ सन् १९०६ में नन्दलाल अपने साथी असित कुमार हालदार आदि के साथ बाघ के गुफा चित्रों की प्रतिकृतियाँ करने के लिए गए। सन् १९०६ में हालदार के कला भवन का अध्यक्ष पद छोड़ने पर नन्दलाल वहाँ के अध्यक्ष नियुक्त हुए। सन् १९०६ में वह रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ चार महीने की चीन और जापान की यात्रा पर गये। वहाँ वह चीन और जापान की कला के प्रत्यक्ष स पर्क में आये। वहाँ की कला से प्रभावित होकर उन्होंने उनकी तकनीक को अपने चित्रों में अपनाया। इसके उपरान्त सन् १९०६ में वह रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ श्रीलंका की यात्रा पर गये। इसी वर्ष बड़ौदा राज्य के आमंत्रण पर वह अपने चौबीस शिष्यों सहित बड़ौदा गये, वहाँ कीर्ति मंदिर नामक राजप्रासाद की दीवारों पर भिक्का चित्रों की रचना की। इन चित्रों में उनका बनाया 'गंगावतरण' विषयक भिक्का चित्र विशेष उल्लेखनीय है।⁶

नन्दलाल महात्मा गाँधी के भी प्रत्यक्ष सपर्क में रहे। गाँधीजी ने नन्दलाल से कहा था कि, “चित्र साधना घर के लिए मत करो, बाहर के लिए करो। मार्ग में रखने के लिए चित्र बनाओ जिन्हें गाँव के आदमी भी देखें।”⁷ इस सन्दर्भ में नन्दलाल ने सन् १९११ में लखनऊ (उत्तरप्रदेश), सन् १९१२ फैजपुरा (महाराष्ट्र) तथा सन् १९१३ में हरिपुरा (गुजरात) में आयोजित हुए कांग्रेस के अधिवेशनों के लिए पंडाल की सज्जा की थी। उन्होंने हरिपुरा में कामगार भारतीय जनों के भावुकतापूर्ण कुछ चित्र बनाये थे, जो ‘हरिपुरा पोस्टर्स’ के रूप में प्रसिद्ध हुए।

सन् १९१४ में कला भवन के अध्यक्ष पद से सेवा निवृत्ति के उपरान्त राष्ट्रीय ललित कला अकादमी के प्रथम अध्यक्ष के लिए नामित किया गया, किन्तु अस्वस्थता के कारण नन्दलाल ने उसे स्वीकार नहीं किया। सन् १९१५ में अकादमी ने प्रथम रत्न सदस्यता देकर उनका स मान किया। सन् १९१६ में वह पद्म भूषण से विभूषित हुए। नन्दलाल काशी विश्वविद्यालय विश्वभारती विश्वविद्यालय तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा मानद ‘डॉक्टरेट’ की उपाधियों सहित अनेकों अलंकरणों से स मानित हुए। वह सर्वथा पहले भारतीय कलाकार भी रहे जिनकी कृतियों पर रंगीन वृत्ति चित्र तैयार किया गया था। नन्दलाल बसु के निर्देशन में ही भारत के संविधान का चित्रांकन हुआ था।⁸

नन्दलाल कला के लिए पूर्ण-समर्पित रहे। अवनीन्द्रनाथ की भांति नन्दलाल के शिष्यों की भी एक समृद्ध परंपरा रही है। शांति निकेतन में वह छात्रों के मध्य ‘मास्टा मोशाय’ के नाम से लोकप्रिय रहे। एक कलाचार्य के रूप में उन्होंने कला के अनेक पक्षों पर गहन मनन करते हुए कई मानक पुस्तकों की रचना की जिनमें शिल्प कला-रूपावली, शिल्पचर्या आदि उल्लेखनीय हैं। नन्दलाल २५ वर्ष तक की वृद्धावस्था तक अस्वस्थ रहते हुए भी, सतत् क्रियाशील कलाकार बने रहे। मई, १९५३ में शांति निकेतन में उनका देहावसान हुआ। यह एक ऐसे गौरवशाली युग के अन्त के समान था, जिसमें परंपरा, प्रयोग और मानवता का मणिकांचन योग था।

नन्दलाल बसु की कला

नन्दलाल ने भारतीय कला परंपरा और समकालीन सन्दर्भ में किये गये प्रयोगों द्वारा आधुनिक भारतीय कला की परिभाषा गढ़ी है। उनकी कला में एक ओर जहाँ परंपरागत व्यवस्था है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक विस्तार भी दृष्टिगत होता है। उन्होंने अवनीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा पल्लवित बंगाल शैली की स्वदेशी धारा को न सिर्फ गति प्रदान की अपितु एक मोड़ देकर नूतन दिशानुगामी और समृद्ध किया। अवनीन्द्रनाथ भी नन्दलाल जैसा शिष्य पाकर भारतीय कला के भविष्य के प्रति आश्वस्त हो गये। उनके अनुसार,

“नन्दलाल बसु के हाथों मैंने अपनी कला-विकास की धारा सौंप दी है और प्रसन्न हूँ कि वह उसे सही रास्ते पर आगे बढ़ा रहे हैं।”⁹

ख्रवीं शती में भारतीय कला ने अपनी स्वतंत्रता के लिए पाश्चात्य कला की कड़ी चुनौतियों का सामना किया। इस मोड़ पर नन्दलाल का मूल्यांकन करते हुए शची रानी गुर्टू ने लिखा कि, “उनकी आत्मा कला के समस्त बंधनों को तोड़ने के लिए मचल उठी और उनका क्रियाशील मस्तिष्क एक नयी मंजिल की तलाश में संलग्न हो गया। उनके सृजन में ऐसी प्राणवान चेतना नजर आयी जो गहरी भावना में पगी थी और जिसके परिपार्श्व में सांस्कृतिक निर्माण की भावना प्रबल थी। उन्होंने अपने अनुभव के विस्तृत चित्रपट आँके और नवीन वातावरण में भी भारतीय रूप-विधान और वस्तु-तत्व में सन्तुलन स्थापित कर अमर सौन्दर्य की सृष्टि की। उनकी कला में वह शांति है जिसमें प्राणमय आशावादी स्वर गूँजते हुए नवनिर्माण की स्फूर्ति प्रदान करते हैं।”¹⁰

नन्दलाल बसु के कृतित्व का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बचपन से ही उनका बंगाल के लोक कलाकारों, पटुओं आदि के सृजन-कर्म से निकट स पर्क रहा। वह उनका अ यास भी किया करते थे, फलतः उन्हें लोककला की सरलता का भली-भाँति ज्ञान था। भारतीय शास्त्रों और मिथकों में भी उनकी गहन अभिरुचि रही। आगे चलकर अवनीन्द्रनाथ के स पर्क से उनकी यह अभिरुचि परिपुष्ट होती चली गई। उन्होंने अपने सृजन का प्रारंभ रामायण पर आधारित चित्रों से किया जिनमें—श्री रामचन्द्र परिणय, सती का देहत्याग, उमा का तप, अहिल्योद्धार आदि प्रमुख हैं। सन् १९३६ तक प्रायः उनके चित्रों के विषय पौराणिक व महाकाव्यों की घटनाओं पर आधारित रहे। इन चित्रों में सती दाह, कर्ण की सूर्य पूजा (सन् १९३८), सती, सावित्री और यम, भीष्म प्रतिज्ञा (सन् १९४०), विषपायी शिव (सन् १९४१) (चित्र सं या-१), शिव-सती, तपोनिष्ठ पार्वती, शोकाग्नि उमा (सन् १९४२), बुद्ध के जीवन की घटनाओं से स बन्धित—सुजाता, गृहत्याग, महा-प्रस्थान; महाभारत पर आधारित—द्यूत क्रीड़ा, बृहन्नला, पार्थसारथी तथा वैष्णव मत विषयक राधा-विरह (चित्र सं या-२), कुंज में राधा (चित्र सं या-३) तथा अन्य विषयक गृह-तारा, सांड (सन् १९४३) आदि उल्लेखनीय रहे। इस दौरान जगदीशचन्द्र बसु के शोध-संस्थान में बनाये गये २० चित्रों के अतिरिक्त चार भिन्ना चित्र भी प्रमुख हैं।

सन् १९४४ में बाघ के भिन्ना चित्रों की प्रतिकृतियों और इससे पहले सन् १९४३ में अजन्ता के भिन्ना चित्रों की प्रतिकृतियों का उनकी कला पर अमिट प्रभाव पड़ा। इन विशेषताओं के लिए वीणा वादिनी (१९४४), अर्जुन (१९४५), पुष्प

ले जाती हुई महिला (क-फ-), अर्द्धनारीश्वर (क-बख), ऋतु संहार (क-ब), शिव (क-ब) आदि प्रमुख हैं। इसी दौरान सन् क-पञ्च के आसपास नन्दलाल के सृजन में लोककलाओं का प्रभाव भी स्पष्ट झलकता है। इनमें फैजपुरा, हरिपुरा के चित्र लोक जीवन की बहुरंगी झांकी प्रस्तुत करते हैं। इन्हें देखकर रवीन्द्रनाथ ने नन्दलाल से कहा था कि, “यह तु हारा नया दिक् प्रवेश है।”¹¹

नन्दलाल अपने सृजन के अन्तिम दौर में रेखांकनों पर अधिक केन्द्रित हो गये थे। इस दौरान नन्दलाल के चित्रों में कोमल, भव्य और मायावी आकृतियों में एक अपूर्व रेखिकीय विशिष्टता अजन्ता के भाँसा-चित्रों की भाँति दृष्टव्य है। वस्तुतः नन्दलाल का रेखांकन अजन्ता के समान भारतीय मूर्तिकला और चीन-जापान की कला से भी प्रभावित रहा है। इन विशेषताओं से युक्त बसन्त, गोपालपुर के मछेरे, सांड आदि चित्र विशेष दृष्टव्य है।

नन्दलाल के सृजन का तकनीकी आधार पर विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि विषय-वस्तु की दृष्टि से उनके आरंभिक चित्र धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक एवं महाकाव्यों व मिथकों पर आधारित रहे। शांति निकेतन आने के पश्चात् उनके विषय दैनिक जीवन, संधाल जाति, प्रकृति, फूल, पेड़-पौधे, जीव-जन्तुओं एवं लोक जीवन पर आधारित हो गये। प्रवाहपूर्ण, बलवती रेखाएँ उनके चित्रों की अन्यतम विशेषता रही है। शान्त व सौं य स्वभाव युक्त रंगांकन जिसमें श्वेत, गहरे व भूरे रंगाभासों की बहुलता, बंगाल शैली की भाँति उनकी भी विशेषता रही है। उन्होंने वॉश, टे परा, जलरंग, तैलरंग आदि अनेक माध्यमों में कार्य किया, रेखांकन किए, किन्तु उनकी कला जीवन के प्रति उनके निजी दृष्टिकोण की ही परिचायक हैं। वह छोटे-छोटे कार्ड पर चित्र बनाकर अपने प्रियजनों व छात्रों को भेजते रहते थे। ब्रश, पेंसिल व रंगों से बनाये उनके कार्ड आज भी अनेक कला प्रेमियों के पास संरक्षित हैं। प्रयोगधर्मी होने के बावजूद भारतीय परा का निर्वाह करना ही उन्हें इष्ट था।

राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय के पूर्व-निदेशक एल.पी.सिंहारे ने नन्दलाल बसु की शैली का बहुत अच्छा विवेचन इस प्रकार किया है कि, “यह शैली पार परिक, सज्जात्मक, आलंकारिक, इतिवृत्तात्मक तत्वों पर बल देती है औं इसकी चाक्षुक अभिव्यक्ति रैखिक लयात्मकता, गति, संरचना व रूपाकार और अधिकांशतः धूसर रंगों के माध्यम से होती है, जो प्राच्य सुरुचि से स पन्न होते हैं।”¹²

निष्कर्षतः नन्दलाल बसु की कला कोई अनुकरण नहीं अपितु सृजन है। नन्दलाल ने अवनीन्द्रनाथ द्वारा प्रचारित बंगाल शैली का उद्धारदायित्व लेकर, अपने विशिष्ट कला-

सृजन के माध्यम से उसको आगे आने वाली पीढ़ियों के कलाकारों तक प्रसारित करने का महनीय प्रयास किया। उनकी कला में प्राच्य पर पराओं के साथ आधुनिक रीतियों का समावेश अपूर्व है। उनके कुल सृजन में लगभग दस हजार कलाकृतियों का समावेश है, जिनमें वॉश, टे परा, जलरंग व स्याही से बने चित्र, रेखाचित्र, भिन्नी चित्र, पोस्टर, ग्राफिक्स आदि प्रमुख हैं। अनेकों राष्ट्रीय स मानों से विभूषित नन्दलाल का सृजन भारतीय कला का स्वर्णिम अध्याय है।

सन्दर्भ

- क. स पादक ज्योतिष जोशी: कला पर परा, यश पब्लिकेशनस, दिल्ली, खक, पृष्ठ सं या ख-
- ख. ज्योतिष जोशी: आधुनिक भारतीय कला, यश पब्लिकेशनस, दिल्ली, खक, पृष्ठ सं या बत्र
- फ. प्राणनाथ मागो, अनु. सौमित्र मोहन: भारत की समकालीन कला—एक परिप्रेक्ष्य, ने.बु.ट्र.इं. नई दिल्ली, खक, पृष्ठ सं या फ०
- ब. स पादक रिचर्ड बार्थोलो यू: समकालीन कला, ल.क.अ., नई दिल्ली, नव बर, क-त्फ, पृष्ठ सं या क०
- भ. वही
- म. डॉ. नैन भटनागर, डॉ. जगदीश चन्द्रकेश: बंगाल शैली की चित्रकला, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, खक, पृष्ठ सं या भव
- ख. स पादक ज्योतिष जोशी: कला पद्धति, यश पब्लिकेशनस, दिल्ली, खक, पृष्ठ सं या भ
- त्. ज्योतिष जोशी: आधुनिक भारतीय कला, यश पब्लिकेशनस, दिल्ली, खक, पृष्ठ सं या भ
- . डॉ. नैन भटनागर, डॉ. जगदीश चन्द्रकेश: बंगाल शैली की चित्रकला, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, खक, पृष्ठ सं या ब०
- क. स पादक ज्योतिष जोशी: कला पद्धति, यश पब्लिकेशनस, दिल्ली, खक, पृष्ठ सं या ख-
- क्क. स पादक ज्योतिष जोशी: कला पद्धति, यश पब्लिकेशनस, दिल्ली, खक
- कख. प्राणनाथ मागो, अनु. सौमित्र मोहन: भारत की समकालीन कला—एक परिप्रेक्ष्य, ने.बु.ट्र.इं., नई दिल्ली, खक, पृष्ठ सं या फ०

अमूर्तवादी प्रकृति चित्रण के तीन प्रमुख समसामयिक कलाकारों का परिचय -

जहांगीर साबावाला, रामकुमार, अकबर पदमसी

हर्बर्ट रीड ने लिखा है, 'आल आर्ट इज एब्सटैक्ट आर्ट' और यदि हमारी परम्पराओं और धार्मिक विश्वासों में अमूर्त आकारों को सहज रूप से स्वीकार किया गया है, तो कला के 'एब्सट्रैक्शन' को भी स्वीकारा जा सकता है

अमूर्त कला हमारी भावनाओं और संवेगों का एक दृष्टिगत संयोजन है, जिसके कलाकार कोई नाम नहीं देना चाहता, लेकिन उसकी उत्तेजना कुछ बिंबों या आकारों में ढलकर चित्र स्पेस में दिखायी देने लगती है, जिसमें की पहचाने हुए से आकार भी स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में चले आते हैं या जिन्हें रोक पाना कलाकार के लिए असंभव ही नहीं, उचित भी नहीं होता यहां सौंदर्य के अमूर्त स्वरूप की चर्चा करना उपयुक्त होगा

प्रारम्भ से ही कलाकारों ने यह अनुभव करना शुरू कर दिया था कि कलाकृति को उसके अमूर्त स्वरूप से ही सौंदर्य प्राप्त होता है वह कला किसी भी शैली या किसी भी काल की बनायी हुई हो, उसकी सफलता उसके अमूर्त सौंदर्यात्मक गुणों पर ही निर्भर करती है, अर्थात् रेखा, रंग, स्पेस, टैक्सचर, लय, तान आदि अनेक मूल तत्वों के समन्वय से ही कोई कलाकृति बनती है, उसके आकारगत निरूपण से नहीं प्लेटों ने अमूर्त सौंदर्य के बारे में कहा था कि 'वृत्त, आयत ऐसे आकार हैं जो किसी बाह्य कारण से या उपयुक्तता की वजह से सुंदर नहीं, बल्कि सौंदर्य उनकी प्रकृति है उनसे ऐसी सौंदर्यानुभूति होती है, जो इच्छारहित व निर्विकार है इसी प्रकार रंगों के विशुद्ध प्रयोग में भी यह सौंदर्य है

यहां विश्व के कला इतिहास में आये परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए यदि कला के अमूर्त तत्वों पर विचार करें, तो हम पायेंगे कि बीसवीं शताब्दी में भारतीय आधुनिक कला मंच पर भी हमें अनेक ऐसे कलाकार दिखाई देते हैं जो इस कला के प्रति बहुत अधिक समर्पित रहे हैं अमूर्तता की अवधारणा यहां प्रारंभ से ही जन जीवन में व्याप्त रही है प्राचीन, शास्त्रीय व लोक कलाओं में से ये तत्व किसी न किसी रूप में देखे गये हैं जैन शैली के चित्रों में रूपगत अमूर्तता तथा रंगों की प्रतीकात्मक अमूर्तता को भली भांति देखा जा सकता है राजस्थान

की विभिन्न शैलियों (विशेष रूप से मेवाड़ और मारवाड़) के चित्रों में लोक शैली के तत्वों के साथ-साथ रंगों व प्रकृति के सरलीकृत अभिप्रायों में भी यह अमूर्तता दर्शनीय है भारत के अनेक कलाकार अपने विशेष संदर्भों और अर्थों के साथ इस अमूर्तता की अवधारणा से जुड़े रहे हैं एस.एच. रजा, शांति दवे, गायतोड़े, मोहन सामंत, रामकृमार, के.सी. पणिककर, एन.एय. बेंद्रे, ज्योति भट्ट, कृष्ण रेड्डी आदि के नाम विशेष रूप से याद किये जा सकते हैं और आगे चलें, तो नरीन नाथ, एस.आर. भूषण, प्रभाकर बर्वे, कोल्टे, कृष्ण खन्ना, अकबर पदमसी, ज्योति स्वरूप, सुरेश शर्मा आदि को भी इस लंबी सूची में शामिल किया जा सकता है

रजा अपने चित्रों के 'बिंदू' को अपनी जिंदगी और अनुभवों के संदर्भ में देखते हैं इसी के साथ-साथ भारतीय अमूर्त कला के दृश्य पटल पर रहस्या और तंत्र से प्रभावित हो कर भी इस अमूर्त अवधारणा को एक नये संदर्भ और अर्थ में प्रस्तुत किया गया जी.आर. संतोष, ओम प्रकाश, हरिदासन व प्रफुल्ल मोहंती आदि ने भारतीय तांत्रिक प्रतीकों के माध्यम से अमूर्तता की एक नयी परिभाषा विकसित की

यहां कुछ ऐसे ही समसामयिक भारतीय कलाकारों की व्याख्या करेंगे, जिन्होंने भारतीय आधुनिक कला में प्रकृति को अमूर्तन के साथ नवीनता देने का प्रयास किया है

जहांगीर साबावाला

जहांगीर साबावाला ने खुद को एक ऐसे संवेदनशील चाक्षुष तकनीशियन के रूप में स्थापित कर लिया है, जो जटिल बिम्बों को भी बड़ी सहजता से व्यवस्थित कर लेते हैं, प्रकृति के परिचित रूपाकारों को फंतासी में बदल लेते हैं उनकी हाल ही की पेंटिंग्स में चाक्षुष रूपाकारों के संयोजन में उनकी प्रतिभा प्रकट होती है अपनी प्रभावकारी सुनिर्दिष्ट चित्रभाषा से वह रेखा, धरातल या त्रिमितीय रूपाकारों को भ्रूदृश्यीय बनावट में सहज ही रूपान्तरित कर लेते हैं¹

जैसेकि वाष्प वाले बादलों या ज्वालामुखी से निकलती लपटों को - और इस तरह अपने बिंबों को एक बहुत ही सुनियोजित पैटर्न दे देते हैं अपने लयात्मक तूलिका-संचालन से उन्होने चित्रों में बड़े ही स्पंदनशील टेक्सचर को निर्मित किया है और इस तरह वह रंग तथा दीप्ति की तहों में जब चाहे परिवर्तित कर लेते हैं

साबावाला अपने नियंत्रित बिंबों का निर्माण इस तरह करते हैं कि उनके ज्यामितिक रूपाकारों में बिंबों तथा अवधारणा को एक नया स्वरूप मिल जाता है उनकी पेंटिंग्स अत्यधिक सावधानी और सुनिश्चित तकनीक से बनाई गई हैं, अतः इनकी बनावट अत्यंत परिष्कृत और चातुष भाषा सर्वथा उपयुक्त लगती है

यह अपनी बुद्धि की आंख से सहायता लेकर आगे कदम बढ़ाते हैं और फंतासी को यथार्थ का बाना पहना देते हैं प्रकृति के परिचित रूपाकार, अमूर्तन तथा प्रकाश व रंग के परिवर्तन के

साथ, फंतासी का अतिरिक्त आयाम ग्रहण कर लेते हैं वह प्रकृति के रूपाकारों- पर्वत, पहाड़ियां, झीले, जमी हुई नदियां, नौकाएं, उड़ते हुए पक्षी और अकेला यात्री-का प्रयोग कर आकर्षक दृश्यों तथा मीठे गीत की तरह भ्रमित कर देने वाले परिवेश का निर्माण कर देते हैं

साबावाला को अपने आकारों की भाषा घनवाद तथा रिनेसां, डिक्डेन्ट्स तथा अभिव्यंजनावादियों से दाय में मिली थी उन्हें विरासत से दृष्टिक्रम का एक ऐसा रंगपटल मिला था जिसमें उन्होंने अपनी चिंताएं एवं जरूरतों को भी शामिल कर लिया था परिचित आकारों को विशद रंग-योजना से जोड़कर वह दर्शकों को एक नई उत्तेजनापूर्ण दुनिया में ले जाते हैं और इसका सृजन वह बड़ी कुशलता तथा विश्वसनीयता के साथ अपने कैनवास पर कर पाते हैं उनकी कुछ कलाकृतियों में मानवों की उपस्थिति जरूर काल्पनिक लगती है ये स्वप्न-सरीखे वातावरण में बड़े अजनबी लगते हैं

उनकी पेंटिंग्स उनकी कलात्मक उपलब्धियों की, गहनता तथा विस्तार दोनों की, ही पुष्टि करती हैं और उनके समकालीन कलाकार होने की पहचान को पुष्टा करती है दर्शक जब उनकी फंतासी की दुनिया में प्रवेश करता है तो उनकी पेंटिंग्स रोजमर्रा के तनावों से उसे राहत देती हैं हालांकि साबावाला की कला अपने आसपास की दुनिया के सीधे निरीक्षण का परिणाम है जिसे वह अपनी अंतर्दृष्टि को अभिव्यक्ति देने के लिए अपने कैनवास पर रूपान्तरित कर लेते हैं यूं साबावाला, प्रबल लाक्षणिक बिंबो का प्रयोग करने के कारण, अमूर्तनवाद की तरफ बढ़ते नजर आते हैं

रामकुमार

आकारिक कला अनुकरणशील नहीं होती यह अमूर्तन का प्रतीकात्मक साधन होती है, यह विचार की आरेखीय प्रस्तुती होती है- आवेगरहित आरेख या निर्जीव प्रभाव से मुक्त यह जीवन से भरपूर होती है, फिर इसमें संतुलन तथा व्यवस्था होती है रामकुमार के भूदृश्यों में अमूर्त आकारों को तरह-तरह की लय कहा जा सकता है, जो अत्यंत मौलिक हैं ये आकार विभिन्न दिशाओं से रेखाओं के अन्दर की तरफ आने और बाहर की तरफ जाने की क्रिया से बनते हैं और इसके लिए उन्होंने नोकदार तूलिका और स्पैचुला (रंग लगाने का औजार) का इस्तेमाल किया है इस भूदृश्य को देखने से पैदा होने वाली भावनाओं का सीधे प्रतिलेखन कह सकते हैं पर यह सूक्ष्म सादृश्य मूलकता वस्तुतः छटा-प्रभावों तथा धरातल की समझ से उपजती है और इसका प्रयोग आकर्षक चाक्षुष रीति से किया जाता है ²

रामकुमार के भूदृश्य चित्रों में हल्के उभार का आभास होता है वह अपने रूपाकार को वास्तुशिल्पीय स्थिरता तथा सज्जा प्रदान करते हैं, आयतन का सार-तत्त्व, चित्र धरातल को नष्ट किए बिना प्रस्तुत करते हैं दृश्य का यह अर्थ-ठोसपन अद्वितीय तथा सावधानी से की गई

व्यवस्था से पैदा होता है, जो कला में अशिक्षित लोगों को शायद उतना सराहनीय नहीं लगेगा

राजकुमार अपनी भावनाओं तथा अभिव्यक्ति के माध्यम के बीच के सम्बन्ध ढूंढते हैं और उसका लाभ उठाते हैं इस प्रक्रिया में वह मानव आकृति को विकृत कर सकते हैं तथा शांत भ्रूदृश्य को बिगाड़ भी सकते हैं लेकिन वह इसके स्थान पर अनुभव को वरीयता देते हैं, जो न केवल ज्यादा महत्वपूर्ण है बल्कि हमारे सौंदर्य-बोध से भी सम्बद्ध है

उनका काम इस बात का शानदार उदाहरण पेश करता है कि कैसे छाया और प्रकाश के समतल क्षेत्रों को चित्रमय धरातल में त्रिमितीय आधार पर व्यवस्थित किया जा सकता है जबकि इनका अस्तित्व संदर्भगत हो जाता है हालांकि उनकी पेंटिंग्स स्वतः स्फूर्त दिखती हैं, जबकि ये बड़ी सावधानी से निर्मित कृतियां हैं जो एक डिजाइन के तौर पर संतुलन तथा असन्तुलन दोनों तरह की भावनाओं का एक साथ अहसास कराती हैं- असममितीय गति की भावना का

राजकुमार की कृतियां उनके व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक 'रूपाकार' हैं, जो अवधारणा को एक ढांचा प्रदान करती हैं और निजी अभिव्यक्ति की सीमाओं को दर्शाती हैं लेकिन किस हद तक उनकी कला तथा अभिव्यक्ति की भाषा किसी व्यक्ति अथवा संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है- जिसका वह स्वयं भी एक हिस्सा हैं- इसका उत्तर पूरी तरह से नहीं दिया जा सकता ³

अकबर पदमसी

मुम्बई में जन्में अकबर पदमसी ने सर जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट, मुम्बई में अध्ययन किया तत्पश्चात् आप पेरिस गये जहाँ आपकी कलाकृतियाँ नियमित रूप से प्रदर्शित की जाती रही 1965 ई. में आप रॉकफेलर फ़ैलोशिप पर न्यूयॉर्क गये 1967 ई. में पुनः भारत आने पर आपको नेहरू फ़ैलोशिप मिली आप फिल्म एवं कम्प्यूटर के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कला सृजन में रत हैं मूर्तिशिल्प में भी आपका श्रेष्ठ प्रदर्शन रहा है तथापि आप चित्रकार पहले हैं आपके चित्र अधिकांशतः ज्यामितिय अथवा समानुपातिक होते हैं जिनमें लोककला की व्यंजना भी है आपके विचार में कला मात्र आत्माभिव्यक्ति नहीं हो सकती वरन् तार्किक अन्तर्ज्ञान भी प्रत्येक रेखा, आकार, कल्पित रूप-रंग, मिश्रण, स्थान, अनुपात, पारस्परिक सम्बन्ध तथा समस्त अस्तित्व में रूपायित होता है किसी भी सृजित वस्तु का संयोजन व अनुपात बौद्धिक परिकल्पना या अन्तर्ज्ञानासा का ही परिणाम है आप अपनी कला में एक ऐसे लक्ष्य पर पहुँचने में सफल हुए हैं जहाँ किसी वाद के प्रभाव में न होकर विषय व विषयगत भाव की गहनता में डूबकर नवीन रूप दिया है

इटालियन, मिश्र या मेक्सिको की आदिम कला से प्रभावित होकर भी सीमित नहीं रहे आपको पेरिस कला परिदृश्य ने सर्वाधिक प्रभावित किया प्रारम्भ में जलरंग व तैलरंग दोनों माध्यमों का प्रयोग किया तथा अन्य समकालीन कलाकारों के समान मानवाकृति का प्रयोग किया

आपने मानवकृति के साथ विशेषतः मुख्याकृतियों के सामने बारम्बार स्मृति में आने वाले भावों को स्थान दिया जिनमें फतांसी भी है चित्रांकन में रंग व टेक्सचर अद्वितीय है आपका कहना है कि इस प्रस्तुति के लिए आपके मन में चोंद व सूरज का विचार प्रमुख रहा है ये चित्र वास्तविक न होकर नवीन यथार्थ को रचते प्रतीत होते हैं इन चित्रों को आप 'मेटास्केप' कहते हैं इनमें छाया प्रकाश तथा चमकते रंगों की रंगतों का अनूठा प्रयोग है इस प्रयोग में रंग आकृतियों की त्वचा से निकलकर एक दूसरे की सीमाओं पर अतिक्रमण करते प्रतीत होते हैं तथा सम्पूर्ण चित्र में एक तरलता आ जाती है यही पद्धति आपकी स्वप्नशील चिन्तन-प्रक्रिया की द्योतक है यह अकबर पदमसी की कला-यात्रा का मर्म भी है आपको अपनी विलक्षण कला-यात्रा की उपलब्धियों पर कालिदास सम्मान, मध्य प्रदेश राष्ट्रीय पुरस्कार, ललित कला अकादमी नई दिल्ली से पुरस्कृत भी किया गया

संदर्भ ग्रन्थ

2. आधुनिक भारतीय चित्रकला के आधार स्तम्भ, डॉ. प्रेमचन्द गोस्वामी, पृष्ठ संख्या-101

अमृत लाल योगी
बी.एड., एम.ए., एम.फिल्, सेट, नेट,
जे.आर.एफ., पीएच.डी. स्कॉलर

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

छायावाद पर एक दृष्टि : आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी

आधुनिक कविता की वृहत्त्रयी ने जिस काव्य की रचना की उसे 'छायावाद' की संज्ञा मिली। प्रस्तुत संज्ञा सर्वप्रथम विरोधियों द्वारा दी गई थी जिसका अर्थ अस्पष्टता और दुरुहता था। किंतु पश्चात् काल में छायावाद के कवियों और समर्थकों ने इसे ही नई व्याख्याओं से सम्पन्न करते हुए अपने नाम के रूप में स्वीकार कर लिया।

छायावाद के साथ एक अन्य काव्य प्रवृत्ति भी आई जिसे रहस्यवाद की संज्ञा मिली। कुछ लोग छायावाद और रहस्यवाद को अभिन्न और एक-दूसरे का पर्याय मानने लगे थे जब कि कुछ लोगों ने इस समस्त आन्दोलन को स्वच्छंदतावादी आन्दोलन के रूप में देखा और छायावाद तथा रहस्यवाद की प्रवृत्ति को इसी के अन्तर्गत समाहित कर दिया।¹

आचार्य वाजपेयी छायावाद को आध्यात्मिक काव्य मानते हैं। मध्यकाल का भक्ति काव्य भी आध्यात्मिक कोटि का है। परन्तु भक्तिकालीन आध्यात्मिकता अलौकिक और असाधारण है, संसार से दूर ले जाने वाली, संसार का तिरस्कार करने वाली और बहुत कुछ साम्प्रदायिक और धार्मिक ढंग की है।² किन्तु छायावादी अध्यात्म की मुख्य प्रेरणा मानवीय और सांस्कृतिक है, अलौकिक या धार्मिक नहीं। छायावाद मानव जीवन के सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है। इसलिए इस काव्य में समस्त मानवीय अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी है। मध्यकालीन काव्य में मानव चरित्र और दृश्य जगत् अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित ही रहे। मध्यकालीन कवि के लिए जगत् असत्य रहा है और छायावादी के लिए सत्य।³

छायावाद में जीवन की स्वीकृति है, निषेध नहीं इसलिए वाजपेयी जी ने इस काव्य की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। छायावाद काव्य की आध्यात्मिकता बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया तथा भारतीय आध्यात्मिक दर्शन की युगानुकूल नव प्रतिष्ठा है। इसमें जीवन की नई परिवर्तनशील परिस्थितियों और विचार-धाराओं का योग है।⁴

छायावादी काव्य का अध्यात्म प्रकृत भूमि पर प्रतिष्ठित है। इसमें धार्मिक या अलौकिक और अध्यात्म के स्थान पर पूर्ण मानव या प्रकृत अध्यात्म का आगमन हुआ है। यहाँ लौकिकता और अलौकिकता के भेद मिट गये हैं।⁶

पूर्ववर्ती काव्य में देवत्व का मानवत्व बतलाने का प्रयास हुआ है, यहाँ मानवत्व का देवत्व प्रदर्शित किया गया है। अधिकांश छायावादियों की दार्शनिक भित्ति वेदान्त या उपनिषद् है। वे आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं। दुःख या निरात्म उनका अन्तिम सिद्धान्त नहीं है और न उनमें स्थूल इन्द्रियता का उल्लेख है। उनकी सौन्दर्य भावना मानवीय है, परन्तु अतिशय सूक्ष्म—आध्यात्मिक।⁶

वे छायावादी काव्य की मानवीय भूमि, उसके प्रगाढ़ जीवन—सम्बन्ध एवं उसकी उपयोगिता का बार—बार उल्लेख करते हैं। वाजपेयी छायावाद को युग की स्पष्ट प्रेरणों से उत्पन्न मानते हैं। उससे युग की आवश्यकताओं की पूर्ति हुई है। इसकी नींव बलिष्ठ भूमि पर रखी गई है।⁷

वे इसे राष्ट्रीय काव्य भी मानते हैं, क्योंकि इसमें स्वातन्त्र्य—लालसा; शक्ति की अभिज्ञता तथा सांस्कृतिक द्वन्द्व की अनिर्दिष्ट स्थिति भी अभिव्यक्त है। ये सब तत्त्व एक कल्पना—शील व्यापक सहानुभूति सम्पन्न विशिष्ट दर्शन के अंग हैं। इस दर्शन में कल्पना भावना और कर्म—चेतना का योग है। यह केवल संघर्ष का दर्शन नहीं है, जो प्रगतिवादियों को मान्य है।⁸

छायावादी काव्य का दार्शनिक आधार इसी देश का है। इसी के अनुकूल उसका शब्द—संचय है। यह काव्य इस देश की प्रकृति और जलवायु के अनुकूल है। छायावादी प्रायः नैतिक और आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग करते हैं, व्यक्तिगत और सामूहिक चारित्र्य पर जोर देते हैं और साधना पर विश्वास करते हैं।⁹

सारांशतः रहस्यवाद की अपेक्षा वाजपेयी की दृष्टि छायावाद की ओर झुकी हुई है। रहस्यवाद उच्चतम अध्यात्म पर आधारित है, उसका एक विशाल साहित्य इस देश में है, परन्तु उसमें जीवन की अपेक्षा का भाव भी सन्निहित है, वह वैयक्तिक साधना की अपेक्षा रखता है और उसका आधार अतिमानवीय है। दूसरी ओर छायावाद का आधार मानवीय है, वह मानव—काव्य है, उसका जीवन और जगत् से घनिष्ठ संबंध है और उसकी दृष्टि सार्वजनिक अनुभूतियों पर है। वाजपेयी जीवन और साहित्य में घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं, इसलिए रहस्यवाद की अपेक्षा उन्हें छायावाद अधिक रुचिकर लगा है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. वृहत्त्रयी: विजय बहादुर सिंह, प्रथम संस्करण 1975, दि मैक मिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया

लिमिटेड—दिल्ली, पृ.सं. 23

2. आधुनिक साहित्य: आचार्य वाजपेयी, आवृत्ति 2003, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. नई दिल्ली पृ. सं. 318
3. आधुनिक साहित्य; आचार्य वाजपेयी; पृ.सं. 320
4. आधुनिक साहित्य: आचार्य वाजपेयी पृ.सं. 320
5. आधुनिक साहित्य: आचार्य वाजपेयी, पृ.सं. 319
6. 'आधुनिक साहित्य: आचार्य वाजपेयी, पृ.सं. 203
7. हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति): आचार्य वाजपेयी, पृ.सं. 12-13
8. हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी (विज्ञप्ति), आचार्य वाजपेयी, पृ.सं. 133
9. आधुनिक साहित्य: आचार्य वाजपेयी, पृ.सं. 344-345

विद्या विपुल शर्मा
दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

नारी शिक्षा – एक दार्शनिक दृष्टि

भारत में दार्शनिक विचारधारा में नारियों के योगदान की गौरवशाली और शानदार परम्परा रही है। प्राचीनकाल से ही अनेक महिलाओं का योगदान विशेष रूप से महत्वपूर्ण तथा सारवान रहा, गार्गी—याज्ञवल्क्य, सुलभा—जनक, भारती—शंकराचार्य के शास्त्रार्थ तो प्रसिद्ध हैं ही, अन्य कई महिलाओं ने भी प्रेरक तत्व का कार्य किया और दार्शनिक विचारों के प्रतिपादन अथवा स्पष्टीकरण या सरलीकरण का कारण बनी। वेदांती महिलाओं को जो वेदों को पढ़ाती—सिखाती थीं, ब्रह्मवादिनी कहा जाता था। कई ब्रह्मवादिनियों तथा अन्य महिलाओं ने तो दार्शनिक विचारधारा के विकास में ऋचाओं की रचना की तथा शास्त्रार्थ भी किया। ऋग्वेद में तो 27 ब्रह्मवादिनियों द्वारा विरचित मूल्यों का उल्लेख है।

गार्गी, मैत्रेयी तथा अत्री आदि को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था, परन्तु समय बदलता गया और मध्ययुग आया, जिसमें महिलाओं की दशा अत्यन्त सोचनीय थी। आजादी के बाद 1950 में नारियों को पुरुषों के समान अधिकार दिए गए हैं, उन्हें पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने का अवसर दिया गया, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष, महिला दशक, इंटरनेशनल इयर ऑफ गर्ल चाइल्ड के बाद वर्ष 2001 महिला सशक्तिकरण वर्ष के रूप में मनाया गया, जो कि इस बात को इंगित करता है कि आजादी के 50—55 वर्ष बीत जाने के बाद भी संविधान द्वारा दिए गए समानता के अधिकार से महिलाएं वंचित हैं। संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट के अनुसार भारत की 24.5 करोड़ महिलाएं निरक्षर हैं। शिक्षा को महिलाओं के स्तर में बुनियादी परिवर्तन लाने के साधन के रूप में प्रयोग में लाना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रारम्भिक वैदिक साहित्य से हमें यह पता चलता है कि वैदिक युग में लड़की का भी उपनयन संस्कार होता था और वह भी लड़कों की भांति आश्रमों में शिक्षा के लिए जाती थी। धीरे—धीरे उसे शिक्षा से दूर किया जाने लगा और उसके लिए एकमात्र संस्कार विवाह ही माना जाने लगा। धर्माशास्त्रों तक आते—आते यह प्रक्रिया पूरी हो गयी। मुस्लिम काल में तो नारी पूर्णतया निरक्षर ही थी। भारतीय विज्ञान

अनुसंधान परिषद्' द्वारा किए गए एक अध्ययन से पता चलता है कि सन् 1971 में साक्षर महिलाएं 18.4 प्रतिशत थीं, सन् 1981 में यह प्रतिशत 25 था, जबकि सन् 1991 की जनगणना के अनुसार यह 39.42 प्रतिशत हो गया, वास्तव में यह प्रगति नगरीय क्षेत्रों में उच्च और मध्यम वर्ग के बीच अधिक हुई है। नारी शिक्षा से सम्बन्धित सबसे प्रमुख समस्या यह है कि प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर नारियों के बीच अध्ययन छोड़ने की दर बहुत ऊँची है। इसका प्रमुख कारण महिला व पुरुष में असमानता है।

महात्मा गाँधी के अनुसार — “हमारे समाज में कोई सबसे अधिक हताश हुआ है तो वे महिलाएं ही हैं और इसी वजह से हमारा अर्धपतन भी हुआ। महिला-पुरुष के बीच जो फर्क प्रकृति के पहले है और जिसे खुली आँखों से देखा जा सकता है, उसके अलावा मैं किसी किस्म के फर्म को नहीं मानता।”

हमारे पूर्वजों में ऐसे जागरूक व्यक्ति भी थे, जिन्हें अशिक्षा के कारण व्यापने वाले अंधकार और संकट के विषय में पूरा ज्ञान था, तभी तो उन्होंने शिक्षा का मूल्य समझा और उसका विकास किया। हमारे देश की परम्परा साक्षी है कि हमारे प्राचीनकाल के विद्वान चिंतक एवं शिक्षाशास्त्री शिक्षा का मूल्य समझते थे, परन्तु विडम्बना यह रही कि शिक्षा से भारतीय महिला की दूरी बढ़ती गयी और हमारा देश महिला अशिक्षा के घोर अंधकार में डूबता गया।

वैदिक काल में बालिका की शिक्षा-दीक्षा पर उतना ही बल दिया जाता था, जितना बालकों की शिक्षा पर होता था। उनका भी उपनयन संस्कार होता था और वे अन्य बालकों की भाँति ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई मौ जी मेखला धारण करती हुई गुरु के आश्रम में अध्ययन करती थी।² इससे स्पष्ट है कि बालिकाएँ भी बालकों की भाँति अपरा एवं परा विद्या में निष्पात होती थी। सामाजिक अथवा पारिवारिक व्यवस्था उनके बौद्धिक विकास में बाधक नहीं थी। वे समाज में अध्यापन कार्य करते हुए “उपाध्यया” अथवा “आचार्या” की पदवी धारण करती थी।

स्त्रियों को सोम ने पवित्रता प्रदान की, गन्धर्वों ने मधुर वाणी की शिक्षा प्रदान की, अग्नि ने सर्वभक्ष्यत्व (समस्त कल्मषों को नष्ट करने की सामर्थ्य) प्रदान की, इसलिए स्त्रियाँ ‘निष्कल्मष’ होती हैं।

इस प्रकार प्रारम्भिक काल में तो महिलाओं की शिक्षा की स्थिति अच्छी थी, परन्तु मध्यकाल तक आते-आते अत्यन्त दयनीय हो गयी और फिर निरन्तर पतन की ओर ही जाती गयी, परन्तु मानव समाज की किसी भी समस्या का निस्तारण शिक्षा द्वारा ही संभव है। मेरा मानना है कि शिक्षा ही वह माध्यम है या सबसे बड़ा माध्यम

है जिसमें महिलाओं को उनकी गरिमा का आभास दिलाया जा सकता है। उनकी क्षमता को पूरी तरह से सामाजिक कार्यों में लगाया जा सकता है, उन्हें आर्थिक रूप से मजबूर बनाकर उनमें आत्मविश्वास पैदा किया जा सकता है। हमारे संविधान में धारा-15 में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि उनके बीच कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। वैधानिक स्तर पर तो यह बात ठीक है किन्तु सामाजिक स्तर पर इस दिशा में काफी कार्य किया जाना शेष है। “जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता बसते हैं। क्या हम बचपन से ही बच्चे को नारी सम्मान करना सीखाते हैं। हमारे व्यवहार और सिद्धान्त में बहुत अन्तर है, इसे मिटाना होगा।”³

आधुनिक युग में भारतीय चिन्तन परम्परा में हम गाँधी के दर्शन में समतावादी दृष्टि पाते हैं। इनके अनुसार स्त्री व पुरुष मूल रूप में एक है। दोनों में एक ही आत्मा का वास है। दोनों एक ही प्रकार का जीवन जीते हैं तथा दोनों की समान भावनाएँ हैं। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, इसलिए समाज में दोनों का अस्तित्व महत्वपूर्ण है।⁴

गाँधी ने लैंगिंग समानता की स्थापना के लिए स्त्रियों की शिक्षा को आवश्यक माना। गाँधी का विश्वास था कि शिक्षा प्राप्त करके स्त्रियाँ अपने प्राकृतिक अधिकारों को प्राप्त करने, उनकी रक्षा करने तथा उनमें सुधार और अपेक्षित परिवर्तन करने में सक्षम हो पाएँगी। अपनी बुनियादी शिक्षा योजना में गाँधी ने 7 से 14 वर्ष तक बालक और बालिकाओं के लिए मुत और आवश्यक शिक्षा का समर्थन किया है। गाँधी के अनुसार, “स्त्रियों और पुरुषों को गृहकार्यों में समान रूप से शिक्षित किया जाना चाहिए, क्योंकि घर का सम्बन्ध दोनों (स्त्री-पुरुष) से है।”⁵

बालिका में स्वयं को पहचानने की भावना को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। प्रसिद्ध दलित नेता मायावती कहती है कि डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर ने लड़कियों के लिए शिक्षा के महत्व को बहुत पहले समझ लिया था।⁶

स्त्री की स्वतंत्रता, समानता, अस्मिता तथा गरिमा की समाज में प्रतिष्ठा के लिए भागीरथ प्रयास किया जो अमूल्य है। इस प्रकार गाँधी ने मानवीय मूल्य के रूप में स्त्री की गरिमा को स्वीकार किया।⁷ नारी सशक्तिकरण हेतु नारी शिक्षा एवं स्वावलम्बन आज के युग की माँग है। सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत नारी के अभ्युदय की व्यवस्था से नारी को उसका सम्मान अवश्य मिलेगा, यदि वह शिक्षित हो जाये, जग जाये तो इस पुरुष प्रधान समाज में वह दोहम दर्जे की नागरिक नहीं रहेगी और आर्थिक रूप से भी स्वावलम्बी होगी, तभी नारी को सही दिशा और दशा में वह सक्षम होगी।

प्लेटो के अनुसार शिक्षा का आशय है आत्मा को उस परिवेश में ले आना, जो उसके विकास की हर अवस्था में उसके उन्नयन के लिए सबसे अनुकूल हो। प्लेटो के अनुसार शिक्षा का फल यह है कि वह ज्ञान-चक्षुओं के आलोक की दिशा में मोड़ देती है और उसका कारण यह है कि शिक्षक आलोक की ऐसी व्यवस्था कर देता है कि उस पर बरबस दृष्टि पड़े और जैसे आहार से शरीर विकसित होता है, उसी प्रकार शिक्षा से मानव के श्रेष्ठ तत्त्व उभरकर विकसित होते हैं।

प्लेटो ने रिपब्लिक में एक महत्वपूर्ण बात कही कि बालिकाओं को बालकों के समान ही शिक्षा मिलनी चाहिए। बालिकाओं को भी बालकों के समान ही शिक्षा व व्यायाम और संगीत का प्रशिक्षण प्राप्त हो।⁹ आधुनिक युग में भारतीय चिन्तन परम्परा में हम गाँधी के दर्शन में समतावादी दृष्टि पाते हैं। इनके अनुसार स्त्री व पुरुष मूल रूप में एक है। दोनों में एक ही आत्मा का वास है। दोनों एक ही प्रकार का जीवन जीते हैं तथा दोनों की समान भावनाएँ हैं। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, इसलिए समाज में दोनों का अस्तित्व महत्वपूर्ण है। प्लेटो के अनुसार शिक्षा का आशय है आत्मा को उस परिवेश में ले आना, जो उसके विकास की हर अवस्था में उसके उन्नयन के लिए सबसे अनुकूल हो।

नारी केवल देह नहीं है, केवल मनबुद्धि नहीं है, सब है – साथ साथ आत्मा है, चैतन्य है, उस चैतन्य को जिलाना है। देह ढोते रहना नारी का जीवन नहीं है।

दर्शन के अनुसार भी दुःखों का मूल कारण अज्ञान ही है, इसे केवल ज्ञान के मार्ग द्वारा ही दूर किया जा सकता है। ज्ञान के बिना कुछ भी प्राप्य नहीं है।

दुःखस्य मूल ज्ञाने दुर्गते गुढकारणम्।

बिना ज्ञानमयीरांकित न सिध्येदिह कि चन्॥

हीगल, काण्ट, मिल, जान लॉक और रूसो इत्यादि विचारकों ने भी स्त्री-पुरुष असमानता को स्वीकार किया। इन विद्वानों ने यह प्रचारित किया है कि महिलाओं की अधीनता उनकी जैविकीय संरचना में निहित है जो उन्हें पुरुषों से हीन बनाती है। सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना के आधार पर पुरुष के प्रमुख को विधिसंगत बतलाया जाता है। रूसो ने भी अपने लेख एमिल में स्त्री-पुरुष असमानता को इन शब्दों में व्यक्त किया है “महिला और पुरुष एक-दूसरे के लिए बने हैं, लेकिन उनकी परस्पर निर्भरता समान नहीं है।”

नारी सशक्तिकरण हेतु नारी शिक्षा एवं स्वावलम्बन आज के युग की माँग है। सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत नारी के अभ्युदय की व्यवस्था में जब एकाधिकार कम होगा,

नारी को उसका सम्मान अवश्य मिल जाएगा।

यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि हमारी सामाजिक मान्यताएँ बदली हैं। कुछ सांस्कृतिक परिवर्तन आए हैं। नारी के प्रति समाज का दृष्टिकोण उदार बना है, शिक्षा के क्षेत्र में भी पहले की तुलना में प्रगति हुई है। आजादी के समय नारी शिक्षा का प्रतिशत 8.86 था और अब यह बढ़कर 39.42 हो गया है। यद्यपि यह नारी-शिक्षा की प्रगति हमारे हौसले बढ़ाती है, फिर भी पिछले चार दशकों में उतनी नहीं हो पायी, जितनी होनी चाहिए थी। वर्तमान में भी 60 प्रतिशत महिलाओं को शिक्षित करने का बड़ा लक्ष्य और दायित्व मौजूद है। इन जिम्मेदारी को हर हालत में पूरी तरह से निभाना होगा। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि नारी-शिक्षा की उपेक्षा करके कोई समाज और राष्ट्र न तो सम्पूर्ण रूप से सभ्य कहलाता है और ना ही पूर्ण रूप से विकसित हो सकता है।

नारी की क्षमता को समाज में पूरा-पूरा स्थान देना होगा। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में महिलाओं का पर्याप्त सहयोग होता है। इतना ही नहीं, बल्कि राष्ट्र पुनर्निर्माण के अन्य कई क्षेत्रों में महिलाओं ने अपनी क्षमता को सिद्ध किया है। उनकी इस क्षमता को अधिक बढ़ाना है। यह कार्य महिलाओं को शिक्षा देकर उनके लिए रोजगार उपलब्ध करवाकर तथा उन्हें आवश्यक आर्थिक सहायता देकर किया जा सकता है।

शिक्षा में असीम शक्ति है, जिसके द्वारा सारे राष्ट्र के चिंतन को बदला जा सकता है। सर्वसाधारण में बालिकाओं के लिए शैक्षिक चेतना पैदा करना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षा की शक्ति, सेना की शक्ति से भी बड़ी है, क्योंकि शिक्षा मनुष्य के मनोबल को बढ़ाती है और उसमें छिपी शक्तियों को प्रस्फुटित करती है।

भारतीय बालिका, जो सृष्टि की सबसे खूबसूरत कविता है, उसे आग की लपटों की तरफ जाने से रोकना होगा। उसके जीवन में दुःख और सहजता को रोकना होगा। बालिका को रोकना होगा, उस दिशाहीन नदी में डूबने से और रोकना होगा 'सब कुछ' को 'कुछ नहीं' हो जाने से।

गाँधी ने कहा कि शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् जैसे ही स्त्रियाँ अपनी शक्ति को पहचानेंगी तथा उसका अनुभव करेंगी तो वे स्वतः ही उस असमानता को अस्वीकार कर देंगी जिसके फलस्वरूप उन्हें 'वस्तु' का रूप प्राप्त हुआ है। उन्होंने स्त्रियों को मूल्यहीन और अनिच्छुक व्यवस्थाओं के विरोध के लिए सविनय विद्रोह करने की सलाह दी।

शिक्षा सद्गुणों के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है और सद्गुणों के बिना व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता है, इसलिए सिर्फ स्त्री शिक्षा इसलिए

भी आवश्यक नहीं कि एक शिशु के जन्म और उसके पालन-पोषण में शिक्षित माँ बेहतर भूमिका निभा सकती है, बल्कि वैयक्तिक विकास के लिए स्त्री की शिक्षा की अनिवार्यता है।

नारी (बालिका) यदि शिक्षित हो जाये, जग जाये, अपने कर्त्तव्य को पहचान ले तो इस पुरुष प्रधान समाज में वह दोहम दर्जे की नागरिक नहीं रहेगी और आर्थिक स्वावलम्बन ही समाज में नारी की दिशा और दशा में सक्षम होंगे, तभी समाज का सही संतुलन एवं विकास होगा। निदाफाजली—

मुमकिन है सफर हो आसां कुछ दर तो चलकर देखें।

कुछ तुम भी बदल कर देखो, कुछ हम भी बदल कर देखें।।

इक्कीसवीं सदी महिलाओं की सदी है। यही परिवर्तन की आहट है। महिलायें सफलता के शिखर पर आरूढ़ हो रही हैं। कामयाबी के साथ सामाजिक व आर्थिक तस्वीर लगातार बदल रही है। समाज के सभी क्षेत्रों में महिलाओं ने शानदार प्रवेश किया है। सभ्यता के प्रारम्भ से आज तक उसके संघर्ष की कहानी बड़ी ही लम्बी एवं चुनौतीपूर्ण है, परन्तु वह सफल हुई है और आगे भी सफल होगी। यह दैवीय सामाजिक विकास की विभिन्न परतों के मध्य समस्या के बीज सुप्तावस्था में सैंकड़ों वर्षों तक पड़े रहने के बाद फूटने लगते हैं। विकासशील गतिमय समाज समय-समय पर घटनाओं का विश्लेषण कर अपनी प्रगति का मार्ग प्रशस्त करता है। भारत की चेतना और उसके भीतर संस्कृतियों के विभाजन या विलय को समझना एक लम्बी दुष्कर प्रक्रिया है। परन्तु यह सच है कि वर्तमान समस्याओं के समाधान में जुटे संगठनों को सामाजिक परिवर्तन लाने हेतु अतीत की कुछ जानकारी हासिल अवश्य करनी चाहिए।

महिला सशक्तिकरण में अहम् भूमिका निभा सकती है। मनोवैज्ञानिक धरातल में बदलती नारी की स्वचेतना⁹ तभी आधुनिक जीवन मूल्यों से युक्त होकर वह अपनी क्षमता एवं योग्यता से संयुक्त हो, उपभोक्तावादी संस्कृति को नए मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में स्वयं परख पाएगी।¹⁰

संदर्भ ग्रन्थ

1. Sec. ICSSR, Status of Women in India (Report of the National Committee on Status of Women 1971-1974), 1975
2. पुराकल्पे कुमारीणां मौ जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापन च वेदानां सावित्रीवचनं तथा।
3. सुषमा स्वराज, केन्द्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्री, भारत सरकार, दिसम्बर 2000
4. बसंत कुमार लाल, समकालीन भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1998, पृष्ठ सं. 182-183

मेघराज मीना
एम.ए., नेट, जेआरएफ,
पीएच.डी, स्कॉलर

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

“ भीष्म साहनी के कथा साहित्य में राष्ट्रीय-चेतना ”

भीष्म साहनी तत्कालीन भारतीय समाज और राजनीति को गहराई से समझने वाले चिन्तक और संवेदना के साथ अभिव्यक्त करने वाले लेखक रहे हैं। वे अंग्रेजों के द्वारा किए जा रहे दमन, उनकी कूटनीति तथा उनके दुर्व्यवहार के प्रति प्रतिरोध को राष्ट्रीय चेतना के संदर्भों में जोड़कर देखते थे तथा विभाजन की पीड़ा को स्वयं अनुभूत सत्य की तरह महसूस करते थे यही आनुभूतिक सत्य उनकी रचनाओं में प्रकट हुआ है जो उन्हें एक बड़ा रचनाकार और विशिष्ट लेखक बनाता है। उनके 'तमस', 'बसंती', 'मैयादास की माड़ी' आदि उपन्यास उनके राष्ट्रीय चिंतन और भारत के अखिल भारतीय स्वरूप को चित्रित करने वाला रचनाकार बनाते हैं।

भीष्म साहनी ने अपने अधिकांश उपन्यासों में आजादी के पूर्व के अंग्रेजी शासन काल को कथा के रूप में चुना है, चाहे वह उपन्यास 'तमस' हो या 'बसंती' या फिर 'मैयादास की माड़ी' या 'कुंतो' हो। लेखक ने इन उपन्यासों में आजादी से पूर्व के भारतीय-समाज की गुलामी की दयनीय स्थिति का यथार्थ चित्रण है। 'तमस' के अंतर्गत डिप्टी कमिश्नर रिचर्ड अपनी मुराद पूरी करने हेतु मुराद अली से सुअर को मरवाने की योजना बनाते हैं। अंग्रेज सरकार के सामने जुलूस निकालना राष्ट्रीय चेतना का ही संचार है।

'मैयादास की माड़ी' उपन्यास में राजनैतिक परिवेश का विशद चित्रण है। अंग्रेजी शासन के लिए खालसा-सत्ता को पराजित करना, अत्याचार अमानवीय व्यवहार, शोषण, दमनवृत्ति तथा युद्ध-विरोधी प्रदर्शनों, जुलूसों आदि की सहायक के रूप में चित्रित किया है। राष्ट्रीय-चेतना के संचार के रूप में सत्ता परिवर्तन होने से मैयादास जैसे राजभक्त प्रामाणिक दीवानों को अंग्रेजों का लालच भी प्रभावित नहीं करता। उनकी दृष्टि में अंग्रेजों के द्वारा शुरू की गई रेलगाड़ी शोषक की ही एक नई तरकीब है।

यहां लेखक ने बीते युग के इतिहास की रचना में अपने पूरे युग की पीड़ा को भरा है। वे कहते हैं कि "सवाल देश-प्रेम, परदेश भक्ति का नहीं। सवाल नमक

हलाली का भी नहीं था, वफादारी का भी नहीं था, सवाल केवल अपने हित का है। किसी ओर कदम उठायें कि बच भी जायें और कुछ प्राप्त भी हो जाए।”¹

‘कुंतो’ के उत्तरार्ध में स्वतंत्रता—प्राप्ति के लिए लड़ने वाले सेनापतियों का चित्रण है। हीरालाल स्वतंत्रता—सेनापति, अंग्रेजों के सामने लड़ते हुए वह न अपनी माँ की चिंता करता, न अपनी पत्नी की। पुलिस ने उसे क्रांतिकारी के रूप में जेल में बंद कर दिया है। नाट्य मंडली के गीतों के द्वारा क्रांतिकारी लोगों में स्वदेश प्रेम की एक जागृति लाने का प्रयास करते हैं। आमजनता की जागृति के लिए एक गीत उदाहरण के रूप में दिखें, जिसमें अंग्रेजों की शोषण—नीति का नंगा चित्रण है। जैसे—

“सुनों हिंद के रहने वाले,
सुनो सुनो।
ये किन बच्चों की चीखें हैं?
किस दुखिया माँ की आहें हैं?
किस बेवा दुल्हन की फरियाद लिए
खामोश निगाहें हैं?
हम हिन्दू हैं, हम मुस्लिम है,
हम सब गरीब, सब दुखियारे
सब एक ही विपदा के मारे
बंद करो, बंद करो, यह खून की होली।”²

‘बसंती’ उपन्यास में भी लेखक ने गरी मजदूरों के साथ का सरकारी पुलिस का दुर्व्यवहार चित्रित है। दो दो पीढ़िया से गैरकानूनी ढंग से झोंपड़ियाँ बनाकर मजदूरी कर अपना जीवन गुजारा करने वाला यह श्रमिक वर्ग बस्ती उजड़ जाने के बाद जायें तो कहां जाए? यह एक जटिल सवाल है। उनका नेतृत्व करने वाला भी कोई नहीं है और उनकी माँग सुनने वाला भी नहीं है। एक ही मिट्टी में पले मानव—समाज में एक पूँजीपति, भोग विलासी, सुख—समृद्धि में पलने वाला वर्ग है और दूसरा मात्र अभावों में जीने वाला वर्ग। आखिर यह अन्यास कहाँ तक लोग सहे, यह एक प्रश्न है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. भीष्म साहनी, मैयादास की माड़ी, पृ0 162
2. भीष्म साहनी, कुंतो, पृ0 306

डॉ. नरेन्द्र कुमार
प्राचार्य भूराराम महाविद्यालय
मेघपुर, झुझुनू

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

हिन्दी साहित्य में राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास

राजस्थान की मरुभूमि ऐतिहासिक, घटनाओं, शूरवीरों एवं चारण, भाट एवं कवियों की शरणास्थली रही है। प्राचीन समय में इस धरती के माध्यम से इसकी सांस्कृतिक परम्परा व इतिहास के रूबरू होने का प्रमाण दिया है। जैसे, स्व. कन्हैयालाल सेठिया, सुर्यमल्ली मिश्रण, मीराबाई, विजयदान देथा आदि।

निर्गुण भक्तिधारा के कवियों की विचारधारा के माध्यम से भी सांस्कृतिक परम्परा व इतिहास से रूबरू होने के साक्ष्य सिद्ध, नाथ कवियों की रचनाओं व उस समय के मुख्य कवि जम्भनाथ व सुन्दरदास की रचनाओं व उनकी वाणियों में भी मिलता था। जम्भनाथ के चमत्कारिक कृत्यों के प्रदर्शन के कारण जनता ने इन्हें जम्भजी कहना प्रारम्भ किया। अभिव्यंजना शैली के परिचयार्थ इनके दोहे द्रष्टव्य है।

गगन हमारा बाजा बाजे, मतर फल हाथी।

संसे का बल गुरुमुख तोड़ा, पांच पुरुष मेरे साथी।।

जम्भनाथ ने अपने आदर्शों या मत के प्रचारार्थ! विश्नोंई सम्प्रदाय की स्थापना की।

राजस्थान के हिन्दी साहित्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ. दयाकृष्ण 'विजय' ने लिखा है कि "चारणों की भाषा डिंगल राजदरबारों तक व उनके चारण साहित्य तक सीमित थी, पिंगल की भी यही स्थिति थी।"

मध्यकाल में मीरा, सुन्दरदास आदि सन्तों ने अपनी लोकभाषा में अपने विचारों व अनुभूतियों को पद्यबद्ध कर जनता को यहां के सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों से अवगत करवाया मीराबाई ने जहां, पर्दाप्रथा, स्त्री स्वतन्त्रता, व गुरु महिमा का पाठ पढ़ाया वहीं सुन्दरदासजी ने ज्ञान, भक्ति एवं नीति की त्रिवेणी प्रवाहित की।

लालदास – लाल पन्थ के प्रवर्तक सन्त लालदास की विचारधारा कबीर मत से प्रभावित थी। वे अच्छे कवि तथा उपदेशक थे। उनकी रचनाएँ लालदास की 'चेतावणी' में संकलित हैं। जिनसे उनकी सुष्ठु अभिव्यंजना शक्ति और गम्भीर रहस्यानुभूति

का ज्ञान होता है। धर्म से दूर रहने वाले लालदास मेव होकर भी उनकी जीवन शैली और रहन सहन हिन्दुओं जैसा था। वे निरामिषभोजी थे। इन्होंने धार्मिक सहिष्णुता व सांस्कृतिक समन्वय का पाठ पढ़ाया।

सुन्दरदास – सन्त दादूदयाल के शिष्य उन्हें संस्कृत व्याकरण, साहित्य तथा दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। उन्होंने भ्रमण करके धर्म सुधार, समाज सुधार एवं रहस्यवाद का पाठ पढ़ाया। सुन्दरदास की मुख्य रचना ज्ञान समुन्द्र और सुन्दरविलास है जिनमें भक्ति योग-साधना और नीति को प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है। शृंगार रस के विरोधी थे व शृंगार रस को सामाजिक व सांस्कृतिक गरिमा का हास करने वाला मानते थे। वो उनके पद के माध्यम से विदित होता है।

रसिक प्रिया रसमंजरी और गिराहि जानि।

चतुराई करि बहुत विधि विषै बनाई आंति॥

इसके विपरीत भक्ति जनित आनन्द अतुलनीय है:-

है यह अति गम्भीर, उठति लहरि आनन्द की।

मिष्ट सुयाकौ नीर, सकल पदारथ मध्य है॥

राजस्थानी साहित्य के सांस्कृतिक इतिहास में रसों काव्य प्रेमाख्यान काव्य की भूमिका भी अद्वितीय है इन काव्यों के माध्यम से सामाजिक सांस्कृतिक व धार्मिक परम्पराओं का निरूपण किया गया है।

मीराबाई उनके स्वरचित विविध पद उनके जीवन पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों तथा उनके अन्य परिणामों के प्रत्यक्ष साक्षी है। राजपूताना के कतिपय प्रशस्ति पत्रों, अभिलेखों, दानपत्रों और कुछ प्राचीन चित्रों में भी उनके जीवन के सामाजिक धार्मिक सांस्कृतिक तथ्य उपलब्ध है। उनके काव्य के माध्यम से पता चलता है कि उन्होंने परम्पराओं का खण्डन किस प्रकार किया और सती होने से इन्कार कर दिया जो दृष्टव्य है:-

जग सुहाग मिथ्या की सजनी हांवा हो मिट जासी।

वरन करयां हरि अविनाशी म्हारो काल व्याल ना खासी॥

मीरां लौकिक बन्धनों से पूर्णतः मुक्त होकर निश्चित भाव से साधु संगति एवं भक्ति पूजा में अपना समय व्यतीत करने लगी।

चरणदास ये 'भागवत' के नित्यपाणी थे उसी के प्रभाव से ये सच्चे ज्ञानी और विरागी बने। इनमें योग, भक्ति, और सदाचार पर विशेष बल है।

कवि कन्हैयालाल सेठियाजी ने अपनी कविता "धरती धोरा री" में राजस्थान की

गौरवशाली सांस्कृतिक परम्परा को आधुनिक पीढ़ी को जताने का प्रयास किया है। कन्हैयालाल सेठियाजी ने छायावादी परम्परा का सहारा लेते हुए प्रकृति का मानवी सत्ता के रूप में सचेतन चित्रण किया है।

प्रगतिवाद के दौर के भावबोध को आत्मसात किया तथा राजस्थानी साहित्य को जन-जन तक पहुंचाने का प्रयास किया।

राजस्थान के हिन्दी काव्य में विकास के विभिन्न सोपानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। चारणों द्वारा रचित साहित्य में आश्रयदाताओं की प्रशंसा, युद्धों का संजीव चित्रण, वीरता तथा आत्मोसर्ग की भावना प्रमुख रही है। जबकि जैन कवियों की रचनाओं में प्रवृत्ति के स्थान पर निवृत्ति की प्रधानता प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुई है।

राजस्थानी साहित्य जीवन का साहित्य है, जनता का साहित्य है यह साहित्य न केवल परिणाम की दृष्टि से विपुल और विशाल है अपितु गुणात्मक दृष्टि से भी उत्कृष्ट एवं अन्यतम है। नेणसी, बांकीदास आदि के साहित्य में भी राजस्थानी संस्कृति का अनोखा रूप देखने को मिलता है व विभिन्न ऐतिहासिक व सांस्कृतिक स्थितियों की जानकारी मिलती है। दोहा छंद तो राजस्थानी साहित्य का सबसे प्राचीन एवं अत्यधिक प्रचलित प्रकार है।

जैन साहित्य – जैन साहित्य जैन धर्मवाल्म्बियों तथा इस धर्म से प्रभावित साहित्यकारों ने रचा। साहित्य की दृष्टि से नहीं वरन् भाषा के अध्ययन की दृष्टि से इस साहित्य का महत्व है।

सन्त साहित्य ने राजस्थानी को गौरवपूर्ण साहित्य दिया है शान्ति प्रिय जनों का शान्त वातावरणमय भू-भाग संतो के लिए प्रेरणादायक रहा। गिरधर दीवानी मीरा, दादूपंथ के प्रवर्तक दादूदयाल ब्रह्मज्ञानी सुन्दरदास महात्मा जसनाथ आदि सन्तों के कारण राजस्थान तीर्थ स्थल बन गया।

लोक साहित्य – लोक साहित्य की विविध विधाओं में अनेकानेक तथा घटनाओं से सम्बन्धित लोक गीत, जनकाव्य, लोक गाथाएँ, प्रवाद, प्रेमगाथाएँ, लोकनाट्य, पहेलियाँ तथा कहावते सम्मिलित हैं। यह लोक साहित्य अपार है। ढोला मारू का दूहा प्रसिद्ध लोक काव्य है।

महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण जो परम्परा और प्रगति की दो धाराओं पर खड़े रहते हैं को नव-जागरण का पहला कवि मानना उचित ही है। 'वीर सतसई' में राजस्थानी सांस्कृतिक साहित्य का बोल बाला है। मनुष्य की स्वतन्त्रता और जीवन के विकास क्रम को कवियों ने पहचानी इस प्रगतिशील धारा के कवियों में कन्हैयालाल सेठिया मुख्य है। राजस्थानी काव्य साहित्य को ऐतिहासिक व सांस्कृतिक

गरिमापूर्ण कहानियां देने का श्रेय है।

आधुनिक काल में अंग्रेजों के विरुद्ध देश में हुए जनजागरण का गहरा प्रभाव राजस्थान की कविता पर दिखाई देती है। इस काल की काव्य रचनाओं में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष तथा मानवता राष्ट्रीयता की भावना समाज सुधार स्त्री-शिक्षा, प्रकृति-प्रेम, शोषण के विरुद्ध संघर्ष तथा ईश्वर प्रेम की प्रधानता रही है।

अतएव साहित्य संस्थाओं के सांस्कृतिक इतिहास के अन्तर्गत आने वाले विषय जिनमें संस्कार, पर्व, त्यौहार तथा परिवार की जो समीक्षा की गई है, केवल धर्म और आस्था से ही अनुबन्धित नहीं है, वरन इसकी परिधि में राजस्थान की सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या निहित है। कोई भी पर्व या उत्सव क्यों कहो, उसको धार्मिक अनुष्ठान के साथ ऐसा पिरोया गया है कि उसमें ऋतु के गुण और सामाजिक तत्व एकरस हो गये हैं। ये विभिन्न संस्थाएँ राजस्थान की संस्कृति की अखण्डता विशुद्धता तथा अविच्छिन्नता को स्थिर रखते हुए लोगों को आनन्दमय चेतना और स्फूर्तिमान जीवन प्रदान करती हैं। त्यौहार पारिवारिक जीवन की आधारशिलाएँ हैं जो जन-जीवन की कड़ियों को मजबूत बनाये रहती हैं और एकता तथा संगठन की भावनाओं को बल प्रदान करती हैं।

श्रीमती ममता कंवर
शोधार्थी, संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

राजस्थान का प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास स्थापत्य, मूर्तिकला आदि

राजस्थान अपने सुन्दर व धनी संस्कृति और परम्परा के लिए प्रसिद्ध है। अद्भुत सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण से विश्व के कोने-कोने से पर्यटकों को अपनी ओर आकर्षित किया है। उसकी कलात्मक और सांस्कृतिक परम्परा प्राचीन भारतीय जीवन शैली को अत्यधिक प्रभावित किया है। धनी और भिन्न-भिन्न लोक संस्कृति जो गांवों में स्थित है, प्रशंसनीय है। राजकीय तौर पर इस कलाओं ने सुन्दर हस्तकला, मैला और त्यौहार सुन्दर कलाओं के रूप में अनमोल राजस्थानी पौशाक को प्रदर्शित किया है जो राजस्थान संस्कृति का भाग है।

संगीत और नृत्य

सर्वोत्कृष्ट सांस्कृतिक शास्त्रीय संगीत और नृत्य राजस्थान संस्कृति का मुख्य भाग है। लोक संगीत और नृत्य प्रशंसनीय है। कालबेलिया और घूमर नृत्य विश्व प्रसिद्ध है। राजस्थान के लोक संगीत दैनिक जीवन के साथ सम्बन्ध बना चुका है। कठपूतली, चंग, भोपा, गीदड़, तेजाजी, इत्यादि लोकप्रिय लोक संगीत है।

राजपूत वीर योद्धा होने के साथ ही कला प्रेमी भी थे अतः संगीतादि ललित कलाओं को यहां पर अत्यधिक प्रश्रय मिला। संगीत यहां के राज दरबारों की शोभा था। सिन्धु राग का गायन निरन्तर किया जाता था। डिंगल के कवियों ने इसके उत्साह वर्द्धक प्रभाव का सुन्दर वर्णन किया है।

सखी अमीणौ साहिबो, निरभै कालौ नाग।

सिर राखै मिण सांमध्रम, रीझे सिन्धु राग।। बाकीदास (सं. 1828-90)

राजस्थान का श्रृंगार रसात्मक मॉड भी अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। मॉड राग आज भी लोक धुन के रूप में सर्वप्रिय है। अष्टछाप संगीत की परम्परा भी राजस्थान में अत्यधिक पल्लवित हुई, जिसने शास्त्रीय संगीत की ध्रुवपद धमार कीर्तन गान शैलियों, पखावज व वीणावादन की शैलियों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया तथा जो आज भी हवेली संगीत की परम्परा में जीवन्त है।

राजस्थान नृत्यों की भी रंगस्थली रही है, अतः इस मरू प्रदेश को रंगीला राजस्थान कहा जाता है। वर्तमान समय में शास्त्रीय नृत्य परम्परा के अन्तर्गत कथक का उद्गम राजस्थान से ही हुआ है। कथक नृत्य की “हिन्दू शैली” का प्रतिनिधित्व जयपुर घराना ही करता है।

राजस्थानी लोकनृत्यों में मानव जीवन का जो चित्रण मिलता है, उसमें संघर्षों का प्रस्तुतीकरण प्रायः मिलता है। जिनमें क्षेत्रीय लोकनृत्य जिनमें गैर नृत्य जो होली नृत्यों में एक नृत्य है। इसी परम्परा में शेखावाटी का गीदड़ नृत्य में मण्डप के बीच नगाड़ची पहुंचकर प्रार्थना करता है और उसके बाद नृत्य आरम्भ होता है। शेखावाटी का चंग नृत्य जो होली के दिनों में प्रत्येक व्यक्ति के पास चंग के साथ होता है। मारवाड़ का डांडिया नृत्य में बीस पच्चीस पुरुषों की एक टोली दोनों हाथों में लम्बी छड़ियां धारण करके वृत्ताकार नृत्य करती है। जालौर का डोल नृत्य शादी के समय किया जाता है। जसनाथी सिद्धो का अग्नि नृत्य आग के धधकते अंगारों पर किया जाता है। उद्गम बीकानेर जिले के कतरियासर ग्राम में हुआ। अलवर भरतपुर का बम नृत्य इसमें एक बड़े नगाड़े का प्रयोग किया जाता है। घूमर नृत्य मांगलिक अवसरों पर्वों आदि पर महिलाओं द्वारा किये जाने वाला लोकप्रिय नृत्य है।

जातीय लोकनृत्य के अन्तर्गत वनवासियों के लोकनृत्य, भीलों के लोकनृत्य गवरी, गरासियों के लोक नृत्य वालर, सांसियों के नृत्य, कालबेलियों का नृत्य, गूजरों का चरी नृत्य, मीणों के नृत्य। व्यावसायिक लोकनृत्य। भवाई नृत्य, तेरहताली व कच्छी घोड़ी नृत्य प्रचलित है।

कला

राजस्थान अपनी परम्परा और सुन्दर कलाओं के लिये जाना जाता है। नक्कासी किये हुए लड़कियों के समान, जिस पर राजस्थान की सुन्दर कलाओं का प्रतिबिम्ब देखा गया है। राजस्थानी वस्त्रों में बन्धेज साड़ी, कुर्सी, जरी, जूट इत्यादि लोकप्रियता के भिन्न-भिन्न स्वरूप है। घाघरा और लहंगा, चोली, राजस्थान के लोकप्रिय पोशाक हैं राजस्थान राजाओं का स्थल रहा है। जो अपनी शान व शोकन के लिये विश्व प्रसिद्ध है। विश्व पर्यटक, राजस्थान का दर्शन करते हैं और शानदान स्मारक के विषय में अन्वेषण करते जैसे जन्तर-मन्तर, सिटी पैलेस, देलवाड़ा मन्दिर, मणकपुर मन्दिर, चित्तौड़गढ़, किला, लेक पैलेस और जैसलमेर की हवेलियां आदि।

राजस्थान की हस्त कलाओं का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना की पाषाण कालीन मानव का उसने कपड़ा बुनाई रंगाई व छपाई के अन्तर्गत काम में आने वाले रेजा तैयार किया जाता था। राजस्थान का बन्धेज या मोठड़ा बहुत प्रसिद्ध है। यहां का लहरिया व पोमचा प्रसिद्ध है। राजस्थान के छापो ने नाना प्रकार के

बेल बूटो का पक्के रंगों में छपाई का काम किया है। चित्तौड़ में जाजम की छपाई होती है गोटे का काम खण्डेला में व जरी का काम जयपुर में सांगानेर में छपाई का कार्य होता है।

मीनाकारी में आभूषणों को मीनाकारी से अलंकृत किया जाता है चांदी के काम में चांदी को एक हजार डिग्री ताप पर गलाकर पतर बनाया जाता है और इनसे वस्तुओं के आकार तैयार किये जाते हैं। धातु के काम में लोहे का धातु का पीतल का व्याइट मैटल का कोपतगिरी का काम होता है। लकड़ी, हाथीदांत व चन्दन की कुटाई का काम शेखावाटी बीकानेर, उदयपुर, मेड़ता, उदयपुर में हुआ है। पत्थर का काम जयपुर में प्रसिद्ध है। कट्टी का काम ब्लू पॉटरी लाख का काम चित्रकला, टेरा कोटा गलीचे व दरिया आदि कलाएँ उन्नत श्रेणी की थी। राजस्थान अपने बहुरंगी वस्त्रों के लिए प्राचीन काल से विख्यात रहा है। राजस्थान का वस्त्र उद्योग में मारवाड़ की टुकड़ी सर्वोत्तम गिनी जाती हैं रंगाई के प्रमुख प्रकार पोंमचा, लहरिया एवं चूनरी है। रत्नाभूषण उद्योग में व रत्नाभूषणों के निर्माण में जयपुर आदि है।

पर्व और त्यौहार

राजस्थान भिन्न-भिन्न पर्व व त्यौहारों के लिये ख्याती प्राप्त है। धार्मिक व क्षेत्रीय मेले और त्यौहार बड़े धुम धाम व उत्साह के साथ मनाए जाते हैं। जैसे पुष्कर मेला, रेगिस्तान मेला, ऊंट, हाथी मेला, होली, गणगौर, तीज, मकर संक्रांति राज्य के प्रमुख मेला और त्यौहार है। इन मेले और त्यौहार ने राज्य की संस्कृति और परम्परा को सुन्दर व लोकप्रिय बनाया है। राजस्थान शाही स्थल है। यह एक स्वर्ण की भांति उसी प्रकार अपने प्रकाश में फैला रहा है जैसे बंजर रेगिस्तान में दबे हुए अनमोल रत्न है। स्वर्ण की भांति प्रकाशित होने वाला भिन्न-भिन्न कला व सुन्दरता को प्रस्तुत करता है। वस्त्र और शाही वेशभूषा से राजस्थान के गौरव व प्राचीनता की स्पष्ट झलक मिलती है।

पर्व, मेले व त्यौहार – हर त्यौहार पर्व व मेला यहां के लोक जीवन की किसी किंवदन्ती अथवा किसी ऐतिहासिक कथानक से जुड़ा हुआ है। यही वजह है कि इन मेलो, पर्व व त्यौहारों के आयोजन में सम्पूर्ण लोक जीवन पूरी सक्रियता से सम्मिलित होता है और यहां की लोक संस्कृति जीवन्त हो उठती है। प्रमुख मेले में पुष्कर का मेला कार्तिक पूर्णिमा पर आयोजित होता है। जीणमाता का मेला रेवासा में चैत्र मास और आश्विन माह के नवरात्रों में भरता है। भर्तृहरि का मेला भाद्रपद में आयोजित होता है। डिग्गी का मेला सावन की अमावस्या को विशाल मेला आयोजित होता है। श्री महावीरजी का मेला, शिवाड़ का मेला, शीतला का मेला, कैलादेवी का मेला, रणथम्भौर

बौद्ध मूर्तिकला के प्रमुख केन्द्रों का कलात्मक अध्ययन

मौर्यकालीन मूर्तिशिल्प'

नन्दवंश का नाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य (322 ई.पू. से 302 ई.पू.) ने मौर्य वंश की स्थापना की, इस काल में कला एवं शिल्प की उन्नति उदार रूप में हुई। चाणक्य के अर्थशास्त्र व मेगस्थनीज की इण्डिका ग्रन्थों से इस काल के शिल्प के बारे में पता चलता है। इस काल में कला राजाश्रय के कारण फलती फूलती रही व कई देवता, यक्ष, उपदेवता आदि का सृजन हुआ। इस समय के सबसे प्रतापी शासकों में अशोक (277 ई.पू. से 236 ई.पू.) का नाम आता है। जिसने कलिंग युद्ध के बाद बौद्ध भिक्षु उपगुप्त के समझाने पर बौद्ध धर्म को अपनाया एवं इस धर्म को राजाश्रय दिया। बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अशोक ने शिलाओं, स्तूपों, विहारों, धार्मिक स्थलों व सार्वजनिक स्थलों पर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित विचार खुदवाये व 84000 हजार स्तम्भों के लगभग अशोक जहाँ-जहाँ गये वहीं पर इनका निर्माण करवाया। न केवल अशोक ने इस धर्म का प्रचार किया बल्कि उसने अपने पुत्र को भी प्रचार के लिए बाहर देश भेजा। जहाँ-जहाँ लोगों की संख्या अधिक मिलती अशोक ने वहाँ पर पत्थर के स्तम्भों का निर्माण करवाया जिनपे राजकीय आदेश व उपदेश खुदवाये जाते थे। इन आदेशों में लिखा जाता था कि अधिकारी प्रजा के हितों को ध्यान में रखें, बुद्ध के विचारों को मानें व वृद्ध, रोगियों, गरीबों की सहायता भी करें। अशोक के सभी स्तम्भों में सारनाथ स्तम्भ अधिक सुन्दर व सुगठित बनाया गया है जो 49.6 फुट लम्बा है व इसके शीर्ष पर सिंह बना हुआ है व इसे भारत के राष्ट्रीय चिन्ह का गौरव भी प्राप्त है, इसके अलावा सांची, रामपुरवा, लोरियानन्दगढ़, कौशाम्बी, लुम्बनी, निगलीवा, बाखिरा (कोल्हुआ), संकीसा, दिल्ली, मेरठ आदि स्थानों पर भी अशोक निर्मित स्तम्भ बनाये गये हैं। इन स्तम्भों को दो भागों लार व परगहों में बांटा गया है। लाट परगहों के नीचे का खड़ा पत्थर है व लाट के ऊपर परगहों को पांच भागों में मेखला, उल्टा कमल, पतली मेखली, गोल या चौकोर चौकी, सिरे पर पशुओं के साथ बांटा गया है। ये स्तम्भ लगभग 40 से 50 फुट की लम्बाई में बने होते थे

स्तम्भों के अलावा मौर्यकाल में यक्षिणी व यक्षों की मूर्तियाँ भी बनाई गई हैं।

शुंगकालीन मूर्तिशिल्प²

मौर्यवंश के अंतिम शासक वृहद्रथ को मारकर पुष्यमित्र शुंग ने शुंग वंश की स्थापना की थी इस काल में दो महत्वपूर्ण स्तूपों भरहुत व सांची की स्थापना हुई जिनमें बौद्ध मूर्तियों को अधिक संख्या में बनाया गया है। इन स्तूपों में आध्यात्मिक, कलात्मक, ऐतिहासिक, सामाजिक सभी विचारों का समन्वित रूप देखने को मिलता है। बौद्ध मूर्ति शिल्पों के अलावा गजलक्ष्मी, लक्ष्मी, अप्सराओं, मिथुन, आकृतियाँ, धर्मचक्र, कल्पवृक्ष, पशु-पक्षी, नाग-नागिन, मकर, वृषभ, सिंह, अश्व, गज, आदि का भी अंकन देखने को मिलता है स्तूपों के चारों दिशाओं में चार तौरण द्वारा विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं जिनमें बौद्ध धर्म से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण घटनाओं को दर्शाया गया है। बुद्ध से सम्बन्धित अवशेषों को इन स्तूपों में रखा जाता था। स्तूपों के चारों दिशाओं में निर्मित तौरण द्वारों में उत्तर दिशा का तौरण द्वार कुबेर को, पूर्ण का तौरण द्वार धृतराष्ट्र को, दक्षिण का नागराज विरुद्ध को व पश्चिम का कुशमाण्डो राज विरूपाक्ष को समर्पित है। तौरण द्वार, अण्ड, हरमिका, छत्रयष्टि, धर्मचक्र, प्रदक्षिणा पथ, मेघी, बाड़ आदि स्तूप के मुख्य भाग हैं।

सांची का स्तूप सभी स्तूपों में श्रेष्ठ स्तूप माना जाता है, यह भोपाल के पास बौद्ध गया में स्थित है। सांची के स्तूप के तल का व्यास 120 फीट तथा ऊँचाई 24 फीट है। तौरण द्वार के चौपहले खम्बे 14 फीट ऊँचे हैं तथा सम्पूर्ण तौरण 34 फीट ऊँचा है। इन तौरण द्वारों पर बुद्ध के जीवन से संबंधित जातक कथाओं, राजाओं का जीवन, गांव का जीवन, यक्ष, यक्षिणियां, बौद्ध भिक्षु, वृक्षिकाएं, द्वारपाल, बोनो, पशु पक्षी आदि का वर्णन किया गया है। यहां पर उकेरे गए शिल्पों की भाव भंगिमाएं सुन्दर व मनोहारी हैं। तौरण द्वार पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है कि इन शिल्पों को बनाने वाले विदिशा नगरी के हाथी दांत के कारीगर थे। यहां पर बुद्ध के पुनर्जन्म के दृश्य, सरोवर के कमल, बोधिवृक्ष, ऋषि-मुनि, पुरुष व नारी, फूल-पत्ति, थलचर व जलचर, ज्यामितीय अलंकरण सभी को सजीव रूप में उत्कीर्ण किया गया है। सांची से सम्पूर्ण स्तूप के निर्माण में बौद्ध कलाकारों को प्रमुख स्थान दिया गया है। अर्थात् चारों तरफ भगवान बुद्ध की उपस्थिति का आभास होता है व जहां पर बुद्ध को कलाकार नहीं बना सका वहां पर सिंहासन, चरण पादुका, कमल, धर्मचक्र आदि प्रतिकों से बुद्ध के अस्तित्व को दर्शाने का प्रयास किया गया है। यहां के उत्कीर्ण शिल्पों में माया देवी का स्वप्न, बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण, छदन्त जातक, मृग जातक आदि को प्रमुख रूप से उकेरा गया है।

सन् 1873 ई. में जनरल कनिंघम ने भरहुत स्तूप का पता लगाया व सन्

1874 ई. में इस स्तूप का उन्होंने उत्खन्न कराया व उत्खन्न से प्राप्त कुछ अवशेष कलकत्ता संग्रहालय भी भिजवाए गए थे। यह शुंग काल का दूसरा मूर्तिकला केन्द्र है। भरहुत स्तूप विन्ध्यप्रदेश के नागोद जिले में इलाहाबाद और जबलपुर के बीच लंगरहवां स्टेशन के बीच स्थित है। भरहुत को 'शाम्यक विहार' के नाम से भी जाना जाता है। भरहुत स्तूप के तल का व्यास 68 फीट था व इसके चारों ओर फर्श पर 10 फीट 3 ईंच चौड़ी परिक्रमा बनी हुई थी। इसमें लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है। यहां के तौरण द्वार 20 फीट के लगभग ऊंचे बने हुए थे। वेदिका के प्रत्येक भाग पर बुद्ध के जीवन की कथाएं, अलंकरण, यक्ष-यक्षिणियाँ आदि उत्कीर्ण है। यहाँ पर जातक कथाएं, ऐतिहासिक घटनाएं व लोक जीवन का समन्वय देखने को मिलता है। वेदिका पर लगे खम्भों पर देवी देवता, यक्ष, नाग, कमल, पशु-पक्षी उकेरे गये हैं। अन्य शिल्पों में राजा प्रसेनजित की रथ सवारी, बोधिवृक्ष, हाथी पर विराजमान मगधराज, अजातशत्रु, नाग, शालभंजिका, चक्रमूर्ति, बंदरों का समुह, आदि उकेरे गये हैं। जातक कथाओं में महाकवि जातक कथा, जेतवन का दान प्रमुख रूप से उकेरी गई हैं।

अमरावती स्तूप कृष्णा नदी के तट पर चेन्नई में स्थित है। जिस समय मथुरा में मूर्तिकला का निर्माण हो रहा था उस वक्त अमरावती में आन्ध्र नरेशों ने इस बौद्ध स्तूप का निर्माण करवाया था इसका अर्द्धव्यास 108 फीट था, इस स्तूप की ऊँचाई 14-15 फीट के लगभग है यहाँ पर कुछ कुछ दूरी पर मूर्तियों का निर्माण भी हुआ व कहीं-कहीं बौने लोगों कि मूर्तियाँ भी बनी हुई थी। यह स्तूप ईंटों द्वारा निर्मित था वह इस स्तूप के नीचे के हिस्से को संगमरमर से बनाया गया था स्तूप के चारों ओर लगे खम्भों पर कमल उत्कीर्ण किए गए हैं। यहां पर पहली बार बुद्ध को संकेतों में न उकेर कर मूर्तियों में बनाया गया है। यहां पर स्तूप का नक्शा शिल्पियों द्वारा उकेरते हुए भी बनाया गया है व अन्य मूर्तिशिल्पियों में माया देवी का स्वप्न, नाग-नागीन, प्रेमी युगल, वृद्धिकाएं, नीलगिरी पर्वत पर हाथियों का पकडना, पशु-पक्षी, नाग पूजा, जेतवन विहार, श्रावस्ती दृश्य, भगवान बुद्ध का परिनिर्वाण, मधुदान, धर्म परिवर्तन, स्तूप पूजा, भगवान बुद्ध की मूर्ति का प्रभामण्डल युक्त उत्कीर्ण, मार विजय, मार कन्याएं, यशोधरा ओर पुत्र राहुल आदि उत्कीर्ण किए गए हैं।
कुषाणकालीन मूर्तिशिल्प³

कुषाण काल में यूनान व रोम शैलियों के मिश्रण से भारत व पड़ोसी देशों में गान्धार व मथुरा दो प्रमुख शैलियों का उदय हुआ, इस मूर्ति शैली को ग्रीको बुद्धिस्ट के नाम से भी पुकारा जाता है। मथुरा व गान्धार मूर्तिशैलियों को संयुक्त रूप से गान्धार शैली भी कहा जाता है जिसमें सर्वप्रथम बुद्ध को मूर्त रूप में बनाया गया व

मथुरा शैली में गान्धार शैली की उपेक्षा अधिक सुन्दर बौद्ध कलाकृतियाँ बनाई गईं। इस काम में बुद्ध को मन्दिरों एवं धातु मूर्तियों के रूप में भी बनाया गया। गान्धार शैली में स्लेटी रंग के पत्थर का प्रयोग किया गया वहीं मथुरा शैली में लाल चितेदार पत्थर का प्रयोग किया गया था। गान्धार शैली की बुद्ध मूर्तियों में यूनानी देवता 'अपोलो' के समान मूर्तियाँ बनाई गईं वहीं मथुरा शैली का शुद्ध भारतीय शैली मना गया है। गान्धार शैली से पूर्व बुद्ध को मानव रूप में न बनाकर वृषभ, अश्व, बोधिवृक्ष, छत्र, स्तूप, चरणचिन्ह, धर्मचक्र, खाली सिंहासन आदि रूपों में दर्शाया जाता था। गान्धार शैली में बुद्ध को मुछों व चप्पल पहले दर्शाया गया है। गान्धार कला के कारण बौद्ध धर्म में मूर्तिपूजा होने लगीं। गान्धार कला के कुछ लक्षण जैसे घुंघराले बाल, अण्डाकार मुखमण्डल, वस्त्रों की गहरी सलवटें, यूनानी शारीरिक अनुपात आदि प्रमुख रूप से देखने को मिलते हैं। इस शैली में बुद्ध के जीवन की घटनाओं को दिखाया गया है जिनमें माया देवी का स्वप्न, बुद्ध का जन्म, बुद्ध का विवाह, धर्मचक्र परिवर्तन, धातु पूजा आदि इस शैली में ब्राह्मण मूर्तियाँ भी बनीं जिनमें कुबेर, इन्द्र, ब्रह्मा, सूर्य यक्ष और वृक्षिकाएं प्रमुख हैं।

कुषाणकाल की सबसे सुन्दर बुद्ध मूर्तियाँ मथुरा शैली में बनी थीं जो गान्धार से कहीं श्रेष्ठ दिखाई देती हैं। मथुरा शैली का समय ई.पू. द्वितीय शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक माना जाता है। इस काल में कई बौद्ध मूर्तियों का निर्माण हुआ व अन्य मूर्तिशिल्पों में चार पंखवाली सिंह नारियाँ, झरने में स्नान करती स्त्री, प्रसाधिका, नाग-नागिन, ऋषि श्रृंगी, श्री (लक्ष्मी), यक्ष प्रतिमाएं प्रमुख हैं। मथुरा मूर्तिशिल्पों को गान्धार मूर्तिशिल्पों से कहीं अधिक उभारकर कलाकारों ने अधिक सुन्दर बनाने का प्रयास किया है व मूर्तियों को सुडौल व मॉसल दिखाने का प्रयास किया गया है। गान्धार शैली में बुद्ध प्रतिमाओं में मूछों को बनाया गया है लेकिन मथुरा शैली में नहीं बनाया गया है व स्थानक मुद्रा में पूर्व से चली आ रही यक्ष प्रतिमाओं का अनुसरण किया गया है वहीं आसन मुद्रा में बुद्ध को योगी के रूप में दिखाया गया है। मथुरा मूर्तियों को अधिक उकेरकर बनाने से चारों तरफ से देखा जा सकता है व मूर्तियों के सिर पर बालों का अभाव है, वस्त्रों को मोटे-मोटे रूप में उकेरा गया है व प्रभामण्डल सादा दिखाया है। मथुरा कला में वेदिकाएं भी बनाई गईं जिसमें बुद्ध जीवन के साथ-साथ सामान्य जन-जीवन को भी बनाया गया है। बुद्ध मूर्तियों के साथ-साथ इस काल में ब्राह्मण, जैन, यक्ष-यक्षिणियों व राजाओं की मूर्तियाँ भी बनाई गईं हैं जिनमें शिव, विष्णु, कृष्ण-बलराम, कार्तिकेय, इन्द्र, अग्नि, सूर्य, कामदेव, लक्ष्मी, सरस्वती, मिट्टी के खिलौने, कुबेर, हरीती, कनिष्क, विमकदफ आदि की मूर्तियाँ भी बनाई गईं हैं।

गुप्तकालीन मूर्तिशिल्प⁴

गुप्तकाल को भारतीय मूर्तिकला का स्वर्ण काल माना जाता है इस काल में बुद्ध मूर्तियाँ सबसे सुन्दर व सुगठित बनाई गई हैं। ऐतिहासिक महत्व से 320 ई. से 600 ई. तक को गुप्तकाल के रूप में जाना जाता है। गुप्तकाल की नींव चन्द्रगुप्त ने (320 ई.—330 ई.) डाली थी। गान्धार कला में जहाँ बुद्ध मूर्तियों के प्रभामण्डल को सादा बनाया गया था वहीं गुप्त काल में प्रभामण्डल को अलंकृत व आकर्षक बनाया जाने लगा व प्रभामण्डल को बेल-बूटों और मानवाकृति द्वारा अलंकृत बनाये जाने लगा। गान्धार कला में बुद्ध को सादा बनाया जाता था किन्तु गुप्तकाल में बुद्ध मूर्तियों को ओजपूर्ण व आकर्षक बनाये जाने लगा। मथुरा, सारनाथ, सुल्तानगंज में इसका उदाहरण देखने को मिलता है यहाँ बुद्ध को गम्भीर मुद्रा, शांत मुस्कुराहट दोनों रूपों में दिखाया गया है। गुप्तकालीन मूर्तियों को कलाकार ने संवारकर सौन्दर्य प्रदान किया है बुद्ध मूर्तियों को पारदर्शक वस्त्रों के साथ यहां पर दिखाया गया है वहीं गान्धार कला में बुद्ध मूर्तियों को मोटे-मोटे कपड़ों में दिखाया गया है। गुप्तकाल में बुद्ध मूर्तियों को मथुरा एवं सारनाथ में मुख्य रूप से बनाया गया है। बुद्ध को इस काल में दोनों कन्धों को वस्त्रों से ढके हुए दर्शाया गया है। सभी बुद्ध मूर्तियों में सारनाथ से प्राप्त पद्मासन बुद्ध मूर्ति श्रेष्ठ मूर्ति शिल्प हैं यह मूर्ति धर्म चक्र प्रवर्तन की मुद्रा में निर्मित की गई है। इसके अलावा नालन्दा के उत्खनन से प्राप्त धातु मूर्तियाँ, सुल्तानगंज (भागलपुर) से प्राप्त ताम्र निर्मित बुद्ध मूर्ति काशी की कार्तिकेय मूर्ति, लोकेश्वर मूर्ति, भनकुवांर में मिली बुद्ध मूर्ति, मथुरा से प्राप्त बुद्ध मूर्ति प्रमुख मूर्तिशिल्प हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. सीता प्रताप, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,

भारत में बढ़ती जनसंख्या एक चुनौति

पृथ्वी की उत्पत्ति से लेकर वर्तमान समय तक मानव प्रकृति का पुत्र या संतान रहा है। परन्तु उत्पत्ति के समय मानव का विकास इतना नहीं था। वह पृथ्वी को ही अपनी जन्म दात्री मानता था। और प्रकृति की दी गई वस्तुएँ जैसे कंद, मूल, फल, फूल, आदि से अपना पेट पालन करता था। आदि मानव प्रकृति का “दास” था। क्योंकि जैसे-जैसे प्रकृति अपना रूख बदलती थी। मानव भी उसी के अनुसार परिवर्तित हो जाता था।

वर्तमान समय में मानव का विकास बहुत अधिक हो चुका है और वह प्रकृति की दी गई वस्तुओं का प्रयोग करते हुए अपना तथा पृथ्वी का विकास भी करता आया है। क्योंकि मनुष्य ही एक तत्व ऐसा है जो प्रकृति का मुख्य तत्व है तथा यह प्रकृति की दी हुई वस्तुओं को अपने उपयोग में लेकर अपना विकास कर पृथ्वी के रूप में परिवर्तन कर देता है।

पृथ्वी व मानव के संबंधों का जो अध्ययन किया जाता है व प्रकृति व पर्यावरण या मानव भूगोल कहा जाता है। कि “मानव चाहे कितनी ही उड़ाने भरे उसको अन्त में पृथ्वी पर ही आना होता है।” परन्तु जब मानव अपनी सीमाओं में रहकर अपना जीवनयापन करता है तो प्रकृति उसका सहयोग करती है, परन्तु अगर वह प्रकृति पर हावी होता या भार बढ़ाता है तो प्रकृति असन्तुलित हो जाती है और अपना रूख बदलना चाहती है।

आज मानव विकसित होकर दिनो-दिन पृथ्वी पर भार बनता जा रहा है जिससे कई समस्याएँ उत्पन्न होती जा रही हैं। जिसमें बढ़ती जनसंख्या सबसे मुख्य है।

भारत में बढ़ती जनसंख्या एक चुनौति

विश्व की जनसंख्या सभी देशों में समान रूप से वितरित न होकर असमान रूप से वितरित है। चीन विश्व में सबसे अधिक आबादी के साथ विश्व में प्रथम स्थान पर है, लेकिन जनसंख्या नियन्त्रण तथा औद्योगिक तकनीकी चीन को इतना अधिक प्रभावित नहीं कर पा रही है। किसी भी देश की जनसंख्या उस देश पर

कमी या वृद्धि से उस देश को प्रभावित करती है।

आज हमारा देश भारत जनसंख्या की समस्या से जूझ रहा है क्योंकि भारत जनसंख्या की दृष्टि में द्वितीय स्थान पर है, और यहां की जनसंख्या अनेक धर्मों, भाषाओं, क्षेत्रों आदि में वितरित है। 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 102.7 करोड़ थी। जो 2011 में बढ़कर 121.8 करोड़ हो गई है जबकि भारत क्षेत्रफल की दृष्टि से 7 वे स्थान पर आता है। भारत की जनसंख्या क्षेत्रफल से अधिक होने के कारण ये माना जा सकता है, कि भारतीय भूमि पर जनसंख्या का भार अधिक है सही रूप में कहा जाए तो भारत 1961 के भूमि पर जनसंख्या का भार अधिक है सही रूप में कहा जाए तो भारत 1961 के बाद से “जनसंख्या विस्फोट” की स्थिति से गुजर रहा है। क्योंकि 1961-71 के बीच के वर्षों में जनसंख्या वृद्धि दर लगभग 2.24 प्रतिशत वार्षिक रही है। 1981 के दशक में यह वृद्धि दर 2.23 प्रतिशत रही जो पिछले दशक के बराबर रही है यह वृद्धि होने का प्रमुख कारण परिवार नियोजन कार्यक्रम का सभी पर सही रूप से लागू न होने से हुआ।

वर्तमान में भी इसी प्रकार वृद्धि होती रही तो आने वाले कुछ ही वर्षों में जनसंख्या बढ़कर चीन की जनसंख्या को पार कर जाएगी। और भारत में कई समस्याएँ उत्पन्न हो जाएगी।

भारत में जनसंख्या वृद्धि:-

जनसंख्या वृद्धि को किसी निश्चित समय के अन्तराल में जन्मदर व मृत्युदर के अन्तर में मापा जाता है। इस दर को प्राकृति वृद्धि दर कहा जाता है मृत्यु दर घटती है तथा जन्म पर बढ़ती है तो जनसंख्या की वृद्धि भी उतनी ही तीव्र गति से बढ़ती है भारत में आधुनिक समय में स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान देकर चिकित्सा सुविधा को बढ़ाकर बिमारियों पर धीरे-धीरे नियन्त्रण पाया जा रहा है। जिसके कारण मृत्युदर में कमी होती जा रही है तथा जन्म दर में वृद्धि होती जा रही है।

भारत की जनसंख्या निम्न आंकड़ों द्वारा दर्शायी जा सकती है:-

भारत की जनसंख्या निम्न आंकड़ों द्वारा दर्शायी जा सकती है:-

जनगणना वर्ष	जनसंख्या करोड़ में	दशक में वृद्धि %	जनसंख्या घनत्व	लिंगानुपात प्रति हजार पुरुष पर स्त्रियों
1951	36.1	—	117	946
1961	43.9	21.5	142	941
1971	54.8	24.8	178	930
1981	68.3	24.7	216	934
1991	84.4	23.5	274	927
2001	102.7	21.3	324	933
2011	121.8	17.6	382	940

‘स्रोत: भारत की जनसंख्या— अन्तिम आंकड़े

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट होता है कि 1951 में जन्मदर जहां 39.9 प्रति हजार से कम होकर 2000 में 25 प्रति हजार हो गई। वहीं मृत्यु दर में गिरावट हुई जो 27.4 प्रति हजार से कम होकर 9 प्रति हजार हो गई। जन्मदर को नियन्त्रित करने के लिए विवाह की आयु, परिवार, नियोजन पुत्र प्राप्ति की इच्छा तथा कई अन्धविश्वास व रूढ़िवादी विचारों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। आज अगर इसी प्रकार जनसंख्या वृद्धि होती रही तो आगे जाकर भारत के लिए बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न कर देगी। जिससे भारत देश का विकास अवरूढ़ हो जाएगा। भारत आज जनांकिकीय संक्रमण की दूसरी अवस्था से गुजर रहा है।

भारत की भौगोलिक स्थिति भी इस तथ्य (जनसंख्या) को प्रभावित करती है, क्योंकि भारत का उत्तर पूर्व का मैदान (गंगा व ब्रह्मपुत्र से निर्मित) जनसंख्या सघन रखता है। क्योंकि यहां पर समतल व उपजाऊ मिट्टी तथा पानी की उपलब्धता है। परन्तु थार का मरुस्थल इसके विपरीत जनसंख्या को दर्शाता है। पूर्वी मैदान उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, उड़ीसा आदि राज्य तथा कई तटीय क्षेत्र, जैसे केरल, महाराष्ट्र, गोवा तमिलनाडु आदि राज्यों में भी जनसंख्या सघनतम पायी जाती है।

भारत में तीव्र जनसंख्या वृद्धि के कारण:-

भारत में जनसंख्या वृद्धि के निम्न कारण हैं।

1. विवाह की मर्यादा व बालविवाह
2. अशिक्षा
3. रूढ़िवादिता व अंधविश्वास
4. बेरोजगारी
5. जागरूकता की कमी
6. भारत की उष्ण जलवायु
7. पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव
8. परिवार नियोजन पूर्णरूप से लागू नहीं होना
9. स्त्रियों में शिक्षा का अभाव

परिणाम:

1. मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति न होना
2. गरीबी व बेरोजगारी
3. कुपोषण
4. भोजन, पेयजल, शिक्षा स्वास्थ्य आदि में कमी।

5. कृषि भूमि पर बढ़ता भार
6. असामाजिक तत्वों का उभरना।
7. चोरी-डकैती, भ्रष्टाचार, बलात्कार आदि समस्याएँ उत्पन्न होना।
8. एकल परिवार का होना।
9. वृद्धों व बच्चों पर ध्यान न देना।

भारत में घटता लिंगानुपात:-

प्रति हजार पुरुषों पर स्त्रियों की संख्या के अनुपात को लिंगानुपात कहा जाता है। भारत में धीरे-धीरे स्त्रियों की कमी होती जा रही है। पिछले दशक में जनसंख्या घनत्व 933 था जो बढ़कर 940 हो गया है। परन्तु 940 स्त्रियों का होना भी काफी नहीं है क्योंकि स्त्रियों की कमी भी भारत पर एक समस्या बनती जा रही है, क्योंकि अविवाहित युवा वर्ग अनावश्यक कार्यों जैसे चोरी-डकैती, लूटपाट आदि कृत्य करने लग जाते हैं या फिर नशेड़ी होकर गलियों में आवारा घूमने लग जाते हैं। घटता लिंगानुपात भी भारत के लिए एक चिन्ता का विषय है।

लिंगानुपात में अन्तर होने के कारण जैसे भ्रूण हत्या, बेटे को पराया धन मानना, स्त्री शिक्षा पर ध्यान नहीं देना, तथा बढ़ती हुई बलात्कार जैसी घटनाएँ प्रभावित करती हैं।

अन्य कारण:-

भारत में एक धर्म न होकर अनेक धर्मों का जन्म स्थान है अतः सभी धर्मों के लोगो पर कानून पूर्ण रूप से लागू नहीं हो पाता है। तथा जातिवाद, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकतावाद आदि कई तत्व भी जनसंख्या को प्रभावित करते हैं।

जनसंख्या नियंत्रण:-

भारत में जनसंख्या नियंत्रण होना आवश्यक है क्योंकि भारत में जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ती जा रही है। अगर इतनी तीव्र गति से वृद्धि होती रही तो आने वाले दशक में भारत विश्व में चीन को पीछे छोड़कर प्रथम स्थान पर हो जाएगा और भारत को कई समस्याओं का सामना करना पड़ जाएगा।

परिवार नियोजन कार्यक्रम:-

निरन्तर बढ़ी जनसंख्या को नियंत्रित करने के लिए सरकार ने 'परिवार नियोजन' योजना कार्यक्रम चलाया परन्तु यह कार्यक्रम सफलता पूर्वक लागू नहीं हुआ। भारत विश्व में ऐसा पहला देश है जिसने सर्वप्रथम 1952 में परिवार नियोजन कार्यक्रम

को अपनाया। अगर यह कार्यक्रम सफल पूर्वक चल पाता है तो वर्तमान समय में तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या पर काबू पाया जा सकता है, और इस योजना को विभिन्न पंचवर्षीय योजना में एक प्रारूप देकर योजना के रूप ही तैयार किया जाना चाहिए।

सन् 2000 की जनसंख्या नीति:-

भारत सरकार ने सन् 2000 में नई जनसंख्या नीति की घोषणा की थी। जिनकी प्रमुख बातें थी।

1. वर्ष 2045 तक जनसंख्या स्थिरीकरण करना।
2. जन्म, मृत्यु, विवाह तथा गर्भस्थ शिशु का पंजीकरण करवाना।
3. प्रजनन शिक्षा,स्वास्थ्य सेवाएँ, आदि पर ध्यान दिया जाना।
4. परिवार कल्याण कार्यक्रम चलाना।
5. विवाह की आयु 18 (लड़की) 21 (लड़का) को प्राथमिकता।

जनसंख्या नियंत्रण उपाय हेतु सलाह (सुझाव):-

विद्वानों तथा वैज्ञानिकों के शोध अध्ययनों से पता चलता है कि वर्तमान में सभी राज्यों में तथा सभी जाति,धर्म आदि पर समान रूप से परिवार नियोजन कार्यक्रम प्रभावी नहीं रहा। अतः इस कार्यक्रम को पूर्ण रूप से लागू किया जावे। तथा इसके लिए ग्रामीण क्षेत्रों में परिवार नियोजन जागरूकता रैली तथा कई इससे संबंधित कार्यक्रम प्रस्तुत किये जावें। परिवार कल्याण कोष कार्यक्रम आदि कारकों की सहायता से परिवार नियोजन को समान रूप से बढ़ाया जाना चाहिए।

ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्रों में अनिवार्य की गई किताबों पर ध्यान दिया जाना चाहिए था उनका अध्ययन करवाया जाना चाहिए। जिससे युवा पीढ़ी में जागरूकता की भावना जागृत हो तथा जनसंख्या वृद्धि से होने वाली समस्याओं से अवगत करवाया जाना चाहिए।

जनसंख्या व आर्थिक विकास

देश में जनसंख्या वृद्धि के कारण भार बढ़ता जा रहा है। और यह भार देश के आर्थिक विकास में बाधक बनता ही जा रहा है। आर्थिक विकास मानव का मूल तन्त्र है। आज से तीन सौ साल पहले पृथ्वी पर केवल 51 करोड़ लोग थे। 1804 ई. में विश्व की जनसंख्या 1 अरब थी और 1927 में दो अरब को पार कर गई। एक अरब से दो अरब होने में 123 वर्ष लगे। लेकिन जनसंख्या बढ़कर 1999 में छ अरब हो गई जबकि 1987 में यह पांच अरब थी। इस समय एक अरब जनसंख्या

बढ़ने में केवल 12 वर्ष ही लगे। “प्रति वर्ष 11 जुलाई को विश्व में जनसंख्या दिवस” मनाया जाता है क्योंकि जनसंख्या बढ़ने से होने वाली समस्याओं के प्रति लोग जागरूक रहे।

आज हमारा देश जनसंख्या की दृष्टि से चीन के बाद दुसरे स्थान पर होकर अनेक समस्याओं से जूझ रहा है। भारत में गरीबी, बेरोजगारी, अत्याचार, भ्रष्टाचार, लूटमार, डकैती, चोरी, बलात्कार तथा अन्य कई समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। भारत प्राचीन समय में “सोने की चिड़िया” कहलाता था। विदेशी लोग यहां पर आकर व्यापार किया करते थे। डच, पुर्तगाल, स्पेन, इंग्लैण्ड आदि देशों के लोग यहां पर कई वर्षों रहकर व्यापार किया। परन्तु वर्तमान में यह स्थिति गंभीर होती जा रही है। बढ़ती हुई जनसंख्या देश के विकास में बाधक बनती जा रही जा रही है। हमारी प्रमुख समस्याएँ सामाजिक व राजनैतिक हैं इन समस्याओं के कारण विकास के कार्यक्रम अवरूद्ध हो गये हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में पंचवर्षीय योजनाएँ बनाकर विकास के अवसर बढ़ाना शुरू किया और वर्तमान में भी चल रही है परन्तु कई राजनैतिक गतिविधियाँ (भ्रष्टनेता) इन योजनाओं को सही रूप में विकसित नहीं होने देती।

मानव की मूलभूत आवश्यकता रोटी, कपड़ा, मकान है परन्तु वह उपलब्ध नहीं हो पा रहे हैं सही मायने में देखा जाए भारत का प्राचीनतम उद्योग सूती वस्त्र उद्योग था, परन्तु धीरे-धीरे नष्ट प्रायः हो गया। इसी उद्योग से जनता अपना गुजर-बसर करती थी। अतः श्रीमान् लोगो का जीवन अब अस्त-व्यस्त होता जा रहा है। इधर शहरों में भी जो प्रौद्योगिकी विकास हुआ है वह अन्य देशों जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि कई देशों की तुलना में कम है, मानव कल्याण के लिए आर्थिक विकास होना अनिवार्य है क्योंकि एक-एक मनुष्य का विकास देश के विकास में भागीदार होता है तथा राष्ट्र का विकास तभी सुविकसित हो सकता है जब मनुष्य की मूलभूत आवश्यकतों की पूर्ति हो तथा सभी को रोजगार की उपलब्धता हो।

आर्थिक विकास के अवरूद्ध होने के निम्न कारण हो सकते हैं जैसे—अशिक्षा, निम्न जीवन स्तर, गांवों से शहरों की और पलायन स्वास्थ्य सेवाओं का उपलब्ध न होना, और बढ़ती जनसंख्या तथा घटते प्राकृतिक संसाधन। वर्तमान में भारत में शिक्षा की महत्ता भी धीरे-धीरे कम होती जा रही है, क्योंकि भारत में शिक्षा तकनीकी या गुणात्मक नहीं है, केवल किताबी ज्ञान तक ही सीमित रह गई है, अतः उचित ज्ञान आवश्यक है क्योंकि दिनो-दिन भारत के संसाधनों का अति दोहन होता जा रहा है और यह दोहन आगामी पीढ़ी के लिए सुरक्षित नहीं रह पाएगा। और आगामी पीढ़ी

आने से पहले ही नष्ट हो जाएगी।

वास्तविक रूप में माना जाए तो जनसंख्या देश की बहुत बड़ी संपदा होती है क्योंकि जनसंख्या के अभाव में किसी देश का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। वर्तमान में यूरोप जैसे महाद्वीप में घटती जनसंख्या भी वहां की समस्या है। परन्तु भारत और चीन जैसे देशों में तो जनसंख्या बहुत बड़ी संपदा है। दोनों ही देश विश्व के आर्थिक बाजार हैं क्योंकि बहुत बड़ी युवा जनसंख्या इन देशों की ताकत है, और जनसंख्या नियंत्रण कभी भी दबाव से नहीं हो सकता। इसके लिए जागरूकता की आवश्यकता है, जैसे जैसे जागरूकता आती जाएगी वैसे-वैसे जनसंख्या नियंत्रण स्वयं ही होता जाएगा। वर्तमान समय में लोग जनसंख्या के प्रति जागरूक होते जा रहते हैं और धीरे-धीरे जनसंख्या नियंत्रित होती जा रही है माता-पिता स्वयं कम संतान को अच्छा और समुचित परिवार मानने लगे हैं जिससे कि बच्चों को अच्छी शिक्षा, स्वास्थ्य उपलब्ध कराया जा सके।

देश में केरल राज्य में उच्च साक्षरता व अच्छी स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता तथा अच्छी आर्थिक स्थिति के कारण जन्मदर संतुलित है बढ़ती आबादी की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए हमें बेहतर स्वास्थ्य सेवाएँ उपलब्ध कराने, लोगों में जागरूकता बढ़ाने, परिवार नियोजन जैसे विकल्पों पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

राष्ट्र के विकास व जनसंख्या नियंत्रण में महिला शिक्षा

वर्तमान में विश्व की जनसंख्या 7 अरब को भी पार कर गई है यह वृद्धि निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। 1981 से जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ी है। अतः जनसंख्या नियंत्रण की पूर्ण आवश्यकता है। "फ्रांस के गणितज्ञ मारक्विज डी कंडरसेट ने 1795 में लिखा था कि बच्चे खुशहाली के लिए पैदा किए जाएं न कि मात्र अस्तित्व के लिए" तो जनसंख्या में स्वयं की स्थिरता आ जाएगी।

आज दिवस की 17.5 प्रतिशत जनसंख्या भारत में निवास कर रही है। जबकि विश्व की भूमि का 2.4 प्रतिशत ही भारत के हिस्से में है भारत की जनसंख्या वृद्धि दर चीन की जनसंख्या वृद्धि दर से बहुत अधिक है और यह भारत के सामने सबसे बढ़ती चुनौती है। जनसंख्या समस्या से आज देश में सरकार तथा प्रशासन के समक्ष गंभीर चुनौती प्रस्तुत कर दी है। यह चुनौती इस विशाल जनसंख्या के लिए भोजन, मकान, कपडा, रोजगार, चिकित्सा, शिक्षा आदि उपलब्ध कराने की है।

अगर हमें जनसंख्या पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर देश का विकास करना है, तो निश्चित रूप से हमें महिलाओं को सशक्त बनाना होगा। जनसंख्या संबंधी अध्ययन और अनुभव बताते हैं कि महिलाओं के सबलीकरण के बिना जनसंख्या नियंत्रण

संभव नहीं है, तथा इसके सशक्त विकास के लिए चहुंमुखी विकास होना आवश्यक है कहा भी जाता है कि "शिक्षित व सशक्त महिला दो कुलो का नाम रोशन करती है", भारत में महिला शिक्षा से संबंधित देखा जाए जो पिछले वर्षों से वृद्धि है परन्तु अभी तक पुरुषों से बहुत कम है अतः जब तक महिला शिक्षा में वृद्धि नहीं होगी तब तक यह समस्या बनी ही रहेगी। महिला को सशक्त बनाने में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है, क्योंकि महिला शिक्षा से उसके धनोपार्जन क्षमता के वृद्धि होती है तथा परिवार की आय बढ़ती है। शिक्षा का स्तर सामाजिक आर्थिक विकास को प्रभावित करता है, व्यक्ति परिवार से हटकर अन्य क्षेत्रों से जुड़ता है और इस तरह सीमित परिवार के लिए अनुकूल परिस्थितियां पैदा होती है।

जनसंख्या नियंत्रण के लिए विभिन्न कार्यक्रमों को सुचारु रूप से संचालन के लिए जरूरी है कि महिलाओं की उनमें वर्चस्वकारी भूमिका हो, और इसके लिए जरूरी है कि सामाजिक स्तर पर उन्हें अधिक अधिकार संपन्न बनाया जाए। हमारे भारतीय समाज में जाति, वर्ग, लिंग, शिक्षा एवं विकास ही तमाम जटिल विषयों के बीच भी महिलाओं की सर्वाधिक उपेक्षा है। भारत में पुरुष प्रधानता, अंधविश्वास, कुरूपियां आदि महिला शिक्षा को कमजोर बनाते हैं, अतः इन तत्वों पर ध्यान देना आवश्यक है। (स्त्रियों के प्रति बढ़ती हिंसा तथा अन्य कई तत्व महिला सशक्तिकरण में कारगर नहीं होते। अगर हम चीन का ही उदाहरण ले तो चीन में महिलाओं की स्थिति में सुधार होता जा रहा है। परिवार नियोजन को सफल बनाया जा रहा है। और शिक्षा के क्षेत्र में अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा रहे हैं।

महिला शिक्षा किसी राष्ट्र के लिए विकास में सहायक कारक है किसी देश में विकास को तीव्र गति से बढ़ाया जाना चाहिए। भारत में महिला शिक्षा पुरुषों की बजाए कम है और निरक्षरता अधिक है, अतः अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक नहीं है यही कारण है कि भारत में लिंगानुपात में अधिक अन्तर पाया जाता है। भारत के लोगो गांवों में अधिक निवास करते हैं लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर है, और उनमें सहभागिता स्त्रियों की अधिक है अतः गांवों के लोगो में साक्षरता का प्रतिशत बढ़ाना अति आवश्यक है, और महत्वपूर्ण रूप से महिला शिक्षा पर ध्यान दिया जाना चाहिए। जिससे भारत में फैली कुरूपियां, अंधविश्वास, विकास की निम्न दर, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, अत्याचार, चोरी डकैती, बलात्कार आदि समस्याओं पर काबू पाया जा सके।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जनसंख्या वृद्धि दर भारत की एक बहुत बड़ी समस्या है। अतः इस समस्या पर काबू पाने के लिए गुणात्मक शिक्षा की आवश्यकता है, और मुख्य रूप से महिला शिक्षा पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। क्योंकि

डॉ. वीणा जैन,
एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

“सांगीतिक चिकित्सा”

संगीत अपने विशिष्ट अलौकिक गुणों के कारण मानव जीवन के लिए सदैव उपयोगी रहा है। अनुसंधान द्वारा विज्ञान-वेत्ताओं ने संगीत की अनन्त, अपरिचित शक्ति को उद्घाटित किया है। जड़-चेतन प्राणी को विमुग्ध कर लेने की अद्भुत शक्ति एकमात्र संगीत में है। दूसरे शब्दों में संगीत केवल मनोरंजन का साधन ही नहीं वरन् एक औषधि भी है। मुग्ध संगीत की ध्वनि मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षक, रोग निवारक, आयुवर्द्धक होती है।

संगीत मार्तण्ड स्व. ओंकारनाथ ठाकुर के अनुसार “शरीर में सात धातुएँ हैं, सात रंग हैं। वही सात रंग स्वरों के हैं, वही रंग सूर्य की किरणों में है। जब सूर्य की सप्तरंगी किरणों से प्रभावित जल से ही रोग दूर भाग जाते हैं तो क्या सप्त स्वरों से ऐसा नहीं हो सकता”¹ “सृष्टि में ध्वनि एक प्राण हीन पदार्थ नहीं है, ‘ओम्’ ६ ध्वनि से उत्पन्न सप्तस्वर ‘सा रे ग म प ध नी’ सम्पूर्ण रूप से चर जगत में प्राण वाहक अस्तित्व वाला तत्व है।”²

इन्हीं सात स्वरों में रागों का निर्माण हुआ, ‘राग’ शास्त्रीय संगीत का प्राण है, परम्परागत नियमों में बांधे स्वर-समूह को राग कहते हैं प्रत्येक राग का अपना एक भाव व रस होता है, जो मनुष्य पर अपना प्रभाव छोड़ता है। ये राग मनुष्य को बाह्य स्तर पर व्यक्ति के चेतन को उद्वेलित नहीं करते अपितु व्यक्ति के अन्तर्निहित सूक्ष्म विशिष्टताओं को भी झंकृत करते हैं। उदाहरण के लिए—अस्थमा रोग के लिए पूरिया, मालकौंस, यमन जैसे रागों को गाएँ या रोगी को सुनाएँ। नर्वसनेस, अधीरता के लिए अहीर भैरव, पूरिया, तोड़ी, जैसे शांत प्रकृति के रागों का प्रयोग किया जा सकता है। हृदय रोग में भैरवी, शिवरंजनी जैसे रागों की अवतारणा से इस रोग को कम किया जा सकता है। एसीडिटी में मारवा, कलावती जैसे रागों से उपचार किया जा सकता है। मानसिक रोग अथवा मनोविकार में जहाँ ललित, केदार सहायक हैं, वहीं अल्सर जैसे रोगों के निदान में मधुवंती जैसे राग सहायक हैं। वर्तमान समय में डाइबिटीज अर्थात् मधुमेह रोग में जैजैवन्ती, जौनपुरी जैसे राग

सहायक हैं। कलर ब्लाइण्डनेस के लिए मुलतानी राग से उपचार करने का निर्देश संगीत चिकित्सकों ने दिया है। तीव्र ज्वार में मालकौंस, बसन्त, बहार, अस्थिमज्जा दोष व अनिद्रा रोग में भैरवी, केदार जैसे रागों से उपचार किया जा सकता है।

संगीत चिकित्सा में रागों द्वारा उपचार करते हुए कुछ विशेष बातों का ज्ञान आवश्यक है, जैसे—“रागों के शुद्ध रूप का उच्चारण, रोगी की मनोदशा, रोग के लक्षण व कितनी देर तक राग को सुनना है या चिकित्सा देनी है का ज्ञान होना चाहिए। यह सभी कुछ संगीत उपचारक के निर्देश पर आधारित है।”³

इन रागों से देशी-विदेशी अनेक विद्वानों ने (रामकृष्ण परम हंस, मनहर बर्वे, उस्ताद अमीनुद्दीन डागर, डॉ. एम. बाल मुरली कृष्णन, जया सुब्रह्मण्यम, डॉ. आज. सिटीवन, डॉ. विनसेट पील, मेडम बोगास्वस्की, विलियम वाल इत्यादि) संगीत के इन रागों को रोग निवारण की औषधि बताया। वहीं पं. ओमकार नाथ ठाकुर ने न सिर्फ जीव-जन्तु वरन् पेड़-पौधों, पर भी राग-रागनियों से अनेक अनुसंधान किए। उदाहरणार्थ—सन् 1944 में एक बार गांधीजी के अस्वस्थ होने पर महान् संगीतज्ञ मनहर बर्वे ने अपने संगीत का जादू दिखाया था। गांधीजी उन दिनों अस्वस्थ थे। चिकित्सक अपना काम पूरी ताकत से कर रहे थे। बर्वे ने भी अपनी सेवाएँ प्रस्तुत कीं। गांधीजी पर संगीत का जादूई प्रभाव पड़ा। उनका मौनव्रत था। पास में पड़े एक कागज के टुकड़े को उठाकर उन्होंने लिखा था—“आपका यह संगीत तो मेरे लिए औषधि है”⁴

“प्रमुख ध्रुवपद गायक उस्ताद अमीनुद्दीन डागर का कहना था कि रागों द्वारा टी.बी. और लकवा जैसी बीमारियों को दूर किया जा सकता है। पचास के दशक में उनके पिता उस्ताद नसीरुद्दीन खाँ डागर ने इंदौर में एक टी.बी. के रोगी को कई महीनों तक लगातार ललित राग सुनाकर ठीक किया था”⁵

“सुप्रसिद्ध कर्नाटक संगीतकार डॉ. एम. बालमुरली कृष्णन ने अपना अधिकांश जीवन संगीत चिकित्सा में लगा दिया है। इसके लिए उन्होंने मद्रास में विपांची नाम से एक स्कूल की स्थापना की है। डॉ. कृष्णन संगीत विज्ञान से मनोदैहिक रोगों, जैसे उच्च रक्तचाप, मधुमेह और सिर दर्द आदि का इलाज करने में लगे हैं। वे विभिन्न रागों और “सिंथेटिक साउण्ड कैप्सूल” के माध्यम से रोगी का मानसिक संतुलन बनाकर इलाज करते हैं।”⁶

वर्तमान में विभिन्न रागों का प्रयोग विभिन्न रोगों के लिए किया जा रहा है, इस संदर्भ में मुम्बई के नारायण अग्रवाल द्वारा निर्मित एवम् रचित ओडियो एलबम बहुत लोकप्रिय हुआ है। जिसमें उन्होंने बाँसुरी, तबला, गिटार एवम् सितार वाद्य यंत्रों का

प्रयोग किया है। ये एलबम जीवन तनाव, विश्राम, निद्रा इन नामों से ही उपलब्ध हैं। इस एलबम में पं. विश्वमोहन भट्ट, तरुण भट्टाचार्य, रोनु मजूमदार एवम् पं. रमेश मिश्र द्वारा दिया गया संगीत भावात्मक असन्तुलन, उच्च रक्तचाप, निम्न रक्तचाप, दुःखी हृदय एवम् उत्तेजित भावनाओं के लिए संगीत प्रदान करता है। इनका प्रयोग आशा, उत्साह एवम् स्फूर्ति बढ़ाने के लिए किया जाता है।⁷

विदेशों में संगीत चिकित्सा को गत 50 वर्षों से मान्यता प्राप्त हो चुकी है तथा तीव्रगति से अनुसंधान भी हो रहे हैं। सर्वप्रथम संगीत चिकित्सा के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् 1950 में नेशनल एसोसिएशन फॉर म्यूजिक थेरेपी की स्थापना की गई। “इन देशों में सांगीतिक चिकित्सा के महत्व को वैज्ञानिक रूप दिया जा रहा है। अस्पतालों में रोगियों को नियमित संगीत सुनाया जाता है, जिससे वे अपेक्षाकृत शीघ्र स्वस्थ हो जाते हैं।”

“मनोरोग, सर्जरी, प्रसव-पीड़ा, दंतशल्य चिकित्सा में ‘ऑडिपक’ नामक यंत्र को जिसमें टेप रिकार्डर लगा होता है, हैड-फोन द्वारा रोगी के सिर में लगा दिया जाता है जिससे दर्द में आराम पहुँचता है।”⁸

मानसिक रूप से विकलांग लोगों के उपचार में भी संगीत बहुत मददगार साबित हो रहा है। जिनका अनुमस्तिष्क क्षतिग्रस्त हो गया है उनका पूरा उपचार तो संगीत से संभव नहीं है लेकिन संगीत ऐसे विकलांग व्यक्ति के मन और शरीर के कार्य-कलाप के बीच समन्वय स्थापित करने में मदद करता है। इसी संदर्भ में — शिकागो के पागलाखाने में प्रसिद्ध पियानो-वादक मैडम बोगास्वस्की ने कई आश्चर्यजनक प्रयोग किए। एक इटालियन युवती प्रसव के बाद अस्पताल में पागल होकर निकली, उसे शिकागो के पागलखाने में रखा गया क्योंकि वह ऐसी हरकतें करने लगी थी कि दूसरे की तो बात क्या, उसका अपना बच्चा भी सुरक्षित नहीं था। उसका मस्तिष्क विकिप्त हो चुका था, बोगास्वस्की ने एक प्रयोग करने की ठानी, वह अपना पियानो लेकर उसके सामने बजाने लगी। उच्चकोटि के सुरों में विशुद्ध संगीत से लेकर ग्राम्य गीत भी उसने बजाए, फिर एक ग्राम्य गीत को उसने मुधर करुण स्वर में बजाया। वह पगली, जो अब तक ध्यानावस्था में बैठी संगीत सुन रही थी, भावावेश में फूट पड़ी और सिसक-सिसक कर रोने लगी इसके बाद वह नर्सों से प्रार्थना करने लगी कि सिर्फ एक बार एक क्षण के लिए उसका बच्चा उसे दे दिया जाए।⁹

इसी प्रकार मानसिक रूप से विकलांग बच्चों के लिए शिक्षाविद सुप्रसिद्ध नर्तकी और संगीत चिकित्सक जया सुब्रह्मण्यम का कहना है कि ये बच्चे बुनियादी बातों को बताने में असमर्थ होते हैं। संगीत से लय उत्पन्न होती है। जो खास माँस-पेशियों को गति देने की प्रेरणा देती है।¹⁰

इसी संदर्भ में एक पागल को ठीक करने का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है जिसमें—संगीत के विशारद विलिमय वाल हालैंड एक पागलखाने में अपना बाजा लेकर घुस गए, यह बड़े जीवट का काम था क्योंकि उस पागलखाने में कई भयानक समझे जाने वाले पागल थे, लेकिन वाल को अपनी कला पर विश्वास था। उसने संगीत का स्वर और मुधर किया, एक पागल मंत्र मुग्ध—सा उनकी ओर बढ़ा और आगे बढ़कर स्वर में मिलाकर गाने लगा। इस प्रभाव से हते में एक बार उसे गाने की सुविधा मिल गई। कुछ महीने बाद उसे पागलखाने से छुट्टी दे दी गई। गाने की सुविधा मिल जाने पर वह अक्सर गाता था। धीरे—धीरे संगीत में उसका इतना ध्यान लगा कि उसके मस्तिष्क की विक्षिप्तता जाती रही और उसका पागलपन दूर हो गया।¹¹

“फ्रांस और अमेरिका की स्वास्थ्य औषधि प्रयोगशालाओं में सैकड़ों प्रयोग चल रहे हैं। संगीत की भावी उपयोगिता के बारे में वैज्ञानिक आश्वस्त हैं। एक जर्मन औषधि विशेषज्ञ ने प्रसिद्ध अनुसंधान—पत्र —“लेसंट” में लिखा है — “संगीत में इतनी बड़ी सम्भावना दिखाई पड़ती है कि वह समय आने में देर नहीं है जब रोगियों को देखने स्टेचस्कोप और दवाइयों के बॉक्स के साथ—साथ डॉक्टरों को ग्रामो फोन तथा विभिन्न राग—रागनियों के रिकार्ड भी लेकर जाना पड़ेगा।”¹²

संगीत से न सिर्फ शारीरिक—मानसिक रोगियों को स्वास्थ्य लाभ होता है, वरन् गायक, वादक व नर्तक के लिए भी यह एक उच्चकोटि का व्यायाम के समतुल्य है, उदाहरणार्थ— प्राकृतिक चिकित्सक मनुष्य को स्वस्थ रखने के लिए विभिन्न आसन करवाते हैं, संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन एवं नृत्य में कुछ आसन नैसर्गिक तौर से ही हो जाते हैं, यथा—‘ओ’ शब्द के उच्चरण के समय सम्पूर्ण शरीर में तथा ‘म’शब्द के उच्चरण के समय मस्तिष्क में कम्पन्न होता है। जो हमारे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यधिक उपयोगी है।

विश्व प्रसिद्ध चिकित्सक मैकेफैडन ने भी शास्त्रीय गायन को उच्चस्तरीय व्यायाम की संज्ञा दी है। उनके अनुसार शास्त्रीय गायन के लिए शरीर को अनेक प्रकार के प्रयास करने पड़ते हैं, जिससे रक्त संचार में वृद्धि और पाचन क्रिया में सुधार होता है। वक्ष और उदर की मांसपेशियाँ भी प्रभावित होती हैं। जिससे उसमें मजबूती आती है। अलाप—तान आदि क्रियाओं से फेफड़े सक्रिय होकर श्वास—संबंधी व्यायाम सहजता से हो जाते हैं।¹³

बर्लिन यूनिवर्सिटी के चैरिटी क्लिनिक के प्रोफेसर वोलक्रेम सिडनर ने एक प्रयोग द्वारा सिद्ध किया है कि जो लोग मानसिक और शारीरिक स्तर पर स्वस्थ रहना चाहते हैं, उन्हें गुनगुनाते रहना चाहिए, गीत गाने का सर्वाधिक असर दिमाग

पर पड़ता है। गीत गाने वाला व्यक्ति तनाव, अवसाद, चिड़चिड़ापन जैसी समस्याओं से जल्द मुक्ति पा सकता है।¹⁴

शोधकर्ता गुंटर क्रूएत्ज ने 31 गायकों पर एक शोध कर यह निष्कर्ष निकाला कि गाना गाने से व्यक्ति के स्वास्थ्य पर सकारात्मक असर पड़ता है। शोधकर्ताओं के मुताबिक गाना गाने से कई एन्टी-बॉडी के उत्पादन की प्रक्रिया तेज होती है, गीत गाने से रक्त संचार पर भी सकारात्मक असर पड़ता है।

यूँ तो प्रारम्भ से ही सांगीतिक चिकित्सा में गायन, वादन तथा नृत्य इन तीनों विधाओं का उपयोग होता आया है। परंतु विद्वानों ने संगीत की तीनों विधाओं में से वाद्य कला को ज्यादा प्रभावशाली बताया है, क्योंकि इन पर बजाए जाने वाले राग का रस एवम् प्रभाव हमेशा एकसा रहता है। डॉ. जे. पाल ने अपनी पुस्तक में संगीत चिकित्सा हेतु वाद्यों के चयन के विषय में लिखा है कि “यद्यपि अपने-अपने स्थान पर सभी वाद्य अच्छे हैं, परन्तु सितार और सारंगी इन दोनों का प्रधान स्थान है और इन दोनों में भी सितार मुख्य है। ये दोनों ही वाद्य बहुत ही कर्णप्रिय हैं, वह संगीत की समस्त खूबियों को निकाल पाने में समर्थ हैं, जिसके कारण यह संगीत के समस्त प्रभावों को आसानी से उत्पन्न करने के सक्षम है।”¹⁵

वाद्य संगीत के अन्य वाद्यों की चर्चा करने पर ज्ञात होता है कि तबला वादन द्वारा भी संगीत के क्षेत्र में चिकित्सीय आयामों का प्रयोग किया जा रहा है। तबला वादन करते समय हाथों की अंगुलियों एवं हथेली पर जो दबाव पड़ता है उस एक्यूप्रेशर विधि द्वारा कई रोगों का निवारण किया जा सकता है।¹⁶

स्वास्थ्य की दृष्टि से नृत्य भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। इससे सम्पूर्ण शरीर का व्यायाम होता है। विद्वानों ने नृत्य की हस्तमुद्राओं द्वारा रोग चिकित्सा का महत्व खोज लिया है। नृत्य में पाँचों अंगुलियों से विद्युत तरंगें निकलती हैं जिससे पंचतत्वों का संतुलन स्थापित होता है और उनसे कई रोगों का निवारण होता है। उदाहरण स्वरूप “अराल मुद्रा” के द्वारा मॉसपेशियों व मस्तिष्क को लाभ होता है जिससे क्रोध, निराशा, आलस्य का निवारण होता है। चतुर हस्त मुद्रा से दाँत व त्वचा संबंधि रोगों का शमन होता है।¹⁷

बैंगलूर की त्रिपुरा कश्यम-भारत की पहली डांस थैरेपिस्ट हैं। एक प्रशिक्षित भरतनाट्यम नृत्यांगना होने के साथ-साथ त्रिपुरा अपनी इस अनोखी रोगेपचार विधि से विकलांग बच्चों पर ऐसा जादू करती हैं कि उनमें एक नई ऊर्जा का संचालन होने लगता है।¹⁸

उपर्युक्त वर्णित तथ्य संगीत की अलौकिकता को सिद्ध करते हैं। दिन-प्रतिदिन इस क्षेत्र में नवीन प्रयोग एवम् तत्संबंधि परिणाम प्रकट हो रहे हैं। ब्रिटेन के वैज्ञ.

निक संगीत के इसी जादू का एहसास अब माँ के गर्भ में स्थित शिशु को कराने के लिए एक ऐसा आइपोंड तैयार कर रहे हैं जिसमें विशेष स्पीकरों से निकलने वाली ध्वनि-तरंगें सीधे गर्भस्थ शिशु तक पहुँचा सकेंगे। इस प्रकार, गर्भवती स्त्री अपने अजन्मे बच्चे को भी अपना मनपसंद मुधर संगीत सुनवा सकेंगी।¹⁹

स्पष्ट है संगीत का प्रयोग विभिन्न परिस्थितियों में जड़-चेतन प्राणी के मानसिक शारीरिक स्वास्थ्य लाभ हेतु लाभकारी है। संगीत साधकों के पास सांगीतिक ज्ञान रूपी अतुल्य औषधी का भण्डार है, जिसे वह इन रोगियों में बाँटकर सेवा का लाभ प्राप्त कर सकते हैं परंतु आवश्यकता इस बात की है कि संगीत द्वारा चिकित्सा विषय पर और प्रमाणिक अध्ययन, मनन, चिंतन होना जरूरी है, जिससे कि संगीत के द्वारा परमानन्द एवम् मोक्ष की प्राप्ति के साथ-साथ रोगों का उपचार अथवा स्वास्थ्य लाभ को भी एक उचित एवं प्रमाणिक दिशा दी जा सके तथा संगीत मनोरंजक एवम् मोक्ष प्राप्ति के अतिरिक्त चिकित्सा के लिए भी प्रसिद्ध होकर अपनी बहुमुखी क्षमता दुनियाँ को दिखा सके।

संदर्भ ग्रंथ सूची—

1. संगीत सितम्बर, 1996, पृ.-41
2. संगीत दिसम्बर, 2002, पृ.-24
3. Trends in Music Therapy Today लेख— वर्तमान युग में संगीत द्वारा चिकित्सा की प्रासंगिकता, पृ.-148
4. संगीत सितम्बर, 1996, पृ.-41
5. Bonya Basu with classical Indian Music Plus, Fourth Quarter 1997, P-92
6. संगीत सितम्बर, 1996, पृ.-44
7. Trends in Music Therapy Today लेख—सांगीतिक चिकित्सा : एक पहलू लेखिका चेतना बनावत, पृ.-194
8. संगीत संजीवनी, पृ.-26
9. संगीत दिसम्बर, 1978, पृ.-49
10. संगीत सितम्बर, 1996, पृ.-41
11. संगीत दिसम्बर, 1978, पृ.-51
12. कंचन प्रभा से साभार संगीत दिसम्बर, 1978, पृ.-51
13. Trends in Music Therapy लेख—भारतीय शास्त्रीय संगीत (गायन) का चिकित्सा पद्धति के रूप में प्रयोग लेखक—डॉ. रोहितास पृ.-176
14. दैनिक समाचार पत्र अमर उजाला दिनांक 1 दिसम्बर, 2005
15. डॉ. सतीश शर्मा संगीत चिकित्सा।
16. Trends in Music Therapy Today लेख—संगीत चिकित्सा पद्धति के रूप में लेखिका—डॉ. रेनू

डॉ. ममता रोकना
व्याख्याता, चित्रकला
राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट, जयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

राजस्थान की लोक चित्रांकन परम्परा में पर्यावरण का प्रतिबिम्ब (मांडणा के विशेष संदर्भ सहित)

राजस्थान के ग्रामीण अंचलों में फैली लोक कलाएँ अपनी विविधता और अभिव्यक्ति के सहज, सुन्दर और सरल-सम्मोहक रूप के लिए विश्वभर में मानी जाती हैं। इन लोक कलाओं में राजस्थानी जनजीवन का मोहक रूप तथा पर्यावरण का मौलिक प्रतिबिम्ब नजर आता है, वहीं ये लोक कलाएँ ग्रामीण नारी की सहज और परम्परागत सृजनशीलता को भी प्रकट करती हैं।

हर मां के द्वारा बेटे को हस्तांतरिक की जाने वाली ये लोक-कलाएँ राजस्थानी जन-जीवन के भावात्मक पक्ष को उजागर करती हैं वहीं ग्रामीण नारी के द्वारा प्रकृति एवं पर्यावरण के साथ स्थापित सौहार्द की भी सूचक हैं। साथ ही इन लोक रूपकारों में जल, जंगल व जमीन की स्तुति निरन्तर अंकित की जा रही है।

भूमि चित्रांकन की परम्परा भारत के लगभग सभी प्रदेशों में समान रूप से प्रतिष्ठित एवं प्रचलित रही है किन्तु जलवायु व उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों के कारण इनकी चित्रांकन शैली, अलंकरण विधि व प्रयुक्त सामग्री तथा प्रचलित आंचलिक/प्रादेशिक भाषाओं में इनके सूचक सम्बोधक शब्दों में विविधता पाई जाती है। दक्षिण भारत में इसे 'कोलम' महाराष्ट्र में रंगोली, पहाड़ी प्रदेशों में चौक पूरना व सोन रखना तथा बंगाल में अल्पना कहा जाता रहा है।¹

भूमि चित्रांकन परम्परा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

लोक चित्रांकन परम्परा वस्तुतः मानव की सृजनशीलता की सहज व जन्मजात प्रवृत्ति का प्रतीक भी है। अपने आस-पास के परिवेश व दैनिक जन जीवनोपयोगी वस्तुओं की साज-सज्जा के प्रति यह रुचि मनुष्य में मानव सभ्यता के शैशवाकाल अर्थात् प्रागैतिहासिक काल के शिलाश्रयों से प्राप्त नमूनों में भी देखी जा सकती है।

प्रागैतिहासिक शैल चित्रों में प्रतीकात्मक चिन्ह, विविध सजावटी अलंकरण, ज्यामितीय

अभिप्राय एवं पशु-पक्षी तथा मानवकृति चित्रण के साथ सरल लेखांकन, गुहाओं की भित्ति तथा छतों पर चित्रित हैं। इन शैल चित्रों में मुख्य हमें राजस्थान के दरा, अलनियां, बैराठ तथा मध्यप्रदेश में सरगुजा व विंध्य क्षेत्र आदि में मिलते हैं।

प्रागैतिहासिक मानव निर्मित इन चित्रों से मानव के सौन्दर्य बोध व रचनाशीलता का परिचय मिलता है। प्रागैतिहासिककालीन गुफाओं से प्राप्त भित्ति चित्र इस बात का भी प्रमाण है कि जब मानव के पास भाषा, अग्नि और गति जैसे भाव संप्रेषण के माध्यम नहीं थे तब भावाभिव्यक्ति के लिए उसने आड़ी तिरछी रेखाओं के माध्यम से विचारों की अभिव्यक्ति का प्रयास किया।²

मोहन-जो-दड़ों और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त पात्रावशेषों पर सुन्दर आलंकारिक अभिप्राय चित्रित हैं इनमें खासतौर पर सादी रेखाएँ, कोण वृत्त, अर्द्धवृत्त, पशु-पक्षी, फूल आदि चित्रित हैं।³ (चित्र सं. 1)



आज भी लोक चित्रांकन परम्पराओं में मानव निर्मित व प्राकृतिक वस्तुओं के रूपाकारों का सहज व सरल चित्रांकन देखने को मिलता है। जिनमें पशु-पक्षी, फूल-फल, ज्यामितीय आकारों को सीधी सरल रेखाओं, लहरदार, घुमावदार, कोणी, वक्र रेखाओं तथा वृत्त, चौकोर, त्रिशंकु, आयताकार, अर्द्धवृत्त, षटकोण, अष्टकोण आदि के माध्यम से चित्रित किया जाता है।⁴

आर्यों के भारत आगमन के साथ ही प्राकृतिक शक्तियों की पूजा-अर्चना के युग का उदय हुआ। 1500 ई. पूर्व आर्य लोग प्राकृतिक शक्तियों इन्द्र, अग्नि, सूर्य, वरुण आदि के उपासक थे तथा यज्ञ व हवन के माध्यम से पूजा अर्चना करते थे। हवन की वेदी पर वे सब तरह की रेखाओं, त्रिकाण, वृत्त व आयत में विभिन्न अनाजों, आटे, कुंकुम व फूल-पत्तियों को सजा कर नव ग्रहों का आहवाहन करते थे।⁵

8वीं शती के लगभग बाणभट्ट व शूद्रक की रचनाओं में भी भूमि चित्रण परम्परा के उल्लेख मिलते हैं। त्यौहारों, विवाह, जन्मोत्सव व अतिथि स्वागत के अवसर पर से परम्पराएँ भारतीय संस्कृति के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष के रूप में प्रचलित थी। शूद्र रचित नाटक "मृच्छकटिकम्" में वसन्तसेना के आवास के मुख्य द्वार का स्वच्छ जल से धुला व सुगंधित द्रव्यों से लिपा पुता व विभिन्न प्रकार के रंगों से बने, आलंकारिक अभिप्रायों से सुसज्जित वर्णित है। 'मृच्छकटिकम्' में बलि-पूजा हेतु निर्मित भूमि चित्रण का वर्णन इस प्रकार है:-⁶

“अहो सलिल सिक्त मार्जित कृत हरितोपलेपनस्य विविध सुगन्धि

कुसुमोपहचित्र—लिखित भूमि भागस्य बसन्त सेना भवन द्वारस्य सुश्रीकता”

मृच्छकटिक चतुर्थोक्त पृष्ठ 115।।

बाणभट्ट ने ‘हर्ष चरित’ में प्रभाकर वर्द्धन की पुत्री राज्य श्री के विवाह के अवसर पर हर प्रकार के कलाकार व हस्तशिल्पी की कुशलता व व्यस्तता का वर्णन किया है। दक्ष शिल्पी, वस्तुकार व चित्रकार सभी विवाह के सुअवसर पर अपनी कला से उस भवन को सुसज्जित कर रहे हैं, वहीं स्त्रियां चावल के घोल से ‘अयपन’ के द्वारा घरों के द्वार दीवार व चौक सजाती हुई व्यस्त है।⁷

‘कादम्बरी’ में बाण भट्ट ने शिशु जन्मोत्सव के अवसर पर की जाने वाली मुख्य द्वार की साज सज्जा व चित्रण का वर्णन किया है। जिस घर में नवजात शिशु का जन्म हुआ है, वहाँ मुख्य द्वार पर स्वास्तिक के विविध रूपाकार में हल्दी, कुंकुम (रोली) तथा हल्दी, चूने के घोल अथवा आटे के घोल से बनाये गये हैं।⁸

कालीदास कृत ‘रघुवंश’ के तरहवें सर्ग में पवित्र बलि पूजा स्थान को लिपा-पुता तथा चंदन व अगरू के सुगंधित द्रव्यों से बने आलंकारिक अभिप्रायों से सुसज्जित बताया गया है।

उपरोक्त सभी वर्णन यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय संस्कृति में विवाह, शिशु जन्म व संस्कारों सहित सभी शुभावसरों तीज त्यौहारों, व्रत-उपवास आदि पर लोक कलाओं की उपस्थिति प्राचीन काल से ही परम्परागत रूप से बनी रही है। माण्डणा/ मांडणा शब्द का अर्थ है सुन्दर, आलंकारिक साज सज्जा अथवा अभिप्रायों से सजाना। यह संस्कृत भाषा के मण्ड शब्द से साम्य रखता है जिसका अर्थ है सज्जा अथवा संयोजन। लोक भाषा में अथवा बोलचाल की भाषा में इस भावार्थ युक्त अन्य प्रचलित शब्द है – लिखना, लीपना, पुरावना, लिपावना आदि।⁹

भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों में लगभग हर प्रदेश में घर-घर में भूमि चित्रांकन की परम्परा को किसी न किसी रूप में दैनिक जीवन, रीति-रिवाजों व त्यौहारों पर्वों पर प्रचलित परम्पराओं के रूप में देखा जा सकता है। महाराष्ट्र में आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में प्रातःकाल घर की साफ-सफाई के पश्चात् चावल के आटे की रंगोली बनाना महिलाओं की दिनचर्या का मुख्य अंग है।

राजस्थान के ग्रामीण प्रदेशों में घर में मुख्य द्वार पर चौक को लिपाई-छपाई के बाद सूना छोड़ना अशुभ माना जाता है अतः आंगन में एक स्वास्तिक चित्रित कर उस पर



(चित्र सं 2)

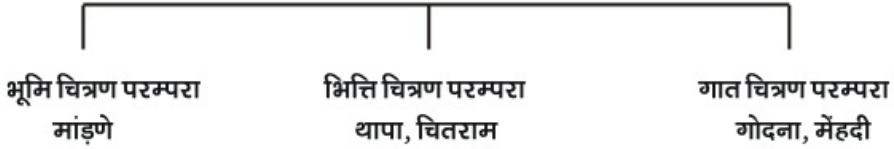
चावल, मूंग के कुछ दाने बिखेर दिये जाते हैं।¹⁰ (चित्र सं. 2)

लोक गीत, लोक नाट्य, लोक संगीत-नृत्य अथवा लोक चित्रांकन ये 5 सभी राजस्थानी संस्कृति एवं सभ्यता का विशिष्ट मनोहारी दिग्दर्शन कराते हैं। आदिकाल से लेकर आज तक इन कलाओं का विविध रूप में विकास होता आ रहा है। इन सभी कलाओं में पारस्परिक घनिष्ठ अंतःसंबंध भी रहा है। इन सबकी उपस्थिति जन जीवन में उल्लास एवं उमंग भर देती है।¹¹

इनके पोषण-पल्लवन में लोक आस्था की प्रमुख भूमिका रही है, बिना आस्था व विश्वास के इन कलाओं के अस्तित्व की कल्पना भी संभव नहीं है। स्मरण और अनुभव शक्ति के परम्परागत हस्तांतरण से ही संसार में लोक कलाओं को जीवन मिला है। लोक संस्कृति का यदि निकटता से अध्ययन करें तो यह सशक्त पक्ष उभरकर आता है कि हमारी सभी लोककलाएँ महिलाओं व बालिकाओं द्वारा ही पोषित व संरक्षित रही हैं। नारी मन की कोमल भावनाओं, सौन्दर्य-बोध व सुरुचि सम्पन्नता ने इन लोक कलाओं के संसार को समृद्ध बनाया है। राजस्थानी नारी की कलात्मक अभिरुचि एवं परम्पराओं व रीति-रिवाजों की प्रति उनकी अगाध निष्ठा व श्रद्धा ने राजस्थानी लोक कला संसार को विविधतापूर्ण बनाया है।

राजस्थानी लोक चित्रांकन परम्परा एक अत्यन्त विस्तृत और विविधता पूर्ण लोक परम्परा है, जिसे इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है—

राजस्थान में लोक-चित्रांकन परम्परा के प्रमुख स्वरूप



राजस्थान की लोक चित्रांकन परम्परा में भूमि सज्जा हेतु 'मांडणा' भित्ति सज्जा हेतु थापा और चितराम और गात की सज्जा हेतु गोदना, गुदवाना या हाथ-पैरों में मेंहदी रचाने की परम्परा पीढ़ी दी पीढ़ी चली आ रही है।

मांडणा —

राजस्थानी मांडणा की विविधता अनूठी एवं आश्चर्यचकित कर देने वाली है। राजस्थान में उष्ण जलवायु के कारण सूखी भूमि सज्जा अथवा चित्रांकन सम्भव नहीं है, अतः हमारे यहां लिपे-पुते आंगन में चूने, हिरमिच, रवड़िया के गीले घोल से मांडणा मांडा या कोरा जाता है। जो कि सूखने के पश्चात् महीनों तक शुभ-समृद्धि के प्रतीक रूप में घर-आंगन में सजा रहा है।¹²

मांडणा राजस्थान की लोक चित्रांकन परम्परा का सर्वाधिक सशक्त पक्ष है, इसके अभिप्रायों की विविधता अद्भुत है। हर पर्व, तीज त्यौहार व शुभावसरों हेतु पृथक-पृथक भांत प्रचलित हैं जो कि उस सुअवसर से संबंधित उपयोगी वृक्ष, वस्त्र व वस्तुओं के प्रतीक के रूप ही है।¹³

मांडणा की घर, आंगन, चौक में उपस्थिति को सुख-समृद्धि सुहाग-सौभाग्य का प्रतीक माना गया है। जिस घर आंगन में मांडणा चित्रित है, वहां मंगल, कल्याण तथा श्रीदात्री माँ लक्ष्मी का निवास रहेगा। ठसी भावभीनी मंगल कामना से ओत-प्रोत मांडणों से संबंधित लोक कथाएँ व लोक गीत भी जन जीवन में प्रचलित हैं। मकर संक्रांति, होली, गणगौर, राखी, दीपावली, जन्मोत्सव व विवाह के अवसर पर घर की महिलाओं व बालिकाओं द्वारा ये लोकगीत गाकर मंगल कामना युक्त मांडणे मांडे जाते हैं। इसके लिए कोई ग्रन्थ नहीं, प्रशिक्षण केन्द्र भी नहीं, सिर्फ स्मरण शक्ति व परम्परागत हस्तांतरण ही इन लोककलाओं को पोषण एवं संरक्षण प्रदान करता है।

राजस्थान की उष्ण जलवायु में गोबर, पीली, काली मिट्टी से लिपे पुते घर ठण्डे रहते हैं और ग्रामीण क्षेत्रों में चलने वाली आंधियों से सूखी सामग्री से किसी प्रकार की साज-सज्जा करना सम्भव भी नहीं हैं। राजस्थानी मांडणे खडिया, हिरमिच, गेरू आदि खनिज रंगों के घोल से मांडे जाते हैं। मांडणा सदैव केन्द्र बिन्दु से आरम्भ कर चारों तरफ बढ़ाया जाता है। जटिलतम अभिप्राय भी कुछ देर में टपकियां गिनकर बनाती जाती है, ग्रामीण महिलाएँ।



मांडणे की मुख्य रेखाएँ खींच लेने के पश्चात् झंवरा, बेल, भरती, चीरण जुआ आदि से इनकी भराई की जाती है। चारों ओर विभिन्न प्रकार की बेलें और लटकनें बनाई जाती हैं सेवण और फूलझडियों द्वारा भी इसकी बाहरी सज्जा की जाती है। (चित्र सं. 3-4)



मकर संक्रान्ति पर फीणियां, पतंग-डोर, होली पर चंग, खांडा, ढप, ढोलकी, होली का डण्डा, कैरी आदि, गणगौर पर गौर का बेसणा, गुणा तथा रक्षा बंधन पर सखण, सावणी तीज पर लहरिया, चौक, चूनडी, पान, घोवर आदि मांडे जाते हैं। (चित्र सं. 5)



दीपावली पर मांडे जाने वाले मांडणों को विविधता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। दीपावली पर मुख्य रूप से डाबा का जोड़, पगल्या, खुडताल, साट्या का जोड़,

बीझणी का पगल्या, रथ, डमरू, पान, हीड़, नारेल, चौक, कमल का फूल, दीवला, कुण्डा, कमल कटवा फूल, बड़, बावड़ी, सिंघाडा, बैगन बोट, बरन को बाजार और मोर, मोरड़ी, सुआ, कलश आदि मांडे जाते हैं। (चित्र सं. 6)

दीपावली पर मुख्य मांडणा मांडे जाने के पश्चात् आस-पास की भूमि को छोटे-छोटे अन्य मांडने से सजाया जाता है खड़िया, हिरमिच, गेरू के साथ ही लाल, नीला, हरा रंग, चमकीली कतरनों की सज्जा भी दीपावली के अवसर पर कहीं कहीं मांडणों में देखने को मिलती है।

भित्ति चित्रण परम्परा 'थापा'

भूमि पर मांडे जाने वाले कलात्मक अभिप्राय मांडणा कहे जाते हैं। वहीं राजस्थानी चित्रांकन परम्परा में दीवारों पर किये जाने वाले चित्रांकन को 'थापा' कहा जाता है। हाथ की अंगुलियों के ठप्पे से दीवाल पर जो चित्रकेरा जाता है। वह 'थापा' कहलाता है। थापे की यह परम्परा न केवल राजस्थान में अपितु देश के विविध अंचलों में भी गहरें विस्तार के साथ परिव्याप्त है।

व्रत त्यौहारों पर थापे, हिरमिच, गेरू, सिंदुर से बनाये जाते हैं। वहीं शिशु जन्मोत्सव के प्रचलित थापे गोबर, मेंहदी, हल्दी आदि से बनाये जाते हैं। रक्षा बंधन के त्यौहार पर भी 'थापा' चित्रण परम्परा का सुन्दर सम्मिश्रण राजस्थान के ग्रामीण अंचलों में देखने को मिलता है जिन्हें 'सरवण' या 'सौण', सूलने या सूणे कहते हैं। मांडणे के स्थान पर उनका चित्रांकन कोरना कहलाता है।¹⁴

थापा शब्द को ठप्पा का शब्द का ही एक लोक उच्चारण माना जाता है। जब इसका अर्थ विस्तार हुआ तो केवल अंगुली का ठप्पा, मुट्ठी के भांति-भांति के ठप्पे, पूरे हाथ का चिन्ह व अंगुलियों की विविध कला कोरी भी थापे में ही समाविष्ट हो गई है। और गोबर के साथ ही अन्य रंग उपकरण व अंगुलियों के स्थान पर नीम की सींक

पर रूई का फाया लपेट कर चित्र चितराये जाने लगे हैं। इन थापों के साथ व्रत कहानियाँ, पूजा-अनुष्ठान, फलदायिनी मंगल भावनाएँ, विश्वास व मनौतियों जुड़ी हुई हैं बिंदियां सात्ये, सूरज, चांद, लगभग सभी थापों में देखे जा सकते हैं। साथ ही शंख, चक्र, दीप, कलश, कांच, स्त्री-पुरुष भी विविध रूपों में चित्रित किये जाते हैं। राजस्थान में शीतलामाता, दशामाता, गणगौर, चौथमाता, सखण, नागपंचमी, गोगाजी, सांझी, अहोई, भाईदूज, संक्रान्ति, लक्ष्मीजी के थापे विशेष प्रचलित हैं। (चित्र सं. 7)



शरीर (गात) चित्रण परम्परा – गोदना एवं मेंहदी

भूमि एवं भित्ति चित्रण की लोक परम्परा के साथ ही हमारे यहां शरीर की साज-सज्जा भी विभिन्न प्रसाधनों द्वारा की जाती है लोक चित्रांकन शैली में गोदना गुदवाना या मेंहदी रचना इसका सर्वाधिक लोकप्रिय रूप है। मेंहदी को भारतीय नारी के जीवन में विशेष स्थान मिला है। यह स्त्रियों के सोलह श्रृंगार में से एक है। प्राचीनकाल में इसे अलक्त या लाक्षारस भी कहा जाता था। (लाख को उबालकर उसका रस निकाला जाता था जो कि बहुत ही सुंदर लाल होता था)

कालिदास ने अपने ग्रन्थों में भी अलक्त व लाक्षारस प्रयुक्त करने वाली नारियों का वर्णन किया है—

निष्ठयूतरचरणों पराग सुलभो लाक्षारसः केनचित् ॥

शाकुन्तलम् ॥ अंक चतुर्थ ॥ श्लोक 20 ॥

तस्मादेकं ते चरण मपनय यावत्सालक्तयं पनूपुरं च करोमि

मालविकाग्निमित्रम् ॥ तृतीयोअंक ॥ पृष्ठ ॥ 43 ॥

आज भी भारत के विभिन्न प्रान्तों में अंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश आदि में यह अलता या आलता के नाम से प्रसिद्ध है। राजस्थान में मेंहदी का ही प्रयोग किया जाता रहा है। चरक संहिता सुश्रुत संहिता में इसका औषधी के रूप में उल्लेख मिलता है।¹⁶

पहले मेंहदी के झाड से ताजी पत्तियां तोडकर पीसा जाता था, जिससे हाथ, पैर, नाखून व बालों को रंगा जाता था। राजस्थान के लगभग हर क्षेत्र में मेंहदी पाउडर बहुतायत में उपलब्ध हैं। मारवाड क्षेत्र का सोजत शहर अपने मेंहदी उत्पादन के लिए देशभर में सुविख्यात है।

विशेषतौर पर सौभाग्यवती स्त्रियां व बालिकाएँ ही मेंहदी लगाती है। हिन्दुओं में तीज, दीपावली, होली, गणगौर आदि त्यौहारों व विवाहादि मांगलिक अवसरों पर मेंहदी मांडणा अनिवार्य माना गया है। पर्व से एक दिन पूर्व मेंहदी गांडी जाती है, इस दिन को 'सिणजारा' कहा जाता है।



गणगौर पर हाथों में चूनडी, गुणा मांडे जाते हैं, तीज पर लहरिया, घोवर, दीपावली पर पान, गलीचा, होली पर्व पर स्त्रियां मेंहदी से अपने हथेलियों पर चौपड़, बीजणी, चंग आदि मांडती है। इसके अतिरिक्त नये व कलात्मक अलंकरणों का भी समावेश हो गया है। (चित्र सं. 8)

गोदना गुदवाने की परम्परा अधिकांशतया जनजातीय बाहुल्य क्षेत्रों में, मेलों में प्रचलित रही है, जिसमें देवी देवताओं के नाम, स्त्री-पुरुषों के नाम, फूल-पत्ति, पक्षी आदि कलाई या बाजू पर उकरे जाते थे किन्तु इसे मेहंदी जैसे लोकप्रियता एवं विविधता नहीं मिली। लोकजीवन में मेहंदी आज भी एक सहज उपलब्ध व सांस्कृतिक आस्थाओं से जुड़ा लोकप्रिय सौन्दर्य प्रसाधन है।

मांडणा लोक चित्रांकन परम्परा में पर्यावरण/जल, जंगल, जमीन के तत्वों का समावेश मांडणा में प्रयुक्त सभी रंग, गेरू, रवडिया, हिरमिच, नील आदि सभी खनिज रंग हैं और जमीन से प्राप्त होने वाले हैं, ग्रामीण अंचल में हर छोटे, बड़े गांव कस्बे मेंसे सुगमता से प्राप्त होते हैं। वहीं मांडणा मांडने के लिए जब पृष्ठभूमि तैयार की जाती है तो गोबर, खारवाला, पीली काली मिट्टी का प्रयोग किया जाता है जो ग्राम्य अंचलों में सहज उपलब्ध है, ताजा लीपे-पुते भूमि, आंगन, चौक से गीली काली माटी की सौधी महक में एक अलग ही ताजगी का अनुभव होता है।

वहीं मांडे जाने वाले अभिप्रायों का विश्लेषण करें तो हम पायेंगे मानों समूचा वन्य परिवेश इन अभिप्रायों में उतर आया हो, तोता, चिड़िया, मोर से लेकर चीटी, गाय, बैल, हाथी, आम, बबूल, बेर, अशोक, नीम, पीपल, तुलसी के पौधे, कैरी, कमल, सभी का प्रतीकात्मक एवं सरल रूप इन अभिप्रायों में मांडा जाता है, तो कि ग्रामीण नारी के प्रकृति एवं पर्यावरण के प्रति प्रेम को परिलक्षित करता है। ग्रामीण नारी के प्रकृति के साथ निरन्तर जारी संवाद एवं सौहार्द को प्रस्तुत करता है।

जल जो कि हम सभी के जीवन का आधार है, केन्द्र बिन्दु है, उसकी स्तुति मांडणा लोक चित्रांकन परम्परा में अत्यन्त गरिमामय रूप में पाई गई है। मांडणा के मुख्य अभिप्राय को मांडे जाने के पश्चात् भरती हेतु प्रयुक्त की जाने वाली विभिन्न प्रकार की लहरदार रेखायें, नदी, तालाब, पोखर के पवित्र जल तथा मेघों से बरसने वाली जीवनदायी वर्षा के ही प्रतीकात्मक रूप हैं। भरती हेतु प्रयुक्त घुमावदार, लहरदार, आड़ी-तिरछी, रेखायें जल के एवं जीवन के प्रभाव को इंगित करती हैं।

निष्कर्षतः राजस्थान की स्त्री के मन में प्रकृति एवं पर्यावरण के प्रति जो अगाध श्रद्धा है, वही लोककलाओं, लोकगीतों तथा परम्पराओं में अभिव्यक्ति हुई है वहीं दूसरी ओर हमारी लोककलाएँ व परम्परायें मानव जीवन एवं जल, जंगल एवं जमीन के एक रूप प्रगाढ़ संबंधों को निरन्तर मजबूती प्रदान करती हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. जोगेन्द्र सक्सेना, आर्ट ऑफ राजस्थान, देहली, 1979
2. कमला देवी चट्टोपाध्याय, इण्डियाज क्राफ्ट ट्रेडशन, 1989, चेप्टर-2, पृ. 19
3. गिर्राज किशोर अग्रवाल, कला और कमल, अलीगढ़, 1990, पृ. 32

4. जसलीन धमीजा, इण्डियन फोक आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट, 1970, पृ. 39-40
5. रामनिवास वर्मा, राजस्थानी मांडणा, राज.ल.क.अ. जयपुर, 1961
6. श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनि कालीन भारतवर्ष, बनारस, 2012, पृ. 223
7. वी.एस. अग्रवाल, हर्ष चरित्र एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 1953, पृ. 72
8. डॉ. नीलिमा वशिष्ठ, मांडणा – दि फ्लोर डिजाईन्स ऑफ राजस्थान, डॉ. वी.एन. सक्सेना, जवाहर कला केन्द्र, यूनिवर्सिटी बुक हाउस, 2000, पृ. 3-5
9. डॉ. नीलिमा वशिष्ठ, पूर्वत
10. डॉ. नीलिमा वशिष्ठ, पूर्वत
11. डॉ. नीलिमा वशिष्ठ, पूर्वत
12. रामनिवास वर्मा, राजस्थानी मांडणा, राज.ल.क.अ. जयपुर, 1961

डॉ. भारत भूषण
अध्यक्ष—ललित कला एवं संगीत विभाग,
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर (उ०प्र०)

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

समकालीन भारतीय चित्रकला—एक समीक्षात्मक अध्ययन

समकालीन कला का तात्पर्य आधुनिक विधि, तकनीक, प्रतीक तथा संयोजन पर आधारित पूर्ववर्ती कला शैलियों के बन्धन से मुक्त निजी और नवीन शैली में अभिव्यक्ति करना है। अभिव्यक्ति मानव की विवशता है और कला इसका एक सशक्त माध्यम है। वस्तुतः मानव कलाहीन हो ही नहीं सकता। भर्तृहरि के अनुसार :-

साहित्य संगीत कला विहीनः।

साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः।।

भर्तृहरि के उक्त कथन से भी इसकी पुष्टि होती है। अमूर्त भाव को मूर्त रूप देना और अतीत के संरक्षण का भाव प्रारम्भ से ही कला रचना का मुख्य कारण रहा है। परिवर्तन और तदनुकूल कुछ रचना—गढ़ना मानव की सहज वृत्ति है। अपनी सुविधानुसार वह अलग—अलग विधा में सृजन करता है। सच तो यह है कि कलाकार 'मानसिक प्रसव पीड़ा' से गुजरते हुए सृजन करता है और अपने सृजन द्वारा उसको अपार संतोष और आनन्द मिलता है।

दृश्यकला में प्रचलित विभिन्न शैलियों एवं प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में समकालीन एवं आधुनिक शब्द लगभग समान अर्थ के घोटक रहे हैं। आज के दौर में प्रचलित कला ही प्रायः आधुनिक कला मानी जाती है। यद्यपि प्रत्येक काल की कला उस समय के लिए आधुनिक होती है तथापि आधुनिक कला में प्राचीन कला की आध्यात्म, धर्म, दर्शन आधारित अभिव्यक्ति, सिद्धान्त एवं परम्परा की जकड़न से कलाकार मुक्त दिखाई देता है।

प्राचीन काल की भारतीय कला में विषय की प्रधानता थी परन्तु आज की भारतीय समकालीन कला में अभिव्यक्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है। अभिव्यक्ति के लिए समकालीन भारतीय कलाकार फलक पर कुछ भी, किसी भी तरह रचने के लिए तत्पर हैं। व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के लिए इन कलाकारों ने तकनीक, संयोजन, टेक्सचर, रंगाकार आदि के माध्यम से शैलीगत अनेकानेक प्रयोग किये हैं। इसीलिए भारतीय समकालीन कला व्यक्तिवादी होने के साथ—साथ आम दर्शक के लिए धीरे—

गिरे दुरुह होती गयी।

भारतीय समकालीन कलाकार प्रयोगवादी तो हैं ही साथ ही साथ वे आज (वर्तमान) की परिस्थिति के गम्भीर विश्लेषक और सचेत समीक्षक भी हैं। इन कलाकारों का मन प्राचीन परम्परा, सिद्धान्त इत्यादि के प्रति नकारात्मक भाव से भरा है। समकालीन कलाकार अपने पूर्व की प्राचीनता और वर्तमान की आधुनिकता से पैदा हुए ढेर सारे सवालों से घिरा रहता है। ऐसे ज्वलंत सवाल उसके भीतर उथल-पुथल मचाये रहते हैं। समकालीन कलाकार इन्हीं सवालों के जवाब तलाशने के लिए भी अपनी कला में क्रान्ति लाना चाहता है। वह क्रान्ति की प्रभवोत्पादकता के लिए अपनी व्यंजना शक्ति की सीमा को तोड़कर नितान्त व्यक्तिगत और मौलिक ढंग से गम्भीर एवं महत्वपूर्ण प्रयोग कर रहा है।

आज मानव जीवन भौतिकवादी और द्वन्द्वात्मक हो गया है। उसके लिए सहज—सरल आनन्दमय जीवन उसकी महज कल्पना का विषय हो गया है। सौन्दर्य का अर्थ/परिभाषा एवं आस्वाद भी आज बदल गया है। भारतीय समकालीन कला में जीवन के सुन्दर—असुन्दर तथा स्याह—सफेद सभी को ग्रहण करने की तीव्र इच्छा दिखाई दे रही है। नव्य प्रयोगधर्मी इन समकालीन कलाकारों ने परम्परागत मान्यताओं/अवधारणाओं को तोड़कर स्वच्छन्दता और उन्मुक्तता को कला रचना के लिए अपनाया है। यद्यपि कला रचना के सन्दर्भ में यह विचार सही है लेकिन भारतीय समकालीन कलाकारों की कला रचना सम्बन्धी यह उन्मुक्तता समाज की दृष्टि में कभी—कभी उद्दण्डता जैसी बन जाती है, जैसे—रॉब बिर्जा और एम0एफ0 हुसैन की समकालीन चित्रकृतियाँ। यह खतरा विश्व की समकालीन कला में भी दिखाई देता है जैसे—डच कलाकार रॉब बिर्जा की कृति “किल/किस इंडिया” तथा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त चित्रकार मकबूल फिदा हुसैन की “दुर्गा” एवं “सरस्वती चित्र। रॉब बिर्जा और हुसैन के चित्र कन्टेन्ट (कथ्य), संयोजन और रचनात्मकता के स्तर पर निःसन्देह बहुत अच्छे हो सकते हैं लेकिन जन मानस की भावना तथा देश, काल की सीमा को ध्यान में न रखने के कारण विवादित हो गये। समकालीन कलाकारों ने क्षेत्रीयता को छोड़ कर पूरी दुनियाँ को अपनी कृति के लिए उपयुक्त समझा और कला—आकाश में उन्मुक्त उड़ान भरने की तीव्र इच्छा के फलस्वरूप कला कृतियों की रचना की।

भारतीय कला परिदृश्य पर ध्यान देने पर स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि यूरोपीय कला शैली व तकनीक, जिसको यूरोपीय सत्ता द्वारा प्रोत्साहन प्राप्त था, की प्रतिक्रिया स्वरूप बंगाल स्कूल का उदय हुआ लेकिन बंगाल स्कूल अपनी अनेक विशेषताओं के

बाद भी किन्ही मायनों में रूढ़िबद्धता का शिकार हो गया। यही कारण है कि बंगाल स्कूल भारतीय कला को नवीनता के रास्ते पर नहीं ले जा सका। उस समय रविन्द्र नाथ टैगोर, गगनेन्द्र नाथ टैगोर, यामिनी राय, अमृता शेरगिल, जार्ज कीट, निकोलस रोरिक जैसे कलाकारों ने भारतीय कला के भविष्य के प्रति चिन्ता व्यक्त करते हुए कलाकारों को अपनी जमीन पर नया रास्ता बनाने के लिए प्रोत्साहित किया।

वैसे आजादी के पहले से ही भारतीय कला में देशज प्रतिबद्धता के अतिरिक्त एक प्रकार की क्रान्ति का भाव दिखाई देने लगा था। पूर्व निर्धारित शास्त्रीय प्रतिमानों के आधार पर कृति रचना में कलाकारों की रुचि क्रमशः कम होने लगी थी और धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीयतावाद एवं व्यक्तिवाद का प्रभाव भारतीय कला में दिखाई देने लगा।

वास्तव में समकालीन भारतीय कला के विकास क्रम को सामान्य तौर पर 1950 ई० से देखा जा सकता है। उस समय के भारतीय कलाकार यूरोप के कला आन्दोलन से अछूते नहीं थे। यूरोप में शास्त्रीयतावाद के बाद प्रभाववाद आन्दोलन अत्यन्त महत्वपूर्ण था। प्रभाववाद का ही अलग चरण नव प्रभाववाद था। इस वाद के पक्षधर चित्रकार अमिश्रित रंगों के बिन्दुओं को लगाकर चित्र रचना करते थे। भारत में नारायण श्रीधर बेन्द्रे ने अपने कई दृश्य चित्रों में इस प्रकार से रंगों का प्रयोग किया था। इसके अतिरिक्त सैयद हैदर रज़ा, राम कुमार, रणबीर सिंह बिष्ट आदि चित्रकारों के काम पर प्रभाववादी लक्षण दिखाई देता है।

यूरोप की दूसरी महत्वपूर्ण कला प्रवृत्ति अभिव्यंजनावाद और फॉववाद थी। इस वाद में विषय वस्तु और रूपात्मक तत्वों की अभिव्यंजना का विशेष महत्व है। फाववाद से प्रभावित भारतीय कलाकार शैलोज मुखर्जी थे। उनके चित्रों के रंग ताजे थे। उनके चित्रों में धरातल सपाट, आकृतियाँ लम्बी तथा रेखांकन अत्यन्त सशक्त है।

यद्यपि यूरोप में कला के कई आन्दोलन और वाद आये लेकिन घनवाद ने वहाँ के कला जगत में विस्मयकारी परिवर्तन किया। एक साथ कई तलों से देखे गये ज्यामितीय रूपाकारों ने पूर्ववर्ती कला की सारी मान्यताओं को बदलकर यथार्थ जगत को एक नये रूप में प्रस्तुत किया। घनवाद का प्रभाव भारतीय समकालीन कलाकारों पर भी पड़ा। यहाँ गगनेन्द्र नाथ ठाकुर ने भारत में सबसे पहले स्याही से बने रेखाचित्रों में घनवादी प्रयोग किया। एन०एस० बेन्द्रे के 1950 ई० के चित्रों में घनवादी शैली का प्रभाव दिखायी देता है। बेन्द्रे के अतिरिक्त भारतीय समकालीन कलाकारों में जहाँगीर सबावाला, त्रिलोक कौल, के०जी० सुब्रमण्यम आदि कलाकारों का नाम मुख्य रूप से आता है जिन्होंने घनवादी शैली में उच्चकोटि का काम किया है।

कला जगत की अत्यन्त महत्वपूर्ण अतियथार्थवादी प्रवृत्ति मन के अचेतन स्थिति से सम्बन्धित है। इसमें नैतिकता, सौन्दर्य सिद्धान्त तथा तर्क के लिए कोई स्थान नहीं होता है। अतियथार्थवाद में भ्रम, पागलपन, स्वप्न आदि को रंगाकार दिया गया है। अतियथार्थवादी प्रवृत्ति की शुरुआत आन्द्र ब्रेतों नामक कवि ने पेरिस में शुरु की थी। भारत में इसका पहला प्रमाण रविन्द्रनाथ ठाकुर के अन्तिम दौर के चित्रों में दिखाई देता है। अतियथार्थवाद का गहरा प्रभाव भारतीय/समकालीन चित्रकारों पर भी पड़ा। प्रख्यात चित्रकार जगदीश स्वामीनाथन् और विकास भट्टाचार्जी की ऐसी रूपाकृतियाँ जो कभी सजीव तो कभी बनावटी लगती हैं, अवलोकी को यथार्थ और अयथार्थ के बीच असमंजस में रखती हैं। इसके अतिरिक्त मकबूल फिदा हुसैन, परमजीत सिंह, ए० रामचन्द्रन्, हेमन्त मिश्र, मंजीत बावा इत्यादि चित्रकारों ने भी अपनी कलाकृतियों में अति यथार्थवादी प्रवृत्तियों का यथोचित प्रयोग किया है।

मनु पारेख का 'शैडो ऑफ वायलेन्स', सनतकर का 'डायटी ऑफ पीस' अनिल करंजै का 'साइलेंट कन्वर्सेशन', जे० सुल्तान अली का 'पिशाची', एम०एफ० हुसैन का 'सफदर हाशिमी की हत्या', बीरेन डे का 'द मॉन्क्स', लक्ष्मण पई का 'डेस्टिनी', एस०एच० रज़ा का 'आज', सतीश गुजराल का 'डान्स ऑफ डिस्ट्रक्शन', के० एस० कुलकर्णी का 'डेथ ऑफ ए सांग', विकास भट्टाचार्जी का 'इन में 19', सोमनाथ होर का 'वून्डस्', विवान सुन्दरम् का 'एकता और हिंसा', आनन्द गोपाल राय का 'डेथ ऑफ ग्रीन', डी०एल०एन० रेड्डी का 'लोनली बटरलाई', रमेश्वर ब्रुटा का 'दैंट अनटोल्ड स्टोरी', डी० दोरईस्वामी का, जेनोसाईड इन बांग्लादेश, अपर्णा कौर का 'हिरोशिमा के आंसू', रामकुमार का 'इन द स्ट्रीट', अशोक भौमिक का 'काला सूर्य', आर०एस० बिष्ट का 'अनवान्टेड चाइल्ड', अजय कुमार का 'ईश्वर मर चुका है', वीर मुंशी का 'मूड्स ऑफ द वैली', खालिद बिन सोहेल का 'लाशों की ढेर पर अजान', अभय द्विवेदी का 'ब्लैक पेन्टिंग', राजेन्द्र प्रसाद का 'टेररिस्ट', भारत भूषण का 'शुद्ध-अशुद्ध', जगदीप गरचा का, आटर क्रूसीफिक्शन, सुरेन्द्र जोशी का 'अगेन्स्ट कम्प्यूनिकेशन', प्रमोद कुमार का 'टेरर', हरिपाल त्यागी का 'उम्मीद और पराजय का खाका' इत्यादि अनेक भारतीय समकालीन कलाकार और उनकी कृतियाँ हैं जिनमें कला के समकालीन प्रभाव को देखा जा सकता है।

यद्यपि ये सभी कला प्रवृत्तियाँ न तो भारतीय हैं और न ही इन प्रवृत्तियों पर आधारित रचना करने वाले कलाकार इनको नये तरीके से आगे ले जा सके तथापि भारतीय कलाकारों ने अपनी वैयक्तिक दृष्टि से कला की एक नई भाषा गढ़ने में लगातार प्रयास किया है। अपने इस लक्ष्य के लिए भारतीय समकालीन कलाकार आदिम कला, लोक कला, लघु चित्रण तथा तांत्रिक कला आदि को आधार बनाकर

निरन्तर नये प्रयोग कर रहे हैं।

तांत्रिक कला का विकसित और परिवर्तित रूप नवतांत्रिक कला है जो विशुद्ध भारतीय है। तांत्रिक तथा नवतांत्रिक कला पर आधारित रचना करने वाले महत्वपूर्ण भारतीय समकालीन कलाकार लक्ष्मण पै, निरोद मजूमदार, जे० स्वामिनाथन, गुलाम रसूल संतोष, सतीश गुजराल, विरेन दे, पी०टी० रेड्डी, पल्सीकर, के०सी०एस० पी० नकर, दीपक बैनर्जी, के०बी० हरिदासन, बाल कृष्ण पटेल, प्रभाकर बर्वे, होमी पटेल इत्यादि हैं।

भारत के प्रमुख समकालीन कलाकार किसी न किसी बड़े कला आन्दोलन से जुड़े थे। इन कलाकारों ने आगे चलकर स्थानीय तथा परम्परागत विशेषताओं का समावेश करके सामाजिक समस्या, धार्मिक तथा कामुक दृश्यों पर आधारित रचना भी किया। भारतीय समकालीन कला के प्रमुख स्तम्भ फ्रान्सिस न्यूटन सूज़ा ने धार्मिक और कामुक विषयों पर आधारित चित्रों की रचना की है। सूज़ा के ऐसे चित्रों ने आम आदमी की भावना को झकझोर दिया लेकिन ऐसे चित्रों ने सूज़ा को अन्तर्राष्ट्रीय पहचान भी दिलाया।

भारतीय समकालीन कला की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह किसी एक शैली अथवा किसी एक सांस्कृतिक अथवा कलात्मक धारा तक अपने को सीमित नहीं रखी। यदि हम भारतीय समकालीन कला को एक शैली का नाम देना ही चाहे तो उसे हम विविधता की शैली कहेंगे। इन कलाकारों ने अपनी कला में आधुनिक और परम्परागत शैलियों को बिल्कुल नये रूप में अपनाया है। यहाँ तक कि अभिव्यंजनावाद, अतियथार्थवाद, मैनरिज्म, शास्त्रीयतावाद, स्वच्छन्दतावाद के अतिरिक्त नितान्त मौलिक एवं अधुनातन विचारों को अपनी कला का आधार बनाया है। इन कलाकारों ने अपनी मूल जड़ों और परम्पराओं पर आधारित रचना आधुनिक तरीके से किया।

भारत के समकालीन कलाकारों ने देश की सामाजिक, राजनैतिक आदि किसी भी समस्या या घटना को वास्तविक रूप में रंगाकार नहीं दिया है बल्कि कलाकारों ने सीमा से आगे जाकर अपनी अभिनव अभिव्यक्तियाँ की हैं।

यह कहना गलत होगा कि समकालीन भारतीय कला की रचना यूरोप और अमेरिका के संग्रहकर्त्ताओं और निलामगृहों में अधिकाधिक व्यवसाय के लिए हो रहा है। भारतीय कला का विकास और नवोत्पत्ति समान रूप से हो रहा है। लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि कला को बाजार मिलने से समकालीन कलाकारों द्वारा कृतियाँ अपेक्षाकृत तेजी से और अधिक संख्या में बन रही हैं। कला जगत की यह स्थिति भारतीय कलाकार और पश्चिमी निलाम गृहों दोनों के लिए

फायदेमन्द है। इस स्थिति में खतरा सिर्फ इस बात का हो सकता है कि पैसे/बाजार की चाह में कलाकार थोक काम करने के चक्कर में कला के स्तर को न गिरा दे। हालांकि बाजार प्रायः स्तरीय और गुणवत्तावाली कृतियों को ही समादर देता है।

पिछले दशक में इन्टरनेट के व्यापक प्रसार के कारण भी भारतीय समकालीन कला को सिद्दी, क्रिस्टी जैसे नीलाम गृहों और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बहुत महत्व मिला है। कला व्यवसाय को और आगे बढ़ाने के लिए सिद्दी, क्रिस्टी जैसी अन्तर्राष्ट्रीय नीलाम गृहों ने मुम्बई में अपना स्थानीय नीलाम केन्द्र खोला है। इन केन्द्रों से कला बाजार की देख भाल तो होगी ही, उनसे कला जगत की नयी प्रतिभाओं को सामने आने का अवसर भी मिलेगा।

समकालीन भारतीय कला के आज आप उच्चस्तर की प्रशंसा करें अथवा उसे फैशन के रूप में देखें, प्रत्येक दृष्टि से यह संतुष्टि प्रदान कर रही है। भविष्य के एक अच्छे निवेश की दृष्टि से भी समकालीन भारतीय कला को खरीदा जा रहा है। सच तो यह है कि इन्टरनेट द्वारा प्रचार—प्रसार के कारण ही भारतीय समकालीन कला का महत्व और मूल्य दोनों बढ़ा है।

सन्दर्भ ग्रन्थ (साभार)

1. २०१० साखलकर : आधुनिक चित्रकला का इतिहास, कला के अन्तः दर्शन
2. डॉ० जी०के० अग्रवाल : आधुनिक भारतीय चित्रकला कला और कलम
3. कृष्ण नारायण कक्कड़ : कला संदर्भ तथा स्थिति
4. डॉ० राजेन्द्र बाजपेयी : आधुनिक कला और भारतीय चित्रकार
5. दिनकर कौशिक : काल और कला
6. डॉ० भारत भूषण : भारतीय आलेख्य
7. डॉ० पी०सी० गोस्वामी : आधुनिक भारतीय चित्रकला के आधार स्तम्भ

एकता की भावना का विकास

भारत में देश की एकता, अखण्डता और धार्मिक समभाव (धर्मनिरपेक्षता) को लेकर चिन्तन बहुत पहले से होता आ रहा है। इस पर बड़े-बड़े सेमिनार आयोजित किये जा रहे हैं। भारत की सांस्कृतिक परम्परा में अनेक भिन्नताओं के बीच एकत्व की भावना रही है। देशभक्ति उस भावना का मूलाधार है जिस पर राष्ट्र की सम्पूर्ण एकता निर्भर करती है।¹ इसलिए सम्भवतः समाज का प्रायः प्रत्येक बौद्धिक वर्ग इन राष्ट्रीय समस्याओं से वह स्वयं को कहीं न कहीं से थोड़ा बहुत प्रभावित मानता है। वह अपनी सामर्थ्य के अनुरूप अपनी विधा के द्वारा प्रतिक्रिया भी व्यक्त करता है। वस्तुतः सहिष्णुता और सहज स्वीकृति भारत की विशेषता रही है। भौगोलिक धरातल पर यहां संघर्ष अवश्य हुए हैं पर भावनात्मक धरातल पर जहां संस्कृति फूलती-फलती है, केवल संश्लेषण का ही प्रमाण मिलता है।² सदियों पहले ईसाई धर्म भारत में आया था। इस्लाम को आये भी प्रायः ग्यारह सदियाँ बीत गयी हैं और जो राष्ट्रीय धर्म को आये भी लगभग इतना ही समय हुआ होगा। ये धर्म चाहें दूसरे देशों में शुरू हुए हों लेकिन वे उतने ही भारत के भी धर्म हैं। यह इसलिए नहीं कि भारत सभी धर्मों का संगम स्थल है बल्कि इसलिए कि ईसाई धर्म, इस्लाम और जो राष्ट्रीय धर्म मानने वाले यहां रहें हैं, लड़े हैं और जरूरत पड़ने पर हमारे देश के लिए अपनी जानें भी दी हैं। उनमें से हर एक जो भारतीय होने का दावा करता है उसका यह कर्तव्य है कि वह धार्मिक समभाव के सिद्धान्त का समर्थन करे क्योंकि इसके बिना हम लोकतंत्र की रक्षा नहीं कर सकेंगे और समाजवाद की ओर नहीं बढ़ सकेंगे।³ समसामयिक सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षतावादी (धार्मिक समभाव) दृष्टिकोण का विशेष महत्व है। इसमें एकता की भावना को बल मिलता है। एक देश में विभिन्न धर्मावलम्बी रह सकते हैं। देश की उन्नति नागरिकों की एकता पर निर्भर होती है तथा यही धर्मनिरपेक्षतावाद (धार्मिक समभाववाद) इस एकता को बल प्रदान करता है।⁴ एक ओर जहाँ भारत का संविधान व्यक्ति के विकास के लिए अधिकारों को प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर उसका लक्ष्य देश की एकता को अक्षुण्ण बनाये रखता भी है। व्यक्ति का उत्कर्ष कहीं सम्पूर्ण राष्ट्र के उत्कर्ष में बाधक न बन जाये, इसलिए

संविधान में बन्धुत्व की भावना पर अधिक बल दिया गया है।⁵

आज देश की जनता के समक्ष यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि राजनीतिक सत्ता का स्रोत केवल देश का संविधान है। व्यक्तिगत आस्था का स्रोत कोई भी धर्म ग्रन्थ हो सकता है। राष्ट्रीय स्तर पर हमारे सम्पूर्ण संकल्प का लक्ष्य है — भारत को एक ऐसा लोकतंत्र देना जिससे देश की स्वतंत्रता, अखण्डता, व्यक्ति और एकता पर कोई आँच न आये। भारत में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति दुःख, निराशा, भय, तनाव, आतंक व घुटन से मुक्त होकर स्वतंत्र विकास करते हुए धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक व वैचारिक सद्भावना के साथ रह सके। परन्तु विश्व की कई नकारात्मक, आतंकवादी, कट्टरवादी शक्तियाँ भारत में फूट का बीज बोने का प्रयत्न कर रही हैं। धर्मनिरपेक्ष आधुनिक भारत के शत्रु धार्मिक सहनशीलता समाप्त करने और आपसी नफरत फैलाकर देशवासियों को आतंकित करने के लिए बहुत शक्ति और पैसा लगा रहे हैं।

राष्ट्र की एकता, अखण्डता और धर्मनिरपेक्षता जैसे ज्वलंत विषयों ने भारत के कुछ समकालीन चित्रकारों को भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्ति के लिए उत्प्रेरित किया। इस उत्तर आधुनिक काल में कई भारतीय कलाकारों ने राष्ट्रीय समस्याओं, यथा—देश की एकता, अखण्डता, धर्म—निरपेक्षता, आतंकवाद इत्यादि अनेक समसामयिक एवं ज्वलंत समस्याओं से सम्बन्धित समाज की मानसिकता, आशा और निराशा, धार्मिक उन्माद, कटुता, वैमनस्यता एवं बिखरते हुए सामाजिक मूल्यों इत्यादि को अपनी चित्राभिव्यक्ति का विषय बनाया है।

वस्तुतः चित्रकार भी साहित्यकार की तरह विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का मात्र मूक दर्शक नहीं होता वरन् टिप्पणीकार भी होता है। लेखक प्रायः कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, संस्मरण, रेखाचित्र एवं कविताओं इत्यादि के माध्यम से समसामयिक परिस्थितियों को उद्घाटित करता है तो कलाकार अपने चित्रों और मूर्तियों के माध्यम से समसामयिक घटनाओं पर अपनी निष्पक्ष टिप्पणी देता है। रेखाचित्र की एक स्वतंत्र विधा कार्टून है। कार्टून का प्रभाव व्यंग्य से सराबोर होता है। ये कार्टून अपेक्षाकृत छोटे आकार एवं हास्य की प्रधानता के साथ किसी भी समस्या पर सीधे प्रहार करके एक लम्बे समय, तक दर्शकों के मन—मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डाले रहते हैं जबकि चित्र, मूर्ति आदि में ऐसी अभिव्यक्तियाँ अधिकतर प्रत्यक्ष—अप्रत्यक्ष बिम्ब एवं प्रतीकों के माध्यम से होती हैं। समाज में घटी किसी घटना की मानसिकता, घटना का प्रभाव, लोगों की मानसिकता, भय, शोक, निराशा, उग्रता, आक्रोश भरा परिवेश और देश तथा समाज पर उस घटना का पड़ने वाला भयावह असर कलाकृतियों में रूप, रंग, रेखा, आकार, प्रतीक, बिम्ब, टेक्सचर आदि

के माध्यम से अभिव्यक्त होता है।

योगेश्वरनाथ योगी के चित्र सिरीज—घटना में दो पक्षों के मध्य तनाव, उग्रता, आक्रोश एवं भय से भरा परिवेश स्पष्ट दिखाई देता है। पदमश्री आर०एस० बिष्ट की कृति—‘आर—फेनेटिक’, डॉ० अभय द्विवेदी की ‘एम०के०जी० टुडे’, प्रो० के०एस० कुलकर्णी का ‘डेथ ऑफ अ सांग’, सोमनाथ होर का ‘वून्डस’, यूसुफ अराकल की ‘विकिटम ऑफ रिलीजन, खालिद बिन सोहेल की ‘सलीब पर लटकी जिन्दगी’, ‘चीखता सन्नाटा’, ‘झोपड़ी में डरी हुई आत्माएं’, वीर मुंशी की ‘बाइगॉन्स एण्ड बाइगॉन्स’, ‘सैटेनिक काल’, ‘एक्जाइल फ्रॉम वैली’, ‘क्राई ऑफ माउन्टेन’, ‘होप एगेन्स्ट होप’ जैसे चित्रों में दर्द, निराशा और दहशत की अभिव्यक्ति हुई है।

प्रो० बी०पी० काम्बोज ने ‘बोट फ्रॉम उत्तराखण्ड’ जैसे चित्र में टूटन की यात्रा का प्रतीकात्मक चित्रण किया है। घाटी की खामोशी, सहमापन, नदी में तैरती/बहती कागज की नाव और पूरे माहौल का एकाकीपन वहां के परिवेश और लोगों की मानसिक स्थिति का गूढ़ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करती दिखाई देती है।

केरल के चित्रकार अजय कुमार की कृति—‘ईश्वर मर चुका है’ में व्यक्ति की आस्था और विश्वास के खण्डित होने की गहरी अनुभूति है जो आज के परिदृश्य में मानव के आस्था—विश्वास पर व्यंग्य करते हुए घोर निराशा की गहरी अनुभूति को कलाकृति के माध्यम से दर्शकों तक लाती है।

डी० दोरईस्वामी, रामेश्वर ब्रूटा, उदयराज गडनिस, अंजली इला मेनन, अपर्णा, कौर, डा० भारत भूषण, सतीश गुजराल जैसे कलाकारों ने तो ऐसे विषयों पर सिरीज में चित्रों की रचना की है। इसी श्रृंखला में प्रख्यात कलाकार प्रानकृष्ण पाल, मुमताज अली, विरेन दे, मनुपारेख, मोहम्मद इस्माइल, सनतकर, प्रोकाश कर्माकर, आर०एस० यादव, विजय कौल, अनिल करंजै आदि चित्रकारों ने भी अपने चित्रों के माध्यम से शान्ति, हिंसा, मानसिक कुण्ठा एवं देश के वर्तमान और भविष्य के प्रति अपनी चिन्ता आदि को अत्यन्त ही सहज अभिव्यक्तियों के द्वारा प्रदर्शित किया है। चित्रकार लक्ष्मण पर्ई की कृतियों में आज का संत्रास मुखरित हुआ है। सैय्यद हैदर रजा, कंवल कृष्ण, ईश्वरी रावल, नलिनी मलानी, शीला गौड़ा, तपन घोष इत्यादि भी देश की वर्तमान अस्थिरता, धार्मिक कट्टरवाद एवं तानाशाही प्रवृत्तियों के प्रति अत्यन्त व्याकुल दिखाई देते हैं।

संवेदनशील कलाकार, कवि, लेखक देश की आँख और कान का काम करते हैं। देश की व्यवस्था का सही मूल्यांकन करने के लिए उसकी हर उथल—पुथल पर उनकी पैनी दृष्टि रहती है। समाज में जब भी कोई परिवर्तन होता है तो कला

और साहित्य उससे अछूता नहीं रहता। समाज के हर घात—प्रतिघात से वह प्रभावित होता है। चाहे वह घटना संकट मोचन मंदिर में बम विस्फोट हो, मस्जिद में हुआ विस्फोट हो, मुम्बई, दिल्ली बम काण्ड हो या संसद पर आतंकी हमला हो। इन घटनाओं से उद्वेलित कार्टून कलाकार जगत ने समय—समय पर अपनी कलात्मक प्रतिक्रिया दर्ज किया है। लोक देव नेहरू में रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है कि हिन्दू, मुसलमान या ईसाई होना धर्म का बाहरी रूप है, सच्चा धर्म वही है जिसके जान लेने पर हिन्दू पहले से अच्छा हिन्दू और मुसलमान पहले से अच्छा मुसलमान हो जाता है।⁶ साम्प्रदायिकता चाहे किसी की भी हो यदि यह कायम रही तो भारत की धज्जियाँ उड़ जायेंगी और वह टूट कर टुकड़े—टुकड़े हो जायेगा।⁷

चूँकि भारत विश्व की अनेक संस्कृतियों का संगम स्थल रहा है इसलिए यहाँ विश्व के सभी धर्मों के लोगों को एक साथ मिलकर रहने और उन्नति करने के अवसर प्रारम्भ से ही प्राप्त थे। वर्तमान में भी भारत का संविधान धार्मिक आधार पर बिना किसी भेद—भाव के सभी को उन्नति का समान अवसर देने को प्रतिबद्ध है। डा० एस० राधाकृष्णन ने धर्म निरपेक्षता की व्याख्या करते हुए कहा है कि यहाँ सेक्युलर का अर्थ अधार्मिक या नास्तिकता का भाव नहीं है। यहाँ तक कि केवल भौतिक सुखों पर बल देना भी इसका उद्देश्य नहीं है। सेक्युलरिज्म आध्यात्मिक मूल्यों के सार्वभौम तत्वों पर बल देता है।⁸ परन्तु संविधान की भावना के विपरीत हम आपस में लड़ रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही एक—एक करके संविधान पर लगभग 60—70 हमले हुए हैं। ये हमले कभी भाषा, जाति, क्षेत्र के नाम से हुए, तो कभी साम्प्रदायिक, अलगाववादी व आतंकवादी ताकतों द्वारा। इनके परिणामस्वरूप आज ऐसी स्थिति पैदा हो गयी है कि कश्मीर, उत्तराखण्ड, आसाम, नागालैण्ड, छत्तीसगढ़, पूर्वांचल, झारखण्ड जैसे क्षेत्रों में अशान्ति को नियंत्रित करने में देश के समक्ष गम्भीर समस्या आ रही है। इन समस्याओं पर चूँकि साहित्यकार शब्द चित्र की रचना अधिक कर लेते हैं इसलिए लेखन विधा होने के कारण चित्र या मूर्तिकला में ऐसी प्रतिक्रिया साहित्य की अपेक्षा कम होती है। हरिपाल त्यागी का मानना है कि क्षेत्रीय अलगाववाद, जातिवाद, भाषावाद, साम्प्रदायिक कट्टरता इत्यादि सभी समस्याएँ न तो जनता की हैं और नहीं कलाकरों की ये समस्याएँ जन विरोधी स्वार्थी राजनीतिज्ञों ने हम पर थोपी हैं और हम अपने आप को इसके शिकार हुए अनुभव करते हैं। इसी सन्दर्भ में वरिष्ठ चित्रकार प्रो० रामचन्द्र शुक्ल का मानना है कि कलाकार मूलतः सर्जक होता है। वह सम्पूर्ण संसार के लिए अपनी रचना करता है किसी क्षेत्र विशेष के लिए नहीं। क्योंकि वह सर्जक है इसलिए देश और समाज के समसामयिक समस्याओं से प्रभावित होना उसके लिए स्वाभाविक ही है। व्यास सम्मान प्राप्त प्रख्यात आलोचक

एवं कवि परमानन्द श्रीवास्तव का मानना है कि सभी कलाएं कहीं न कहीं एक हैं। इसलिए कलाकारों की समय के प्रति संवेदना एक जैसी होती है। जो भी समाज को क्षत-विक्षत करने वाली ताकतें हैं उनसे कलाकारों को सदैव लड़ना पड़ता है। प्रत्येक माध्यम की अपनी सीमाएं होती हैं। सम्भव है कि शब्द पर आधारित माध्यम अपना संदेश तुरंत जनता तक ले जाये और चित्रकला जैसी सूक्ष्म कला माध्यम से अपना संदेश तुरन्त न दे सके, लेकिन संवेदना के निर्माण में तो यह अनिवार्यतः सहायक होती है और शायद देर तक हमारी स्मृति में टिकी रहती है। भारतीय कलाकार एक साथ धार्मिक संवेदना को वहन करते हैं। उनके लिए वह गहरी चीज है। इसी अर्थ में उनका सेक्युलर होना भी गहरी चीज है, गहरी विशेषता है। राष्ट्रीय संवेदन और विश्वबोध को एक संश्लिष्ट संवेदना के रूप में भारतीय कला ने प्रमाणित किया है और कला के लिए विश्वबोध एक अनिवार्यता है।

इन विचारों से इतना तो स्पष्ट है कि भारत का समसामयिक कलाकार निःसन्देह समय के प्रति संवेदनशील है। यद्यपि वह किसी विषय विशेष में बँध कर नहीं रहना चाहता तथापि समय के प्रति उसकी संवेदनशीलता उसे देश, समाज और उसकी भारतीय समस्याओं से जोड़ती चली जाती है। सम्भवत यही कारण है कि समसामयिक कला में धर्म-निरपेक्षता/सापेक्षता, तज्जनित विभिन्न घटनाओं एवं समस्याओं यथा-आतंक, डर, निराशा, विरोध आदि सभी भाव, कभी प्रत्यक्ष तो कभी अप्रत्यक्ष रूप में, प्रतीकों और बिम्बों आदि के माध्यम से बड़ी संख्या में अभिव्यक्त किये जा रहे हैं।

I UhHZ xLFk

1. जे0 एन0 पाण्डेय – भारत का संविधान (26वाँ संस्करण) पृ0-25
2. महेन्द्र चतुर्वेदी – भारतीय परम्परा, पृ0-29
3. वी0एन0 पाण्डेय (प्रधान सम्पादक) 'द स्प्रिट ऑफ इण्डिया' वाल्यूम-3 (भारतवाणी), पृ0-141
4. अमरेश्वर अवस्थी, डॉ0 रामकुमार अवस्थी – आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, पृ0-566
5. डी0डी0 बसु (न्यायमूर्ति – सर्वोच्च न्यायालय) – इन्द्रोडक्शन टू द कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ इण्डिया, तीसरा संस्करण (1964) पृ0-23
6. रामधारी सिंह 'दिनकर' – लोक देव नेहरू, पृ0-122

डॉ. दुर्गेश नंदन शर्मा
प्राचार्य, श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर
जैन स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
तिजारा

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

अस्पृश्यता की अवधारणा व उत्तरदायी कारक

एक अवैज्ञानिक धारणानुसार वेदों में वर्णों की ईश्वरीय उत्पत्ति की अवधारणा की बात कही गई—

“ब्राह्मणोऽस्य मुख्यमासीद् बाहू राजन्य कृतः।

उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत्।।”

ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, पेट से वैश्य व पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है।

भारतीय समाज में अति प्राचीन काल से विराजमान विविधता व अनेकता ने ऐसे विरोधाभासों व विसंगतियों को जन्म दिया, जो कालांतर में भारतीय समाज का अभिन्न अंग बन गई। अतः चिंतन, विश्वास व आचार व्यवहार व अन्तर्विरोध भारतीय समाज में सरलतापूर्वक देखे जा सकते हैं। अस्पृश्यता भी इनमें से एक है।

अस्पृश्यता का अभिप्राय अछूत है अर्थात् जो छूने योग्य न समझा जाये। इस प्रकार अस्पृश्यों को ऐसे व्यवसाय सौंपे गये जिनका संबंध अपवित्र वस्तुओं के संपर्क से था।

मध्यकालीन हिन्दू समाज में अस्पृश्यता से संबद्ध विविध निषेध अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुंच गये कुछ अस्पृश्य जातियां इतनी अपवित्र समझी जाने लगीं कि सवर्ण हिन्दू उनके देखने मात्र से अपवित्र होने की भावना रखने लगे। अतः अस्पृश्यता सवर्ण हिन्दुओं के अहं भाव की धारणा बन गई जिसके अन्तर्गत वे स्वयं को अस्पृश्य जातियों से अत्यधिक श्रेष्ठ मानने लगे। वे अपनी श्रेष्ठता के दावे को कायम रखते हुये अस्पृश्य जाति के सदस्यों पर निषेध व निर्योग्यतायें थोपकर उन्हें स्वयं के साथ सामाजिक सहवास से वंचित रखने लगे।

अस्पृश्य जातियों को विभिन्न समय व काल में अनेक प्रकार के नामों से संबोधित किया गया है। अस्पृश्यों के नामकरण के संदर्भ में आरंभ से आज काफी

विवाद रहा है।

सामान्यतः अस्पृश्यों के लिये अछूत, दलित, बाहरी जातियां, हरिजन व अनुसूचित जाति आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। लम्बे समय तक इन व्यक्तियों के लिये अछूत शब्द का प्रयोग किया जाता रहा। इनकी आर्थिक स्थिति अतिदयनीय होने के कारण बाद में इनके लिये दलित वर्ग शब्द का प्रयोग किया गया। दलित का अर्थ है जिसे दबाया जाये या जिसे अधिकारों से वंचित रखा जाये।

सन् 1931 की जनगणना के पूर्व अस्पृश्य व्यक्तियों के लिये दलित शब्द का ही प्रयोग किया जाता था। सन् 1931 में जनगणना अधीक्षक ने दलित शब्द की अपेक्षा बाहरी जातियां शब्द का प्रयोग किया। इस शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया क्योंकि इन जातियों का भारतीय समाजिक संरचना में कोई स्थान नहीं था। इनकी सामाजिक प्रस्थिति जातीय संरचना के बाहर थी। पूना एक्ट के समय महात्मा गांधी ने इन अस्पृश्यों के लिये हरिजन शब्द का प्रयोग किया।

सन् 1935 के विधान में दलित वर्ग के व्यक्तियों को कुछ विशेष सुविधायें प्रदान करने बाबत एक अनुसूची तैयार की गई जिसके आधार पर वैधानिक दृष्टिकोण से इन जातियों के लिये अनुसूचित शब्द का प्रयोग किया गया।

इस प्रकार वर्तमान समस्त सरकारी प्रयोगों में इन्हें अनुसूचित जाति के नाम से संबोधित किया जाता है। इन्हें अनुसूचित जातियां इसलिये कहा गया क्योंकि इनकी एक सूची तैयार की गई थी उस सूची में जो जातियां शामिल की गईं उन्हें अनुसूचित जाति की संज्ञा की गई।

अस्पृश्य जातियों के अन्तर्गत वे जातियां आती हैं जो घृणित धन्धों से अपना जीविकोपार्जन करती हैं। अस्पृश्यता मुख्यतः पवित्रता व अपवित्रता की धारणा पर आधारित है। चूंकि समाज में कुछ व्यवसायों को पवित्र समझा जा रहा है व कुछ को अपवित्र। शरीर से निकले हुये पदार्थ अपवित्र माने गये हैं, चाहे वे मानव या पशु-पक्षी में से किसी के शरीर से क्यों न निकले हों। इसलिये इन पदार्थों से संबद्ध धंधों से संलग्न जातीय समूह अपवित्र माने गये, उन्हें अपवित्र माना गया। अस्पृश्यता के अन्तर्गत एक जाति के व्यक्ति दूसरी जाति के व्यक्ति को परंपरा के आधार पर स्पर्श नहीं कर सकते।

अस्पृश्यता का अर्थ है जो छूने योग्य नहीं है। अस्पृश्यता के आधार पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को छूने, देखने व छाया पडने मात्र से अपवित्र हो जाता है। अतः इस अस्पृश्यता से बचाव हेतु अस्पृश्य व्यक्तियों के लिये उच्च जाति से पृथक

रहने की व्यवस्था की गयी है, उनके संपर्क से बचने का प्रत्येक संभव प्रयास किया व उनके ऊपर नियोग्यतायें लादी गईं। इस प्रकार अस्पृश्य जातियों के अन्तर्गत वे व्यक्ति आते हैं, जिनके स्पर्श से एक व्यक्ति अपवित्र हो जाये व उसे पवित्र होने के लिये कुछ विशेष संस्कार (कृत्य) संपन्न कराने पड़े। इसी क्रम में सफाई कामगारों को अस्पृश्य माना गया है।

जे. एच. हट्टन के अनुसार¹ निम्नवत् आधारों पर कुछ जातियों को अस्पृश्य माना गया है।

* उच्च जाति के ब्राह्मणों की सेवा प्राप्त करने के अयोग्य हो।

* सवर्ण हिन्दुओं के सेवा करने वाले नाइयों, कहारों, दर्जियों आदि की सेवा पाने के अयोग्य हों।

* हिन्दु मंदिरों में प्रवेश प्राप्त करने के अयोग्य हों।

* सार्वजनिक सुविधाओं (स्कूल, सडक, कुआं) को उपयोग में लाने के अयोग्य हों।

* घृणित धन्धों से पृथक होने के अयोग्य हों।

डॉ. डी. एन. मजूमदार का मत भी अस्पृश्य जातियों के संदर्भ में प्रासंगिक प्रतीत होता है कि अस्पृश्य जातियां वे हैं जो विभिन्न सामाजिक व राजनैतिक नियोग्यताओं से पीडित हैं इनमें से बहुत सी नियोग्यतायें उच्च जातियों द्वारा परंपरागत रूप से निर्धारित व सामाजिक रूप से लागू की गई है।²

सर्वश्री हट्टन ने अस्पृश्यता की उत्पत्ति हेतु उत्तरदायी कारकों पर प्रकाश डालते हुये मन व्यक्त किया है कि बाह्य या बहिष्कृत जातियों के स्तर की उत्पत्ति अंशतः प्रजातीय, अंशतः धार्मिक और अंशतः सामाजिक प्रथा का परिणाम है।³

प्रजातीय व सांस्कृतिक असमानताओं, धर्म संबंधी पवित्रता के विचारों एवं अनेक सामाजिक निषेधों ने अस्पृश्यता की उत्पत्ति में योग किया है।

अस्पृश्यता के उत्तरदायी कारक

प्रजातीय कारक

सर्वश्री रिजले, घुर्ये व मजूमदार का मत है कि अस्पृश्यता की उत्पत्ति हेतु उत्तरदायी एक प्रमुख कारक प्रजातीय भिन्नता है। अतः प्रत्येक प्रजाति स्वयं को श्रेष्ठ मानती है। विशेषकर जब एक प्रजाति दूसरी प्रजाति को विजित कर लेती है।

तब वह स्वयं को उच्च व विजित प्रजाति को निम्न मानती है।

इस संदर्भ में प्रो. घुर्ये का मत समीचीन प्रतीत होता है कि पवित्रता का विचार चाहे, चाहे वह व्यवसाय संबंधी हो या संस्कार संबंधी, जो जाति की उत्पत्ति में कारक माना गया है, अस्पृश्यता के विचार और व्यवहार की आत्मा है।⁴

सामाजिक कारक

अस्पृश्यता की उत्पत्ति हेतु एक प्रमुख उत्तरदायी कारक सामाजिक है। सामाजिक नियन्त्रण के आंतरिक साधन अर्थात् प्रथाओं, रीति रिवाजों व संस्थाओं का समाज में काफी महत्व होता है। व्यक्ति अपनी प्रथाओं व रूढ़ियों के अनुसार ही कार्य व व्यवहार करता है। जब एक सामाजिक रूढ़ि प्रभावित हो जाती है तो वह काफी लम्बे समय तक प्रभावशाली रहती है। समाज में कुछ धंधों को घृणित व अपवित्र माने जाने लगा तो शनैः शनैः अस्पृश्यता की प्रथा सुदृढ़ होकर रूढ़ि बन गई।

यथा इन्डो आर्यन प्रजाति भारतवर्ष में विजेता के रूप में आयीं और उन्होंने यहाँ के विजित मूल निवासियों को स्वयं से हीन समझा, उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा, उन्हें दास, दस्यु आदि नामों से पुकारा। उन्हें समाज में सर्वाधिक निम्न सामाजिक स्थिति प्रदान की, उनके साथ किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रखा। इस संदर्भ में डॉ. मजूमदार का मत प्रासंगिक प्रतीत होता है कि तथाकथित दलित जातियों की निर्योग्यतायें सरकार संबंधी नहीं हैं, अपितु इसका आधार संभवतः प्रजातीय व सांस्कृतिक भिन्नतायें हैं। अतः इन भिन्नताओं के कारण पृथकता की धारणा शनैः शनैः इतनी तीव्र हुई कि इन्डो आर्यन प्रजाति ने यहां के मूल निवासियों को स्पर्श करना भी अनुचित माना और उन्हें अछूत (अस्पृश्य) कहा जाने लगा।⁵

धार्मिक कारक

अस्पृश्यता की उत्पत्ति हेतु धर्म एक प्रमुख उत्तरदायी कारक है। धर्म में निषेध का अत्यधिक महत्व रहा है। जिन कार्यों को घृणित माना गया व जिनके साथ भय तत्व संबद्ध कर दिया गया, उनको करने वाले स्वाभाविक दृष्टि से अछूत या अस्पृश्य माने गये।

सर्वश्री हट्टन ने निषेध को अस्पृश्यता की उत्पत्ति हेतु एक प्रमुख उत्तरदायी कारक मानते हुये मत दिया कि इसमें बहुत ही कम संदेह है कि अस्पृश्यता के विचार की उत्पत्ति निषेध से हुई है।⁶

इसी क्रम में धर्म में पवित्रता या शुद्धि को भी काफी महत्व दिया जाता है। सामान्यतः सभी समाजों में यह विश्वास किया जाता है कि धर्म से संबद्ध सभी वस्तुएँ

शुद्ध होनी चाहियें। अतः शुद्धता की इसी भावना के कारण घृणित धंधों में संलग्न व्यक्तियों को अस्पृश्य माना गया। साथ ही, जिन व्यक्तियों हेतु 'संस्कारों' का विधान नहीं किया गया, उन्हें अस्पृश्य माना गया।

अस्पृश्यता की उत्पत्ति के संदर्भ में स्टेनले राइस का मत भी समीचीन है – अस्पृश्य व्यक्ति विजितों के वंशज है। इन्हें दास, अनार्य, द्रविड या मूल निवासी भी कहा गया है। ये व्यक्ति प्रजाति संघर्ष में पराजित हो गये थे, अतः इन्हें दास दस्यु बाद में अस्पृश्य कहकर निम्न श्रेणियों में रखा गया।

व्यवसाय की उच्चता व निम्नता को अस्पृश्यता के लिये उत्तरदायी है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. हट्टन जे. एच. कास्ट इन इंडिया पृ. 195
2. मजूमदार डा. डी. एन. रेसेज एण्ड कल्चर ऑफ इण्डिया पृ. 226
3. हट्टन जे. एच. कास्ट इन इंडिया पृ. 206

डॉ. माधवी शर्मा (प्राचार्य)
डी. बी. (पी. जी.) महाविद्यालय, खेरली
अलवर

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

कालिदास के अप्रस्तुतों में चित्रात्मकता

भारतीय प्रतिभा के ज्योतिर्मय सूर्य महाकवि कालिदास ने अपनी प्रखर प्रज्ञा के प्रकाश द्वारा न केवल भारतभूमि को अपितु समस्त विश्व को आलोकित किया है। वे भारतवर्ष के एकमात्र ऐसे कवि हैं, जिन्होंने अपने साहित्य में भारत की समग्र सांस्कृतिक चेतना को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है, साथ ही विश्वजनीन संगीत का स्वर मुखरित करके वे विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवियों की अग्रपंक्ति में स्थित हैं। वे राष्ट्र की ज्ञानराशि के उन्नत नगाधिराज हैं, सरस्वती देवी के सुंदर श्रृंगार हैं, प्रतिभा की पावन प्रतिमा हैं, भावसौकुमार्य की अक्षय निधि हैं तथा अनन्तकाल तक प्रदीप्त रहने वाले ऐसे आनन्ददीप हैं, जो अपने आलोक से सदा सहृदयों के हृदयों को आनन्दोद्भाषित करता रहेगा।

कालिदास का बाह्य व्यक्तित्व भी कदाचित् उतना ही अभिराम है जितना आंतरिक। कालिदास के दार्शनिक विचारों के संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि "उपनिषदों से ज्ञानमार्गी अद्वैत साधना का, रामायण से मानवीय आदर्शों से मुखरित आदर्शवाद का, महाभारत से बौद्धिक चरित्र विकास का, धर्मसूत्रों और स्मृतियों से ब्राह्मणधर्मानुमोदित आचार संहिता का, पुराणों से विभिन्न मानव मण्डलियों में परिव्याप्त मिथक कल्पना के समृद्ध तत्वों का, भरतमुनि के नाट्य शास्त्र से नाटकीय व्यवस्था का, पाशुपात आगमों से सृष्टि रहस्य का, सांख्य योग से अन्तः केन्द्रित चित्र समाधि का सार लेकर उन्होंने अपना जीवन दर्शन रूपायित किया था"।¹

परन्तु कालिदास ने इस समस्त ग्रंथराशि का सार लेकर भी मौलिकता एवं क्रान्तिकारिता का परिचय दिया है। वे कभी भी लकीर के फकीर बनकर नहीं चले। पुरानी रेखाओं में भी नये रंग भरकर उन्होंने सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत किया है।

जैसा कि कहा जा चुका है कालिदास भारतीय संस्कृति के व्याख्याता थे। उनमें निष्काम कर्मयोग की भावना का तथा आत्मा की अनश्वरता का भाव बहुत दृढ़ था। मरणं प्रकृति शरीरिणाम् में गीता का जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु की मेघदूत के

शेषर्पुण्यैहृतातिव इत्यादि में क्षीणे-क्षीणे पुण्ये मृत्युलोके विशन्ति की धुन स्पष्ट सुनायी देती है।²

इसके अतिरिक्त उनमें आई हुई अक्षर, क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र आदि संज्ञाएं तथा समाधि में चित्र को लय करने वाला योगी वायुहीन स्थल में स्थित दीपक के समान रहता है।³

कालिदास राजनीति के भी अद्भूत पारखी थे। रघुवंश में अतिथि की दिनचर्या तथा राजनीति विषयक व्यवस्थाओं के निरूपण में कवि ने अपने राजनीतिक ज्ञान का अच्छा प्रदर्शन किया है।

शकुन्तला के चतुर्थ सर्ग का प्रसिद्ध पद्य "शुश्रुषस्व गुरुन् कुरु" काम सूत्र के श्वश्रुश्वसुरपरिचर्या तत्पारतन्त्रय मनुत्तरवादिता

भोगेश्वस्तुत्सेकः परिजने दाक्षिण्यम्।

का शब्दांश निबंधन प्रतीत होता है।⁴

कालिदास द्वारा कुमारसंभव में वर्णित प्रसंग "प्रवृत्तिरासीद शब्दानां चरितार्था चतुष्टयी" में महाभाष्कार द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिं" को उपस्थापित किया है। इसके अतिरिक्त रघु, अज, उमा आदि शब्दों की छः व्युत्पत्तियों में तथा "धातो स्थान इवादेशं सुग्रीवं सन्यवेशयत्"⁵, अपवाद इवोत्सर्ग व्यावर्तयितुमीश्वर⁶ इत्यादि की उपमाओं में कवि ने व्याकरण ज्ञान की सूक्ष्मता का परिचय दिया है। कालिदास का आगमों और तंत्रों पर भी पर्याप्त अधिकार था।

सौन्दर्य के तो कालिदास अनन्य उपासक ही थे। इस समस्त सृष्टि में सौन्दर्य का शायद ही कोई ऐसा रूप हो जो इस सौन्दर्य पारखी कवि की दृष्टि से बच सका हो। स्वर्ग और पृथ्वी का कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसके सौन्दर्य को कवि ने न देखा, न परखा हो। कवि के विषय में आचार्य हजारी द्विवेदी का कथन है कि "भारत वर्ष के ऋषियों, संतों, कलाकारों, राजपुरुषों एवं विचारकों ने जो कुछ उत्तम और महान दिया है, उसके सहस्त्रों वर्षों के इतिहास का जो कुछ सौन्दर्य है उसने मनुष्य को पशुसुलभ धरातल से ऊपर उठाकर देवत्व में प्रतिष्ठित करने की जितनी विधियों का संधान किया है, उन सबको ललित मोहन सशक्त करने का काम कालिदास ने किया है।"⁷

कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि इसलिए माने जाते हैं कि उनकी दृष्टि जीवन और जगत् की गहराई में अनायास प्रवेश करती है और ऐसे तत्त्वों का अनुसंधान करती है जो अलक्षित पूर्व होते हैं। प्रकृति के ऐश्वर्य से परिपुष्ट उनकी रूप कल्पना, हृदय को बलात् आकृष्ट करती है और आश्चर्यचकित होकर सहृदय

इस माधुर्य में डूब जाता है।

कालिदास के काव्य में प्रसाद की अगाधता माधुर्य का मधुर निवेश, पदों की कोमल कमनीयता, भावों का सौष्टव, अलंकारों की रमणीयता आदि ने इनको विश्व का सर्वश्रेष्ठ कवि बना दिया है। शेक्सपीयर की रूपमयी प्रतिभा, मिल्टन की प्रबंधमयी प्रतिभा और शैली की गीतिमयी प्रतिभा का एकत्र सम्मिलन कालिदास की कविता में दृष्टिगोचर होता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि “भारतीय धर्म दर्शन शिल्प और साधना में जो कुछ उदात्त है, जो कुछ ललित मोहन है, उनका प्रयत्नपूर्वक सजाया संवारा रूप कालिदास का काव्य है। वाल्मीकि और कविता के समान ही उनकी कविता भी शक्तिशाली और महनीय चरित्रों की सृष्टि करने में समर्थ हुई है। सुकुमारता के साथ सुशीलता का मानसिक मृदुता के साथ चारित्रिक दृढता का, अपार वैभव के साथ विपुल वैराग्य का, सौन्दर्य के साथ धर्म का ऐसा मणिकांचन योग संसार के साहित्य में विरल है।⁸

कलाकार किसी दृश्य से प्रभावित होता है तो अपनी संवेदनशीलता एवं कल्पना की प्रखरता के कारण उसके मन पर उसका एक चित्र सा खिंच जाता है। इसी मानस चित्र को अन्य सहृदय सामाजिकों तक पहुंचाने के लिए चित्रकार तूलिका एवं रंगों के प्रयोग से चित्रपट पर अंकित करता है। उसी प्रकार साहित्यकार शब्दों के द्वारा उस दृश्य के आकार, प्रकार, रूपरंग, मुद्राओं आदि का इस प्रकार संश्लिष्ट वर्णन करता है कि उसे पढ़कर या सुनकर सहृदयों के मन में उसका एक पूर्ण चित्र अंकित हो जाता है। यही चित्रात्मकता है। चित्रात्मकता का आश्रय लेकर सहृदयजन बिना किसी दृश्य को प्रत्यक्ष देखे भी कल्पना में उसका आनन्द ले सकते हैं। वस्तुतः कलाकार का काम पाठकों को मात्र अर्थ ग्रहण कराना न होकर चित्र से परिचय कराना है क्योंकि इसी से पाठक के भाव उत्तेजित होकर कलाकार की अनुभूति को समग्रतः ग्रहण करने की क्षमता प्रदान करते हैं।

जब कवि स्वयं भावान्दोलित होकर चित्रात्मकता का निर्माण करता है, तभी वह पाठकों के भावों को उद्बुद्ध करने की क्षमता पा सकता है। साहित्यकार अमूर्त भावों का मूर्तिकरण करता है। साहित्यकार शब्दों के सहारे किसी दृश्य का ऐसा सजीव वर्णन करता है कि उससे पाठक सरस हृदय में एक पूर्ण चित्र अंकित हो जाता है और यदि उसी की पृष्ठभूमि में उसी से मिलता जुलता कोई एक अप्रस्तुत चित्र रख दिया जाय तो प्रस्तुत का सौन्दर्य और भी द्विगुणित हो जाता है।

नन्दिनि संध्या के समय जंगल से लौट आयी है कवि उसका चित्र अंकित

करता है। उसका रंग नूतन पल्लव के समान आरक्त है और माथे पर सफेद बालों की तिरछी सी भौरी हैं उसके लाल रंग के माथे पर भूरे रंग की भौरी दिखायी दे रही है। जैसे सांध्य काल के लालिमामय आकाशरूपी, माथे पर दूज का नया चांद उग आया है :-

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्ध पाटला।

बिभ्रती श्वेतरोमांक सन्धयैव शशिनं नवम्।⁹

यहाँ दो चित्र मन में साथ-साथ उभरते हैं। एक नये कोपल के समान रंग वाली नन्दिनि, जिसके सफेद बालों की भौरी अंकित है। दूसरा पश्चिम की संध्या जिसमें आकाश की लालिमा छायी हुई है और नया भूरा चांद अभी-अभी निकला है। एक चित्र प्रस्तुत है और दूसरा अप्रस्तुत। दोनों की सहज सुंदरता के साथ मन जुड़ जाता है।

शकुंतला के अभुक्त यौवन सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि सहृदय को एक अपूर्व आनन्द लोक में पहुंचा देता है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै

स्नाविद्धं रत्नं मधु नवमना स्वादित रसम्।

अखण्डं पुण्यानां फलामिव च तद्रूपनघं

न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यतिरिति।¹⁰

अर्थात् शकुंतला उस पुष्प (प्रसून) की तरह है जो अभी तक नहीं सूँघा गया है, उस नयी कोपल के समान है जो नख स्पर्श द्वारा क्षत नहीं हुई, अनबिधे रत्न की भांति न चखे हुए नवीन मधु की भांति तथा संचित पुण्य कर्मों के फल की तरह है।

यहां शकुन्तला के सौन्दर्य को प्रत्यक्ष आत्मसात करने के लिए पांच अप्रस्तुत चित्र कवि ने जुटाये हैं— सद्य प्रस्फुटित गुलाब अभिनव पल्लव, अनास्वादित मधु, अनाबिद्ध रत्न और अखण्ड पुण्यों का फल। इनमें दो चित्र दृश्य हैं जो हमारी आंखों को तृप्त करते हैं, एक हमारी आस्वाद चेतना को प्रखर करता है और एक हमारी स्पर्श चेतना को झंकृत करता है तथा अन्तिम हमारी सास्कृतिक दृष्टि का साक्षी है। इस प्रकार कवि का कथ्य यह है कि शकुंतला के यौवनोच्छल में एक अपूर्व नयापन एवं ताजगी विद्यमान है। कवि के इस वैशिष्ट्य को एक आलोचक ने इसी श्लोक पर केन्द्रित रहकर उभारने का इस तरह उपक्रम किया है। अपनी अनुभूति को प्रकट करने के लिए उनकी दृष्टि बरबस समूचे अनुभव जगत में घूम गयी है और वहाँ से

उन छवियों को ढूँढ लायी है जो अपनी सद्योन्मिषित नूतनता से हृदय को वैसे ही प्रभावित करती है जैसे शकुन्तला का अस्पष्ट रूप यौवन। यह दृष्टि मुख्यतः जीवन्त वनस्पति जगत् में शकुन्तला का उपमान खोजती है और उसके बाद खनिज वर्ग तथा हिन्दू समाज के सांस्कृतिक वातावरण में पहुंचती है।¹¹

कवि के काव्य में गतिशील चित्रों की भी कमी नहीं है वियोग के कारण व्याथित यक्षप्रिया का चित्रण—

रूद्धापांगप्रसर श्री तुलामेष्यतीतिनि।¹²

यहाँ यक्षिणी के नेत्र स्फुरण का गतिशील चित्रण हुआ है। सरोवर में मछली का फडकना और उससे नीलकमल की पंखुरियों का हिलना नेत्रस्फुरण को मूर्तिमंत्र कर देता है।

यक्ष के वियोग में यक्षप्रिया का एक करुण चित्र —

नूनं तस्याः प्रबल कान्तेर्विभति।¹³

यहाँ भी कवि ने दो चित्रों को उपस्थित किया है एक बालों से घिरा होने के कारण थोड़ा सा दिखायी देने वाला यक्षप्रिया का मुख तथा दूसरा बदलों से घिरा हुआ फीका सा दिखायी देने वाला चांद। दोनों प्रस्तुत और अप्रस्तुतों का साम्य भी कितना कमनीय है।

एक सामान्य चित्र जो मन में अनेक प्रकार की भावना जगाता है —

यातिएकतोघस्त शिखरं इवात्मदशान्तरेषु।¹⁴

अपनी सामान्यता में भी असामान्य अर्थसं भावनाओं को समेटे हुए कालिदास का एक चित्र प्रस्तुत है :-

तद्गीत श्रवणैकामा संसदश्रुमुखी बभौ।

हिमनिब्यन्दिनी प्रातर्निवातेव वनस्थली।।¹⁵

वाल्मीकि प्रणीत रामायण को अयोध्या की सभा में लव और कुश ने गाकर सुनाया है। सीता निर्वासन पर्यन्त कथा को सुनकर राजसभा में लोगों की आखों से आंसू झरने लगे जैसे कि किसी वनस्थली पर सुबह हवा थम जाने पर मूक ओस की बूंदे गिरने लगे। एक हिन्दी के विद्वान ने इस श्लोक में छिपे अभिप्राय को स्पष्ट करने का प्रयास किया है —“इस उपमा की सतह के नीचे सबसे पहली बात दृष्टिगोचर होती है, ‘वनस्थली’ तथा ‘संसद’ अर्थात् राजसभा की संवादिता। जीवित मनुष्यों के समुदाय को स्थावर वृक्षों के झुरमुट का संवादी बना देना ऊपरी

सादृश्य के अलावा एक आंतरिक सादृश्य भी द्योतित करता है और वह यह कि काव्य पाठ के कारण ही यह सभा विजडित हुई है ऐसी बात नहीं है। यह सभा ऐसे व्यक्तियों की सभा है जो सचमुच सीता जैसी एकनिष्ठ सती के प्रति अनुरूप व्यवहार न करने के कारण जंगली वृक्ष की कोटि में ही आते हैं, जो केवल आखेट और शायद पशुओं की हिंसा के ही साक्षी होते रहते हैं। उपमा के और भीतरी स्तर में जाने पर दृष्टिगोचर होता है कि एकाग्रता की उपमा हवा के रुकने से दी गयी है। एकाग्रता में समस्त श्रवणेन्द्रिय भिन्न ऐन्द्रिय व्यापारों का श्रवण में विलयन सूचित होता है जैसे हवा के थमने से पेड़ की पत्तियों ओर शाखाओं का समस्त मर्मर पेड़ की निपट स्थिति में विलीन होना। यह स्थिति सूचित होती है। दोनों में एक प्रकार की निमग्नता और स्तम्भ की स्थिति सूचित होती है।

इस प्रकार विभिन्न चित्रों का सामान्य परिचय प्राप्त कर लेने पर यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि कालिदास अपनी कला के द्वारा महनीय चित्रों की सृष्टि करने में समर्थ है। चित्रों की पृष्ठभूमि तैयार करने में और उनके स्पष्टता के लिए वे समानधर्मी अप्रस्तुतों की सहायता से ही ऐसा करने में सफल हो पाते हैं। उनकी प्रतिभा पाठक की चेतना को निरंतर आलोडित करने में सफल रहती है। पाश्चात्य आलोचना के अंतर्गत बिम्ब की जो आज सर्वत्र चर्चा है उसकी कल्पना चित्रात्मकता पर ही आधारित है। कालिदास के काव्य में यह अनुपम कला विद्यमान है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कालिदास की लालित्य योजना पृ. 231
2. देवीदत्त शर्मा, कालिदास की कला और संस्कृति पृ. 131
3. कवि मिराशी कालिदास पृ. 80
4. कामसूत्र
5. रघुवंश 12 / 58

“वैदिक युग और दलित”

वैदिक युग में दलित को शूद्र के नाम से जाना जाता था। भारत में आर्यों के आने से पूर्व बहुत उच्च कोटि की सभ्यताएं विकसित हो चुकी थी, जिसके अवशेष 'मोहनजोदड़ों' और हड़प्पा की खुदाई से मिले हैं। इसे सिन्धुघाटी की सभ्यता नाम से जानते हैं। आर्य जब भारत आये तो यहाँ के मूल निवासियों के साथ उनका संघर्ष हुआ। डॉ. रामशरण शर्मा ने लिखा है कि— “घुमकड़ आर्यों और अनार्यों के बीच भयानक संघर्ष हुआ। आर्यों की आँखे दुश्मनों की सम्पत्ति पर लगी हुई थी। उन्हें हड़पने के लिए उनमें निरन्तर संघर्ष होते रहे हैं। दस्युओं के पास स्वर्ण, हीरा, जवाहरत भी थे, जिनके चलते आर्यों का मन चल गया दस्युओं के रहन सहन से भी आर्य उनके विरोधी हो गये।”¹ इससे पता चलता है कि आर्यों और अनार्यों के बीच सैंकड़ों वर्षों तक संघर्ष चलता रहा। वेदों में इसका उल्लेख देवासुर संग्राम के रूप में मिलता है। उत्तर वैदिक काल में जब वर्णव्यवस्था की रचाना हुई तो इन दस्यु और अनार्य अथवा द्रविड़ जातियों को आर्यों ने 'शूद्र' के अन्तर्गत डाल दिया। चूँकि ये लोग युद्धों में हार गये थे। अतः इनसे तरह तरह के अशोभनीय काम लिये गये। ये 'दस्यु' से 'दास' हुए फिर दस्यु का अर्थ लुटेरा हो गया। आर्यों ने इस व्यवस्था को भगवान प्रदत्त घोषित कर दिया ताकि भविष्य में भ्रूरी ये विद्रोह न कर सकें। ऋग्वेद का मंत्र, वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में इस प्रकार है—

“ ब्राह्मणोस्य मुखमासीद बाहू राजन्य कृतः।

ऊरू तदस्य यद् वैश्य पदम्यां शूद्रों अजायत।।”

ब्रह्म के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई है। भुजाओं से राज्य करने के लिए क्षत्रियों की जंघा से वैश्य तथ पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई है। वैदिक युग में शूद्रों की स्थिति वैसी थी, जैसी कि मनुस्मृति में वर्णित है। ' मनु ने लिखा भी है—

“यः कश्चित्कस्य चिद्धर्मोमनुना परिकीर्तितः।

समर्वोअभिहितोवेदे सर्वज्ञानमयो हिसः।।”

अर्थात् – “ जिस वर्ण के लिए जो मनु ने कहा, वह सम्पूर्ण वेद में कहा है क्योंकि वेद सब विधाओं का भण्डार है। अर्थात् सम्पूर्ण वेद को जानकर ही यह स्मृति बनाई हैं। वैदिक काल में शूद्रों की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए डॉ. आनन्द वास्कर ने लिखा है कि “ प्राचीन काल में शूद्रों की स्थिति नगण्य एवं उनका जीवन निरर्थक था। उस समय शूद्रों का कर्तव्य था कि वे दास्य भाव से ब्राह्मणों की सेवा, शुश्रूषा करते रहें। इस शुश्रूषा कार्य में बाधा ना हो, तभी शूद्र अन्य काम करके अपनी आजीविका प्राप्त कर सकते थे। प्राचीन धर्म ग्रन्थों में कर्म और विद्या का सम्बन्ध शूद्र के साथ हो ही नहीं सकता यही बताया गया है, क्योंकि धर्म ग्रन्थों के अनुसार इस विषय में शूद्र का अधिकार ही नहीं है।”³ हिन्दु धर्म मूलतः वर्ण व्यवस्था पर आधारित हैं प्रारम्भ में हिन्दु धर्म ने सम्पूर्ण समाज को उसके कार्यों के आधार पर चार वर्णों में बांट दिया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र। धीरे धीरे यह व्यवस्था जन्मजात होती गई। मनु ने लम्बे समय से चली आ रही व्यवस्था को कोड़बद्ध किया। मनुस्मृति के आधार पर ही शूद्रों की स्थिति का विवेचन किया जा रहा है। हिन्दु धर्म द्वारा प्रदान की गई असमानता, अन्याय अपमान और घृणा को इस धर्म के चौथे वर्ण ने ही वहन किया। हिन्दु धर्म में शूद्र की स्थिति क्या है? इस तथ्य की पड़ताल आवश्यक है मनुस्मृति, जो हिन्दु धर्म का संविधान है, में तरह तरह की मानसिक, आर्थिक एवं सामाजिक यातनाओं की व्यवस्था शूद्रों के लिए की गई है। मनुस्मृति के अनुसार “लोक की वृद्धि के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि क्रमशः ब्रह्मा के मुख, बाँह, ऊरु और पैर से हुई है।”

“ लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखबाहूरुपादतः।

ब्रह्मण क्षत्रिय वैश्यं शूद्रं च निखर्तयत्।”⁴

हिन्दु धर्म व्यवस्थाओं में देवता व सम्मान के लिए पुरुष के भी पैर ही स्पर्श किये जाते हैं, फिर ऐसा कैसे हो गया कि ब्रह्मा के पूज्य पैरों से उत्पन्न शूद्र अस्पृश्य हो गये। वैसे भी दुनिया के विकास का इतिहास गवाह है कि मनुष्य किसी भी वर्ण का हो चाहे दुनिया के किसी भी कोने में पैदा हुआ हो पुरुष उसके जन्म का उपकरण तो है लेकिन स्वयं उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। स्त्री के गर्भ से ही जन्म का एक रास्ता है वह भी अपने मुख, बाहु, ऊरु, पैर से शिशु को जन्म नहीं दे सकती है। इसलिए ‘अश्वघोष’ ने ‘वज्रसूची’ में एक प्रश्न किया है।। “ब्राह्मण का जन्म ब्रह्मा के मुख से हुआ है तो ब्राह्मणी का जन्म कहां से हुआ?”। इसका उत्तर भी वे स्वयं ही देते हैं” निश्चय की ब्राह्मणी का जन्म भी ब्रह्मा के मुख से ही हुआ होगा” और निष्कर्ष देते हैं कि “एक ही स्थान से उत्पन्न हुए ब्रह्मण और

ब्राह्मणी भाई बहन हुए तथा भाई का बहन से स्त्री प्रसंग दुनिया का सबसे घृणित कृत्य है।।⁵ तो ऐसे घृणित लोगों ने ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न जन समुदाय को इतना घृणित बना दिया कि जन्म के समय ही उसका नाम 'जुगुप्सित' (घृणित) शब्द से रखने व्यवस्था दी

“मंगल्य ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्।

वैश्यस्य धनसंयुक्त शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्।।⁶

अर्थात् ब्राह्मण का मंगल सूचक शब्द से युक्त क्षत्रिय का बलसूचक शब्द से युक्त, वैश्य का धन सूचक शब्द से युक्त तथा शूद्र का निन्दित शब्द से युक्त नामकरण करना चाहिए। इसके अगले ही श्लोक में लिखा है कि“ शूद्रस्य प्रेत्य संयुक्तम्”⁷ अर्थात् शूद्र का नामकरण घृणित शब्द के साथ 'दास' शब्द लगाकर करना चाहिए। इसी व्यवस्था के कारण आज भी दलितों के अच्छे नाम नहीं मिलते। एक ही बड़ी एक की नक्षत्र में जब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व व शूद्र के घर लड़के का जन्म होता है तो व नाम पूछने पंडित के पास जाते हैं माना 'ब' अक्षर से नाम निकलता है तो पंडित ब्राह्मण को अपने बेटे का नाम बुद्धिराज, क्षत्रिय को बलवीर, वैश्व को बांके बिहारी लाल' और शूद्र को बुद्धू रखने को कहता है आगे चलकर चारों बड़े होते हैं। बुद्धिराज मूर्ख साबित होता है और झूठे बरतन धोता है। बलवीर कायर साबित होता है और चपरासी की नौकरी करता है। वैश्य पुत्र टेला लगाकर नीबू पानी बेचना है तथा बुद्धू पढ़लिखकर अफसर बन जाता है। तो प्रश्न उठता है कि जो व्यवस्था पैदा होते ही ब्राह्मण के बच्चे को बुद्धिराज और शूद्र के बच्चे को बुद्धू बनाती रही है, वह व्यवस्था जो नाम में भी किसी शूद्र के बच्चे को समानता नहीं दे पाई, वह समाज में अर्थ में, सम्मान में, सत्ता और शासन में क्या समानता दे पायेगी। नामकरण के बाद बच्चा बड़ा होता है पाँच वर्ष के पश्चात् उसकी उम्र पाठशाला जाने की होती है तो मनुस्मृति में सभी वर्णों के कर्मों का निर्धारण करती हुई शूद्र को शिक्षा प्राप्ति के सामान्य और मानवीय अधिकारों से वंचित करती है इस सम्बन्ध में मनुस्मृति में निम्न श्लोक हैं—

“अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रह चैत, ब्राह्मणामकल्पयत्।।

प्रजानां रक्षणं दान मिज्याध्ययनमेवच।

विषयेठवप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।।

पशनां रक्षणं दानामिज्याध्ययमेव च।

वाणिक्यपथं कुसीदं च वैश्वस्य कृषिमेव च॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।

एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामन सूय या॥⁸

अर्थात् ब्राह्मणों के षट्कर्म पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना व लेना बताया गया है। प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ कराना, पढ़ना और विषयों में न फँसना ये संक्षेप में क्षत्रियों के कर्म हैं। पशुओं का पोषण, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना और खेती ये वैश्य के कर्म हैं प्रभू ने शूद्रों का केवल एक ही कर्म बताया है कि इन तीनों वर्णों की निन्दा रहित सेवा करना। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि शेष तीनों वर्णों के लिए मनुस्मृतिकार पढ़ने और ब्राह्मण के लिए पढ़ाने की व्यवस्था देता है। लेकिन शूद्र का कर्म केवल सेवा बताकर उसे शिक्षा, व्यापार, कृषि आदि मानवीय अधिकारों से वंचित करता है और इतना ही नहीं, प्रत्युत् वह शूद्र के कर्म को ब्राह्मण द्वारा नहीं प्रभू द्वारा निर्धारित बताता है क्योंकि भविष्य में पढ़ लिखकर शूद्र वर्ग इस अपराध के लिए उसे अपराधी न समझे और भविष्य में उसकी संततियों को दण्ड न दें।

यहीं नहीं मनु ने शूद्र के लिए यह भी बताया कि वह किसकी सेवा करें और उसकी दिनरात की गई हाड़तोड़ सेवा के बदले उसको मेहनताना क्या दिया जाए मनुस्मृति के दसवे अध्याय में देखिए, ‘मनु’ की व्यवस्था—

विप्रसेवैन शूद्रस्य विशिष्ट कर्म कीर्त्यते।

मदतोउन्याद्वि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम्॥

उच्छिष्ट मन्न्दातावयं जीर्णानिवसनाचि।

पुलाकाश्चैवधान्यानां जीर्णाश्रैव परिच्छदाः॥⁹

अर्थात् ‘ब्राह्मण’ की सेवा की शूद्र के अन्य कर्मों से श्रेष्ठ कहा है। इसके अतिरिक्त वह जो कुछ करता है वह निष्फल है। इस सेवा के बदले शूद्र को “भोजन से बचा हुआ झूठा अन्न, पुराने कपड़े, धानों की छटन’ थौथा अनाज’ तथा पुराना बरतन —भांडा देना चाहिए।” इसके अगले श्लोक में कहा गया है कि “सेवक शूद्र को कोई पातक नहीं है, न वह संस्कार योग्य है और न ही धर्म में उसे अधिकार है”¹⁰ मनु ने ब्राह्मणों को यह अधिकार दिया है कि हर हालत में व शूद्रों से सेवा ही करवाए—

“ शूद्रतुं कारयेद्दास्यं क्रीतम क्रीतमेव वा।

दास्यायेव हि सृष्टो सौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा॥¹¹

अर्थात् – “शूद्र से सेवा ही करावें, वह शूद्र खरीदा हुआ हो या न खरीदा हुआ हो, क्योंकि ब्राह्मण की सेवा के लिए ही ब्रह्मा ने इसे उत्पन्न किया है।” यदि इतनी कम मजदूरी पर कोई शूद्र काम करने से मना कर दे, तो मनु ने राजा को अधिकार दिया है कि वह शूद्र से जबरदस्ती सेवा कराए।

“ वाणिज्य कारयेद्वेश्य कुसादं कृषिमेव च।

पशूनां रक्षणं चैव दास्यंशूद्र द्विजन्मनाम्।।”¹²

अर्थात् “ वाणिज्य खेती और पशुओं की रक्षा वैश्यों से और शूद्रों से द्विजों की सेवा राजा करावे” मनु आगे स्पष्ट किया है इनमें बलात् इनके कर्म क्यों कराने चाहिए—

“ वैश्य शूद्रों प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्।

तो हि च्युतौ स्वं कर्मभ्यः क्षोभयेता मिदं जगत्।।”¹³

अर्थात् “वैश्व और शूद्रों से प्रयत्न पूर्वक राजा अपने—अपने कर्म करावें नहीं तो अपने—अपने कर्मों से अलग होकर ये जगत में क्षोभ करा देंगे। इस प्रकार मनु ने शूद्रों को हिन्दु धर्म और उसके संस्कारों से वंचित कर दिया और यदि कोई ब्राह्मण उनका संस्कार करता है तो उसके लिए भी दण्ड निर्धारित किया कि वह ब्राह्मण ‘असंवृत’ नामक नरक में गिरता है—

“ न शूद्रायमतिदंघान्नोच्छिष्टं नह विष्कृतम्।

न चास्योपदिशेद्वर्मन चास्यव्रतमा दिशेत्।।

योन्हस्य धर्ममाचष्टेय श्रैच्चादिशतिव्रतम्।

सोउसंवृतं नामतमः सहतैनैव मज्जाति।।”¹⁴

अर्थात् – “शूद्र को बुद्धि उच्छिष्ट और हविष्कृत अर्थात् होमशेष का भाग न दें और उसको धर्मोपदेश न करें और व्रत भी न बतावें। जो ब्राह्मण इस शूद्र को धर्मोपदेश और प्रायश्चित्त का उपदेश करे, वह उस शूद्र के साथ ‘असंवृत’ नामक बड़े अंधकार वाले नरक में गिरता है” इस अध्याय में शूद्र के साथ बैठने तक का निषेध किया गया है¹⁵ तथा शूद्रों के राज्य में निवास न करने का भी निषेध किया गया है।¹⁶ शिक्षा संस्कार से वंचित और सेवा के बदले चौथा अनाज, फटा वस्त्र प्राप्त करता हुआ भी यदि कोई शूद्र कुछ धन एकत्र कर लेता है, तो मनुस्मृतिकार ब्राह्मण को सलाह देता है कि उस शूद्र से उसका धन चालाकी से छीन ले क्योंकि धन प्राप्त कर वह किसी ब्राह्मण की गुलामी नहीं करेगा।

“विस्त्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद द्रव्योपादानमाचरेत्।

न हि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्याधनोहिसः।।”¹⁷

“शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः।

शूद्रोहि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते।।”¹⁸

अर्थात् – “भरोसे से ब्राह्मण शूद्र का धन ग्रहण कर ले, क्योंकि उसका कुछ भी नहीं है, किन्तु उसका धन भृतग्राह्य (स्वामी का) है।” ऐसा ब्राह्मण को क्यों करना चाहिए क्योंकि वह धन प्राप्त करके ब्राह्मण आदि को बाधा देता है। ब्राह्मण की चालाकी का शिकार होने से बचकर यदि वह कुछ धन एकत्र कर लेता है तो ‘मनु’ राजा को आज्ञा देता है कि वह शूद्र का धन छीनकर उसे अपने राज्य से निकाल दें।

“ यो लोभाद्धमोजात्या जीवेदुत्कृष्ट कर्ममि।

तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासेत्।।”¹⁹

अर्थात् : “जो निकृष्ट जाति (शूद्र) से उत्पन्न हुआ, लोभ से उत्कृष्ट जाति की वृत्ति के, उसको राजा निर्धन करके अपने देश से निकाल दे।” शूद्र की हत्या से कुत्ते, बिल्ली, गधा, उल्लू, नेवला, कौआ, चिड़िया, मेढ़क की हत्या जितना पाप लगता है।

मनुस्मृति के अनुसार—

“ मर्जारन कुलों हत्वा चाषं मण्डकमेव च।

बगोलूककाकांश्रव शूद्र हत्याव्रतं चरेत्।।”²⁰

इसका तात्पर्य यह है कि हिन्दु धर्म में शूद्र की स्थिति पशु से भी बदतर थी, क्योंकि यहां गाय (पशु) और पत्थर तो पूज्य है, लेकिन शूद्र (व्यक्ति) सम्मान का पात्र भी नहीं है। ‘परासर स्मृति’ इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करती है। उसके अनुसार – “ब्राह्मण दुश्चरित्र हो तब भी पूज्य है और शूद्र जितेन्द्रिय होने पर भी पूज्य नहीं क्योंकि कौन ऐसा मूर्ख है जो दुष्ट गाय को छोड़कर सुशीला गधी का दुहेगा।”²¹ सम्भवतः मध्यकालीन सन्त कवि तुलसीदास ने अपने ‘रामचरितमानस’ में इसी काव्यानुवाद किया है—

“ पूजिए विप्र ज्ञान गुण होना।

शूद्र न गुणगण ज्ञान प्रवीना।।”²²

इससे स्पष्ट होता है कि हिन्दु धर्म के नियन्ताओं ने शूद्र को इस हालत तक पहुंचा दिया कि वह किसी सवर्ण के साथ बैठने तक की बात सोच भी न सके यदि वह ऐसी इच्छा करता है तो मनु का अमानुषिक विधान कहता है—

“ सहासनम भिप्रेप्सु रूत्कष्टस्याप कृष्टजः।

कट्याकृतांगो निर्वास्यः स्फिचं वाअस्थाव कर्तयेत्।।”²³

अर्थात् उच्च के साथ बैठने की इच्छा करने वाले नीच की कटि (कमर) को दाग कर निकाल दे था उसके चूतड़ को कटवा दें।” इतनी मानसिक, शारीरिक, सामाजिक और आर्थिक यातनाओं को सहकर भी यदि कोई शूद्र हिन्दु धर्म के किसी नियामक को कुछ अपशब्द कहता या प्रविकार करता हुआ उस पर प्रहार कर दें तो उसके लिए मनुस्मृति अमानवीय और भयानक दण्डों का विधान करती है—

“ एक जातिद्विजातीस्तु वाचा दारुणयाक्षिपन्।

जिह्वाया : मानुयाच्छेद जघन्यप्रभावोहि सः।।

नाम जाति ग्रहत्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः।

निक्षेप्योमयः शंकुजर्वलन्नास्येदशांगुलः।।”²⁴

अर्थात्: “यदि शूद्र द्विजातियों को गाली दे, तो जीभ के छेदन का दण्डप्राप्त हो, क्योंकि वह निकृष्ट से उत्पन्न है। जो शूद्र द्विजातियों के नाम और जाति का उच्चारण करें ‘उसके मुंह’ में जलती हुई दस अंगुल की छड़ ठोकनी चाहिए।” इस सबसे उपरान्त भी यदि वह श्रोत परम्परा से कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो किसी अशिक्षित ब्राह्मण द्वारा दिये जा रहे गलत उपदेश को सुधारने का निवेदन कर बैठता है, तो मनुस्मृति उसके मुंह और कानों में उबला हुआ तेल डालने की व्यवस्था देती है—

“धर्मोपदेशदर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः।

तत्मासेचयेतैल वत्क्रेश्रोत्रेपार्थिवः।।”²⁵

अर्थात्: “ जो शूद्र अंहकार से ब्राह्मणों को उपदेश करें, उसके मुख, कान में राजा गर्म तेल डलवा दें। प्रहार करने पर मनु का दण्ड देखिए—

“येनकेन चिंदगेन हिंस्याच्चेच्छेष्टमन्तयजः।

देत्तव्यंततदेवास्य तन्मनोरनुशासनम्।।”²⁶

अर्थात्: “शूद्र लोग जिस किसी अंग से द्विजातियों को मारें, उसका वही अंग कटवाना चाहिए। यह मँरा (मनु) का अनुशासन है।”

मनुष्य प्रकृति से सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते हुए सभी पुरुषों के बीच परस्पर प्रेम संबंध यौन संबंध का होना स्वभाविक प्रक्रिया है। यह सम्बंध जाति और वर्ण देखकर तो विकसित नहीं है लेकिन विकसित होने पर शूद्र के लिए जो दण्ड निर्धारित किये गये हैं, वे अमानवीय और पक्षपात पूर्ण हैं। ब्राह्मण के लिए यह

व्यवस्था है कि वह अपने से हीन ‘तीन वर्णों’ की स्त्री से विवाह कर सकता है, लेकिन उसकी सम्पत्ति में से किस वर्ण की स्त्री से उत्पन्न पुत्र को कितना हिस्सा मिलेगा, यह व्यवस्था पक्षपात का सर्वोत्तम उदाहरण है—

“ चतुरोशा –हरे द्विपस्त्री नंशान्क्षत्रिया सुतः।

वैश्या पुत्री हरेद्वयंशमंशशूद्रा सुतो हरेत्।।”²⁷

अर्थात: “ दस भागों में से चार अंश ब्राह्मणी का पुत्र और क्षत्रिय का पुत्र तीन अंश तथा वैश्य का पुत्र दो अंश और शूद्रा का पुत्र एक अंश ले। “लेकिन आगे मनु शूद्रा पुत्र को एकअंश से भी वंचित कर देता है—

“ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्रा पुणो नरिक्थसाक्।

यदेवास्य पिता दघान्त देवास्य धनंभवेत्।।”²⁸

अर्थात: “ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों का शूद्रा से उत्पन्न पुत्र धन का भागी नहीं किन्तु जो कुछ उसका पिता उसे दे दे, वही उसका धन है।” अब आप देखिए कि ब्राह्मण किसी शूद्र स्त्री का यौन शोषण तो कर सकता है लेकिन इसके लिए उसे किसी प्रकार की सजा नहीं दी जा सकती। उसके लिए मनु ने निम्न व्यवस्था दी है—

“अब्राह्मणा संग्रहणे प्रजान्तं दण्डं मर्हति।

चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यत्माः सदा।।”²⁹

अर्थात—“ब्राह्मण को छोड़कर अन्य जो कोई परस्त्री से यौन सम्पर्क रखे, वह प्राणान्त दण्ड योग्य है, क्योंकि चारों वर्णों की स्त्रियां सर्वदा रक्षा करने योग्य है आगे 8/365 वे श्लोक में उत्तम वर्ण के पुरुष से समागम करने वाली स्त्री को दण्ड मुक्त कर दिया गया है, लेकिन यदि कोई ब्राह्मणी किसी शूद्र के साथ यौन संबंध रखती है तो शूद्र के लिए मनु का दण्ड विधान देखिए—

“शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्।

अगुप्तम अंतं सर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते।।”³⁰

अर्थात: “रक्षिता या अरक्षिता द्विज जाति ब्राह्मण वर्ण की स्त्री के साथ यदि शूद्र गमन करे, तो अरक्षिता में अंग छेदन (लिंग काट देना) तथा सर्वस्व हरण करें और रक्षिता के संबंध में सब (शरीर तथा धनादि) से हीन कर दें।” आगे 8/377 वे श्लोक में इस दण्ड को और अधिक स्पष्ट किया है कि “शूद्र को चटाई में लपेटकर जला दिया जाए।” जबकि दुनिया का कोई न्यायशास्त्र ऐसा नहीं, जो एक ही अपराध के लिए दो व्यक्तियों को अलग-अलग सजा दे। न्याय विधान में तो किसी अपराध कर्म की सजा अपराध की प्रकृति तथा अपराधी की मंशा के अनुसार होती है। जातिया

वर्ण के अनुसार कभी दण्ड दिये जाने का विधान नहीं बनाया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शूद्रों की दशा दयनीय थी उसे किसी भी प्रकार का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था वे सिर्फ दमन के कुचक्र में पिसते जा रहे थे जहाँ उनकी करुण पुकार सुनने वाला कोई नहीं था भगवान का नाम देकर उन्हें आजीवन दास बना दिया गया। जैसे यह दासता गुलामी स्वयं भगवान ने उन्हें प्रदान की है। उन्हें अधिकार था कि तो सिर्फ सेवा करने का फिर यह सेवा उन्हें अपनी मर्जी से करनी पड़े या जोर देकर करवाई जाये। उनका स्वयं का कोई वजूद नहीं था। उन्हें न धन संग्रह का अधिकार था न अपनी मर्जी से जीने का। पढ़ने का उनको हक ही नहीं था। ना ही वत्र करने का न धर्मोपदेश सुनने का। शूद्र की हत्या पर पाप भी लगता है तो कुत्ते, बिल्ली, मेढक की हत्या के जितना। जैसे शूद्र मनुष्य न होकर जानवरों से भी गया गुजरा है। हिन्दु धर्म के नियन्ताओं ने उसे इस हालत तक पहुंचा दिया कि वह किसी सवर्ण हिन्दु के साथ बैठने की सोच भी न सके। और गलती से बैठ जाये तो उसके शरीर को दाग दिया जाये और अंग काट दिये जाये। जैसे वह मनुष्य न होकर एक पुतला हो जिसे जैसे चाहे वैसे जला दिया जाये कैसा कुत्सित व अमानवीय कृत्य है लिंग कटवा देना, अंग भंग करवा देना, कान में गर्म तेल डलवा देना ये सब दण्ड है है तो सिर्फ शूद्र के लिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्व को कोई दण्ड नहीं और शूद्र जीने की कल्पना भी करे तो उसे अमानवीय यातनाएं दी जाये। कैसी व्यवस्था थी यह जिसने मानवता को भी शर्मसार कर दिया। आज ऐसा वर्णन सुनकर भी कलेजा फटता है जबकि शूद्रों ने यह सब सहा है यह मानवीय क्रूरता का चरम बिन्दु है शूद्रों की स्थिति पशुओं से भी बदतर थी। कन्हैया लाल मिश्र प्रभाकर ने लिखा है कि “सामाजिक परिस्थितियों ने मूल्यों को ओझल कर दिया था। मानव समाज को छोटी मोटी जातियों में बांट दिया। मानवों के एक बड़े समूह को उन अधिकारों से वंचित कर दिया जो पशुओं को भी प्राप्त है।”³¹ लगता है कि हिन्दु धर्म में शूद्र की उक्त स्थिति किसी क्रूरतम साजिश का परिणाम थी जो आज भी किसी न किसी रूप में भारतीय समाज में विद्यमान चली आ रही है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. शूद्रों का प्राचीन इतिहास: डॉ. रामशरण शर्मा, पृष्ठ 17
2. मनुस्मृति, 2/7
3. हिन्दी साहित्य में दलित चेतना: डॉ. आनन्द वास्कर पृष्ठ 20-21
4. मनुस्मृति, 1/31
5. वज्रसूची: आचार्य अश्वघोष, अनु.-मन्ते ग. प्रज्ञानन्द, पृष्ठ 26

6. मनुस्मृति: 2/31
7. मनुस्मृति: 2/32
8. मनुस्मृति: 1/88, 1/89, 1/90, 1/91
9. मनुस्मृति: 10/123, 10/125
10. मनुस्मृति: 10/126
11. मनुस्मृति: 8/413
12. मनुस्मृति: 8/410
13. मनुस्मृति: 8/418
14. मनुस्मृति: 4/80, 4/81
15. मनुस्मृति: 4/79
16. मनुस्मृति: 4/61
17. मनुस्मृति: 8/417
18. मनुस्मृति: 10/129
19. मनुस्मृति: 10/96
20. मनुस्मृति: 11/131
21. परासर स्मृति: 8/33
22. रामचरित मानस, तुलसीदास:
23. मनुस्मृति: 8/218
24. मनुस्मृति: 8/270, 8/271
25. मनुस्मृति: 8/272

सविता शर्मा
शोधार्थी, पैसेफिक यूनिवर्सिटी
उदयपुर

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

जन—जन की कला — मांडणा

लोक कला सामान्यजन की कला है जो कि हमारे भारतीय संस्कृति की रीढ़ की हड्डी के समान है। इस कला को मुख्यतः ग्रामीण जनता से जोड़ा जाता है। लोक कला जनसाधारण की अभिव्यक्ति है। जनसाधारण की इस कला में कृत्रिमता का कोई स्थान नहीं है। जिसमें मौलिकता होती है। यह तो हृदय से निकलती है। जिसका सृजन समतल सतह (आंगन) दीवारों, कागज या स्थानीय सामग्री से बनी वस्तुओं आदि पर गेरु खड़िया, रंगों व कोयले आदि से किया जाता है। यह कला नामहीन होती है। इस पर किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं होता है इसमें ललित कला के समान कोई भावना नहीं होती है। इसमें दैनिक उपयोग की वस्तुओं को सुंदर ढंग से कला का रूप प्रदान किया जाता है। यह कला सार रूप लिये होती है। यह कला बिना किसी आश्रय एवं शिक्षा के पीढ़ी दर पीढ़ी निरन्तर आगे बढ़ती रहती है। लोक कला में सार्वभौमिकता होती है। इसके सूक्ष्म रूप प्रायः सारे विश्व की कला में मिलते हैं।

हिन्दू संस्कृति के अनुसार मांडणों को त्यौहारों व शुभ अवसरों पर धरती पर उकेरा जाता है। यह अपने आप में अद्भुत कला है। इस कला में सबसे अधिक प्रचलित नाम राजस्थान का है। रंगीला राजस्थान, श्रृंगार और वीरता से सज्जित कथाओं में डूबा हुआ। यहां पर कहीं पर बेलवाड़ा और रणकपुर की कलात्मक झांकियां हैं और कहीं जौहर की प्रज्वलित बातियां हैं। यहां की संस्कृति और शक्ति से आलौकिक होती हुई युगों से मीरां के गीतों को चन्दबरदाई के रासों को और बिहारी जी संत सर्ई को कण्ठ—कण्ठ में उतारती आ रही है।

हमारी लगभग सभी लोक कलाएं महिलाओं द्वारा पोषित और संरक्षित रही हैं। ये लोककलाएं उनके सौन्दर्य बोध, सुरुचि, सम्पन्नता एवं कलात्मक अभिरुचि की एवं परम्पराओं, रीति—रिवाजों में निष्ठा की प्रतीक है। इसी निष्ठा से ये लोक कलाएं

पीढी दर पीढी हस्तांतरित होती रही। इसमें से एक है - मांडणा।

राजस्थान में ही नहीं वरन् मांडणे की कला पूरे देश में ही प्रचलित है, परंतु राजस्थान में कोई भी पर्व व शुभ कार्य घर के आंगन में व दीवारों पर व चौखटों पर खड़िया व सफेद चोक से फूल-पत्तियों को उकेरा जाता है। अल्पाना के चित्राकर्षक बेल-बूटें तो कहीं गोल, तिकोने अष्टाचक्र और चौखूटे नमूने मन मोह लेते हैं

मांडणा चित्रण मीणा जन जाति की महिलाओं द्वारा बनाई जाने वाली दीवार और फर्श चित्रकला का एक प्रकार है। मीणा जन जाति राजस्थान व मध्यप्रदेश के कुछ हिस्सों में रहने वाला एक पुराना समुदाय है। परम्परा अनुसार यह कला मां से बेटी को पारित की जाती है। मांगलिक भित्ति चित्रकारी मांडणा को घर-बार की रक्षा करने अपने घर में देवी-देवताओं का स्वागत करने के उद्देश्य से बनाया जाता है। राजस्थान के सवाई माधवपुर क्षेत्र में, गांवों की महिलाओं ने बिल्कुल सही अनुपात एवं शुद्धता से डिजाईन बनाने की स्वाभाविक क्षमता है।

मांडणा संज्ञा डिजाईन या परिकल्पना को व्यक्त करती है। मांडणा क्रिया का अर्थ है। चित्रित करना अथवा बनाना। मांडणे आड़ी तिरछी रेखाएं मात्र नहीं है। इनका अपना एक निश्चित रूप होता है और यह रूप मिला है उन्हें स्थान विशेष की परम्पराओं, रीति-रिवाजों और रहन-सहन से। ये अवसर विशेष की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। मांडणे किसी न किसी रूप व नाम से पूरे भारत वर्ष के जनमानस में व्याप्त हैं। ये अलंकरण राजस्थान में मांडणा, गुजरात में सातिया, महाराष्ट्र में रंगोली, बंगाल में अल्पना, उत्तर प्रदेश में चौक पूरना या सोन, अलमोड़ा एवं गढवाल में आपना, भोजपुरी अंचल में थापा, तेलगु में भोगु, केरल में अलापु, तमिल में कोलम, बिहार में अध्पन कहते हैं।

राजस्थान में ग्रामीणों की ऐसी मान्यता है कि आंगन को लीपने के पश्चात् उसे सूना या खाली नहीं छोड़ते। मांडणे स्त्रियों को कलात्मकता को तो व्यक्त करते ही हैं। अपितु हमारे संस्कारों व हमारी संस्कृति को भी दर्शाते हैं।

ग्रामीण महिलाएं मांडणे, मांडने से पूर्व घर के आंगन व दीवारों को पीली मिट्टी में गोबर मिलाकर गारा तैयार कर पहले सारा घर लीपती है। सूखने पर खड़िया, गेरु, रामरज या हिरमिच के रंगों को अलग-अलग कटोरियों में घोल बनाती हैं, फिर कपड़े के छोटे-छोटे टुकड़ों या रुई को हाथ की छोटी अंगुली की मदद से हल्का दबाते हुए चित्रांकन करती हैं। कपड़े या रुई के होने के कारण खड़िया या गेरु का प्रभाव अंगुली पर अंगुली के साथ रंग के प्रवाह से रंग की रेखाएं खींचती चली जाती है और मांडणे मंडते चले जाते हैं।

कुछ ग्रामीण महिलाएं खजूर की डण्डी या मूज की कूची बनाकर अथवा डण्डी में रूई या कपड़ा लपेटकर भी आवश्यकतानुसार अंकन करती हैं।

मांडणे में फूल, हरडे, चौक, डमरू, हीड, पान, लड्डू आदि की बेले, जुआ, झंवरा व चीरण भरती में भरकर मूल आकारों को वृहद व अलंकृत रूप दे दिया जाता है। जिससे मांडणे का रूप बदलता रहता है।

मांडणा चित्रण बनाने के लिए राजस्थानी महिलाएं फर्श पर कुछ बिंदुओं के निशान बनाती हैं। जिन्हें "तपकिस" कहा जाता है। फिर इन तपकिस को रेखाओं से जोड़कर एक रेखाचित्र बनाया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक मांडणे की चित्रकारी के साथ एक रेखाचित्र का संबंध है जो उसके चित्रण में अत्यंत सहायक हैं

शहरों में त्यौहारों और पर्वों को नृत्य व संगीत से मनाते हैं, परंतु गांवों का उल्लास वहाँ बने माइको मांडणे है। जिसकी कला तो देखते ही बनती है।

मांडणों से उकड़े गए चबूतरों की पंक्तियां पतली नाजुक उंगलियों से उकड़े गए आश्चर्यजनक मांडणे एवं विभिन्न चित्र, आकृतियां दृष्टि को खींच-पकड़कर कर रखने वाली लोक कला शैली है।

प्रत्येक भिन्न-भिन्न अवसरों पर उनके प्रतीक के रूप में मांडणे बनाए जाते हैं। दीपावली हो या करवा चौथ, तीज, आठे, देवठान, नाग पंचमी, अन्न प्राशन, कर्ण छिदे, गृह प्रवेश, बच्चे के जन्म, लग्न मण्डप, नई बहू के घर में आगमन, फसलों के विशेष पर्व आदि में कहीं लक्ष्मी, गणेश के चित्र तो कहीं सातिए, शंख चक्र, मंगल कलश, गृह नक्षत्र, चांद-सूरज आदि के मनोरंजक चित्र या कथाओं के प्रतीक चित्र मिलेंगे।

हाड़ौती अंचल, कोटा बूंदी, झालावाड़ एवं बारां जिलों में मांडण कला एक परम्परा के रूप में विकसित हुई है। यहां कच्चे मकानों की लिपाई-पुताई करने के पश्चात् अग्रगन, चौक आल्यो, देतो, परांडो, गोखड़ों तथा भीतों पर मांडणे मांडे जाते हैं। चौक में गोल वृत्त व मकान के गोखड़ों, आल्यों, ताको व मेडियों पर छोटे-छोटे मांडणें मांडे जाते हैं।

जयपुर के आस-पास के गांवों से लेकर चाकसू, निवाई, वनस्थली, टोंक और जैसे पल्लई, झिलाय, पूराडिया, मूंडिया, सवाई माधोपुर के गांवा में मंडे हुए मांडणों की भरमार दिखाई देती है यूं तो प्रत्येक उत्सव पर मांडणें बनाए जाते हैं किंतु दीपावली पर इन गांवों में बहुत ही शानदार रौनक होती है।

दीवार पर भी कुछ इस प्रकार के मांडणे नजर आएंगे। प्रकृति पशु-पक्षियों को

अपनी कल्पना द्वारा असंख्या रूपकारों में चित्रित कर देती है। जिनमे प्रमुख रूप से मोर, मोरडी, सांप, चिड़ी, बिलाव, हिरन, तोते, हाथी, घोड़ा, लंगूर, लुगाईयां, छुक-छुक गाड़ी, कलश, चौपड़, गमला, मोटर गाड़ी, गूजरी, परिहारिन, चीलगाड़ी, चंवर, ढुलाती स्त्रियां, तितली आदि होते हैं।

इस प्रकार अन्ततः हम कह सकते हैं कि जन्म से लेकर मरण तक साथ देने वाली यह लोक कला समाज और धर्म के संरक्षण से लोक मानस को अनुरंजन और कलाबंद देने वाली एक अनुपम माध्यम बनी। आज ये विविध मांडणे स्त्री जाति की लोक कला का परिचय देते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. रेखा भटनागर, आकृति, जयपुर, 1996
2. डॉ. प्रेमचन्द गोस्वामी, भारतीय कला के विविध स्वरूप, जयपुर, 1997
3. सावित्री परमार, लोक संस्कृति के शिखर, जयपुर, 1997
4. गुलाब कोठारी, राजस्थान की ग्रामीण कलायें एवं कलाकार, जवाहर कला केन्द्र, जयपुर, 1997
5. रामनिवास वर्मा, राजस्थानी मांडणा, जयपुर, (रा.ल.क.आ.), 1961

तः सिकेलेवे; ijd vFk oLFk

भगवान महावीर ने गृहस्थाचार के रूप में श्रावक के लिए बारह व्रतों की व्यवस्था की है। इनमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा-व्रत हैं। उपासकदशांग के अनुसार गुणव्रत और शिक्षाव्रत अलग-अलग नहीं होकर सात शिक्षाव्रत कहते हुए गुणव्रतों का उनमें समावेश कर लिया गया है। इस प्रकार 12 व्रतों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दिशा परिणाम व्रत उपभोग-परिभोग परिणाम व्रत अनर्थदण्ड परिणाम सामाजिक देशावकाशिक पोषधोपवास अतिथि संविभाग का आचरण समाज व देश के लिए एक योग्य नागरिक का निर्माण करना है। अर्थशास्त्रीय दृष्टि से वह नागरिक सीमित संसाधनों का उपयोग करने वाला होता है। 'न्यूनतम लेना, अधिकतम देना और श्रेष्ठतम जीना' उसके जीवन का सूत्र होता है।

इस प्रकार गृहस्थाचार (अणुव्रतों) के माध्यम से आगम-ग्रन्थों में उत्तम नागरिक संहिता बताई गई है, जो व्यक्ति व समाज तथा राष्ट्र व विष्व को सुखी व समृद्ध बनाती है। व्यावसायिक नीतिषास्त्र के लिए अणुव्रत प्रेरक दस्तावेज है।

'दानं सम्यग् विभाजनं' - संसाधनों का समुचित विभाजन दान है। गृहस्थ के बारहवें व्रत में उसे साधनों और संसाधनों के संविभाग की सलाह दी गई है। आगम ग्रन्थों में दान की अपेक्षा संविभाग शब्द को समाजशास्त्रीय दृष्टि से अधिक उपयुक्त माना जाता है। ग्रन्थों में एक और शब्द है - प्रतिलाभ। व्यक्ति तत्कालीन समय और समाज से प्रत्यक्ष तौर पर लाभान्वित होता है। उसमें यह भाव होना चाहिये कि वह भी दूसरों के लिए लाभकारी बनें। सद्गृहस्थ यह कामना करता है कि उसे अपने संविभाग से प्रतिलाभ मिलें। दान अथवा संविभाग से हानि नहीं, अपितु प्रतिलाभ होता है। नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह अपने साधनों का परार्थ और परमार्थ के लिए संविभाग करें और प्रतिलाभ प्राप्त करें।

जिस आचार-विचार से सामाजिकता और राष्ट्रीयता जुड़ी होती है, उसी आचार-विचार से आर्थिक-प्रगति जुड़ी होती है। ठाणांग में उदृत ग्राम, नगर, राष्ट्र, पाखण्ड, कुल, गण, संघ, श्रुत, चरित्र, अस्तिकाय आदि दस धर्मों के अन्तर्गत धर्म शब्द

जैनागमों में मूल्यपरक अर्थव्यवस्था

कर्त्तव्य का बोधक है। हर व्यक्ति समाज का सदस्य और देश का नागरिक होता है। उसे अपनी क्षमता, सामर्थ्य, योग्यता, जवाबदेही, समय आदि को ध्यान में रखते हुए अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिये। आचार्य महाप्रज्ञजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि— आर्थिक विकास करने में कोई धर्म बाधा नहीं डालता। आधुनिक अर्थशास्त्र के बहुत से विद्वानों ने कहा— हमारे धर्म कहते हैं, अंकुश लगाओ, यह मत करो, वह मत करो। ये निर्देश अनुपयोगी हैं, विकास में बाधक हैं। वस्तुतः हम प्रियता के कोण से सोचते हैं, तभी ये बाधक लगते हैं। हित के कोण से सोचें तो पाएंगे— ये बाधक नहीं, साधक हैं। प्रियता और हित दोनों दृष्टियों से सोचें तो अर्थशास्त्र मनुष्य के लिए बहुत लाभकारी हो सकता है। केवल प्रियता की दृष्टि से विचार करेंगे तो पाएँगे— आज के अर्थशास्त्र ने मनुष्य—समाज में बहुत विकृतियां पैदा की हैं, उसे क्रूर बनाया है। शोषण के रास्ते पर अग्रसर किया है। किन्तु जैनागमों में इन विकृतियों से बचाव के मार्ग व्याप्त हैं। जिनका संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया गया है। मूल्य परक अर्थ व्यवस्था को बनाये रखने के लिये विकास की आवश्यकता है।

औद्योगिक विकास की भी यही स्थिति है। तर्क तो यह दिया जाता है— औद्योगिक विकास जितना होगा, विकास के उतने ही अवसर बढ़ेंगे, रोजगार बढ़ेगा। करुणा की बात उसके बाद आती है। जहां स्वार्थ प्रबल होता है, वहां करुणा प्रबल नहीं हो सकती। महावीर का यह निश्चित सिद्धान्त है— स्वार्थ जितना बढ़ेगा, क्रूरता भी उतनी ही बढ़ेगी। स्वार्थ जितना सीमित होगा, करुणा का उतना ही विस्तार होगा। स्वार्थ भी शिखर पर और करुणा भी शिखर पर, यह स्थिति कभी सम्भव नहीं है। अर्थात् स्वयं के स्वार्थ की पराकाष्ठा बढ़ने पर परिवार को, समाज को सभी को क्षति होती है। आज के भौतिकवादी कम्प्यूटर युग में मनुष्य को मौन धारण कर हिमालय की किसी गुफा में शरण ले लेनी चाहिए। मनुष्य ने बहुत श्रम किया है, अब उसके लिए विश्राम का क्षण आ गया है। आचार्य ने बहुत सुन्दर कहा — सर्वारंभा तन्दुलप्रस्थमूला— मनुष्य की सारी प्रवृत्ति एक सेर चावल के लिए है। अगर सेर भर चावल की जरूरत न हो तो फिर प्रवृत्ति की भी कोई अपेक्ष न रहे। किन्तु इस औद्योगिक विकास ने अर्थ को मनुष्य पर इतना हावी कर दिया है कि उसके आगे वह गौण हो गया है।

महावीर ने मनुष्य का अध्ययन किया, मनुष्य की वृत्तियों का अध्ययन किया। उन्होंने बतलाया— मनुष्य अलग—अलग प्रकृति का होता है, सबको एक ही तराजू से मत तोलो। उन्होंने तीन वर्गों में मनुष्य को विभाजित किया— महेच्छ, अल्पेच्छ और इच्छाजयी।

पहली कोटि के मनुष्य वे हैं, जो महा इच्छा महारंभ वाले हैं। दूसरी कोटि के

मनुष्य वे हैं, जो अल्पेच्छा, अल्पारंभ है। तीसरी कोटि के मनुष्य वे हैं, जो इच्छाजयी अनारंभ हैं। इस प्रकार उच्च वृत्ति वाले व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुसार सदैव अच्छे कार्य करते हैं।

डॉ. मार्शल आदि कुछ उत्तरवर्ती अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया है कि परिणामतः नैतिकता आनी चाहिए, किन्तु नैतिकता इसमें अनिवार्य नहीं है। केनिज ने कहा—‘जब हम आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो जाएंगे तब नैतिकता पर विचार करने का अवसर आएगा। अभी उसके लिए उचित समय नहीं हैं। अभी जो गलत है, वह भी हमारे लिए उपयोगी है।’ अर्थशास्त्र उपयोगिता के आधार पर चलता है, इसलिए उसमें गलत कुछ भी नहीं है। जो उपयोगी है, वह सही है, वह हमारे लिए वांछनीय है। प्रश्न यह है कि— महावीर का दृष्टिकोण क्या रहा? महावीर से पहले गांधी के दृष्टिकोण की चर्चा करें। महात्मा गांधी ने साम्यवाद के कुछ पहलूओं का विरोध किया। उद्योगवाद और केन्द्रवाद— इन दो पहलूओं का उन्होंने विशेष विरोध किया। उन्होंने कहा— सत्ता का केन्द्रीकरण और पूंजी का केन्द्रीकरण हिंसा को बढ़ाने वाला है। जहां—जहां सत्ता केन्द्रित होती है, पूंजी केन्द्रित होती है, वहां वहां समस्याएं बढ़ती हैं।’ गांधी की यह बात अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। जहां भी सत्ता और पूंजी का केन्द्रीकरण हुआ, वहां हिंसा बढ़ी। गांधी ने एक और मार्मिक बात कही— ‘हिंसा की नींव पर खड़ा कोई भी शासक टिक नहीं सकता, साम्यवाद भी टिकेगा नहीं।’ गांधी की कई दशक पहले की गई यह भविष्यवाणी सही निकली। हिंसा के आधार पर कोई भी वस्तु स्थायी नहीं हो सकती। इस आधार पर उन्होंने उद्योगवाद का विरोध किया।

उद्योगवाद में दो बातें साथ चलती हैं— क्षमता और क्षमता के द्वारा शोषण तथा हिंसा। जहां उद्योगवाद को खुला अवकाश मिलता है, वहां युद्ध संघर्ष आदि समस्याएं उत्पन्न होती हैं। महात्मा गांधी ने उद्योगवाद के विरोध में विकेन्द्रित उद्योग की बात कही, केन्द्रीकृत पूंजी के प्रतिपक्ष में विकेन्द्रिय पूंजी और ट्रस्टीशिप की बात कही। इसका अर्थ है— गांधी जी ने अहिंसा और शान्ति प्रतिपादन किया।

अर्थशास्त्र में तीन बातों पर मुख्य रूप से विचार किया जाता है— उत्पादन, वितरण, उपभोग। महावीर के समय उत्पादन का मुख्य स्रोत था कृषि। वह युग कृषि का युग था। उस समय उद्योग नहीं थे। मुख्य था कृषि का व्यवसाय। कृषि के संदर्भ में उन्होंने एक गृहस्थ को जो मार्ग दर्शन दिया, वह यह है— कृषि में भी साधन—शुद्धि का विचार करो। व्यक्ति की तृष्णा के लिए आ. महाप्रज्ञजी ने कहा है—

ru dh r".kk vYi g\$ rhu iko ;k l jA

eu dh r".kk vfeV g\$ xys ej ds ejAA

पहले भूख के लिए आवश्यकता बनती है, फिर आवश्यकता भूख बन जाती है। भूख के लिए आवश्यकता को तो पूरा किया जा सकता है, किन्तु आवश्यकता की भूख को पूरा करने के लिए इस दुनिया में न कोई साधन है और न कोई शक्ति है। न आज का अर्थशास्त्री इसे पूरा कर सकेगा, न कोई शासन या उसका वित्त मंत्रालय आवश्यकता की भूख हो मिटा सकेगा।

भगवान् महावीर के समय में समाज की चर्चा करें। उन्होंने जिस व्रती समाज का निर्माण किया था, उसमें स्वामित्व और उपभोग दोनों का सीमाकरण था। स्वामित्व एक मौलिक मनोवृत्ति है। मनोविज्ञान के संदर्भ में हम स्वामित्व की मीमांसा कर सकते हैं। मैकडूगल आदि मानसशास्त्रियों ने मौलिक मनोवृत्तियों का एक वर्गीकरण किया। महावीर ने मनोवृत्ति का स्वरूप बताते हुए कहा— मनुष्य की एक ही मनोवृत्ति है और वह है अधिकार की भावना, परिग्रह या संग्रह की भावना। सब कुछ अधिकार की भावना से ही हो रहा है।

प्रयोजन को तीन भागों में विभक्त किया गया— पहला है स्वार्थ। स्व के लिए, अपने प्रयोजन से कोई काम करता है वह स्वार्थ हो गया। दूसरा है परार्थ। पर-प्रयोजन के लिए काम करता है वह परार्थ हो गया। तीसरा है परमार्थ। परम के लिए, परम की प्राप्ति के लिए काम करता है, वह परमार्थ हो गया। इस प्रकार जैन धर्म में मूल्यपरक अर्थशास्त्र का विवेचन प्राप्त होता है।

l nHZ xZFk

1. उपासकदशांग सूत्र, प्रथम अध्ययन
2. स्थानांग सूत्र, मधुकर मुनि 3/4/175
3. बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-2
4. महावीर के अर्थशास्त्र, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं
5. आचारांग सूत्र, मधुकर मुनि
6. भगवती सूत्र, भाग-2, मधुकर मुनि

Tanu Rajpal
Lecturer in English,
Aklank Girls PG College,
Basant Vihar, Kota

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

ROLE OF CULTURE IN COMMUNICATION

“... we live in what might be called a ‘communication culture’. By that I do not mean merely a culture that communicates, nor one that regulates communication behavior (all cultures do those things). Rather I mean a culture that is particularly self-conscious and reflexive about communication, and that generates large quantities of metadiscourse about it. For the members of such a culture it is axiomatically ‘good to talk’ - but at the same time it is natural to make judgements about which kinds of talk are good and which are less good. People aspire, or think they ought to aspire, to communicate ‘better’; and they are highly receptive to expert advice.”

-Deborah Cameron (2000, p. viii)

Culture is a shared set of values and perceptions, any social unit whether a relationship, group, organization or society develops a culture over time. All cultures share certain common functions. Three such functions that are particularly important from a communication perspective are –

1. Linking individuals to one another.
2. Providing the basis for a common identity.
3. Creating a context for interaction and negotiation among members.

The relationship between communication and culture is a very complex and intimate one. Cultures are created through communication as communication is the means of human interaction through which cultural characteristics are created and shared. It is not so much that individuals set out to create a culture when they interact in relationships, groups, organizations or societies but rather that cultures are a natural by-product of social interaction. In a sense, cultures are the “residue” of social communication.

Without communication and communication media, it would be impossible to preserve and pass along cultural characteristics from one place and time to another. One can say, therefore, that culture is created, shaped, transmitted and learned through communication and communication practices are largely created, shaped and transmitted by culture.

To understand the implications of this communication-culture relationship, it is necessary to think in terms of on-going communication processes rather than a single communication event. For example, when a three-person group first meets, the members bring with them individual thought and behavioural patterns from previous communication experiences and from other cultures of which they are, or have been, a part. As individuals start to engage in communication with the other members of this new group, they begin to create a set of shared experiences and ways of talking about them. If the group continues to interact, a set of distinguishing history, patterns, customs and rituals will evolve. Some of these cultural characteristics would be quite obvious and tangible, such that a new person joining the group would encounter ongoing cultural rules to which they would learn to conform through communication. In a reciprocal fashion, this reshaped culture shapes the communication practices of current and future group members. This is true with any culture, communication shapes culture and culture shapes communication.

There are two such opportunities which bring cognizance of the dynamic relationship which exists between culture and communication. First, the violations of cultural conventions and second when there is cross-cultural contact. When someone violates an accepted cultural convention, ritual or custom, for eg., by speaking in a foreign language, standing closer than usual while conversing or discussing topics that are typically not discussed openly – the other members of the culture become aware that something inappropriate is occurring. When normal cultural practices are occurring, members of the culture think little of it, but when violations occur, the members are reminded of the pervasive role that culture has on daily life.

People interact in many ways and communication is just about the most common and among the most important whatever is meaningful to a group, from their everyday life to their traditions constitute their very own culture

and is generally respected by all group members. Language is just one of them. Language is a medium of social interact specific to each culture passed down as legacy from one generation to the other to give identity and pride with a sense of belonging to a community or even a nation that maintains distinct culture. Language has two major cultural functions –

1. It is the means of preserving culture.

2. It represents the means through which culture is transmitted to the posterity.

“Language is the road map of a culture. It tells you where its people come from and where they are going. ‘

- Rita Mae Brown

The language is appreciated as “a mirror of culture” (Ferraro 45). The usage of language reflects many of the deep structural values of culture. Most of the Americans are used to a direct language because it is the style which is characteristic for the American interactions. The Americans try to avoid ambiguity, being always outgoing while to be indirect and ambiguous are forms of artistic expression in Africa. Many world cultures use a less direct way of approaching to reality with the help of the language. The Mexicans are very much concerned about the respect paid to the individual and to his dignity, the direct debate being considered as an act of impoliteness. (Richmond, Gestrin 30)

The language also serves to maintain and perfect the social status and the relationship among the members of a culture. The Japanese culture and society are full of rigid rules which govern the social relationship and the social status in all aspects of life. The Japanese language differs substantially in different social situations. “ The Japanese use different vocabularies when they speak to their superiors, to their colleagues and to their inferiors. “(Matsumoto, Assar 87) The Thai culture shows great importance to the place of the individual in the social hierarchy, different social classes using different pronouns, verbs and nouns in order to express the rank and privacy. There are at least 47 pronouns, including 17 forms for “I” and 19 forms for “You”.

The Non-Verbal communication also play an important role because

the individuals use this system of messages to express attitudes and emotions, consequently, inner states. Conscientiously or unconscientiously, deliberately or undeliberately, the individuals have important judgements and decisions regarding the inner states of the others, often expressed without words. The non verbal communication is a strong means of communicating the relational or emotional feelings towards another person. In most of the cases, the non-verbal messages appear before the verbal ones and influence the course of the interactions. The non-verbal communication implies all the non-verbal stimuli from a given communication context and have the value of a potential message both for the source and the receiver.

While most of the non-verbal communication is “part of a code universally recognized and understood”, most of our non-verbal behaviors have deep roots in our culture. For example, in many cultures, the exterior signs of emotions are taken as a natural thing. The people of the Middle East and of the Mediterranean area are, generally speaking, hearty and lively. For the Japanese, the public display of excessive emotions may be considered an act of impoliteness, lack of control and even a kind of invasion of the private space of the other person.

According to a survey it is deduced that only 30% of the communicated message are verbal even if the conversation is between two people sharing the same culture and language. In an inter-cultural context, in which a common language is not shared, the impact of the non-verbal communication is greater.

As Samovar says, “In order to achieve a successful communication with other people, we have to be capable to create inner images which should provide a psychological interpretation of the feelings and their characteristics. ” In certain unusual circumstances, the stereotypes and the ethnocentrism can influence these images. Ruhly defines the ethnocentrism as “the tendency to interpret and appreciate all the groups, their environment and the communication system according to their own categories and cultural values. ” All the individuals undergo a process of socializing which encourages the development of the ethnocentric attitudes. The individuals are taught to do things in a certain way, to analyse those around them in a certain way and to get the usage in certain systems. “An American Manager who considers

English as being “the best” or “the most logical” language to be learnt, will not learn another language which he/she considers “inferior” or “illogical”. And if he/she considers his/her non-verbal system as being “the most civilised”, he/she will have the tendency to reject other systems considered “primitive”. Thus ethnocentrism become an obstacle for an efficient empathy and can lead not only to the total destruction of communication but to antagonism and even hostility.” (Almaney 27)

Understanding the nature of culture in relationship to communication is helpful in a number of ways.

1. It helps to explain the origin of differences between the practices, beliefs, values and customs of various groups and societies

2. It provides a reminder of the communication process by which these differences came into being. This knowledge can heighten people’s tolerance for cultural differences.

3. It helps to explain the process that individuals go through in adapting to new relationships, groups, organizations and societies and the cultures of each.

4. It underscores the importance of communication as a bridge between cultures and as a force behind cultural change.

Thus culture is concerned with the development of coherent view-points which bring a cumulative effect to otherwise isolated experiences of a group, making them feel special yet allowing others to have a parallel experience. Hence an Italian’s culture links them with Dante and Petrarch and yet they can respect an Indian’s culture which links them with the Vedas and Mahabharata.

If man is to survive, he will have learned to take a delight in the essential differences between men and between cultures. He will learn that differences in ideas and attitudes are a delight, part of life’s exciting variety, not something to fear.

- Gene Roddenberry

With persons it is said that familiarity breeds contempt. With Culture and cultured person familiarity breeds esteem and greater mystery. We know

from history that some of the greatest advances in style occurred when mature traditions met, cross - fertilized one-another and produced hybrids which are of enduring value. In most cases these mixtures occurred when two cultures or styles met, such as Greek and Roman, the Hellenic and the Indian through Alexander, the Great; the Christian and the Byzantine in Constantinople or the Persian and the Indian in Mughal art. The great advances in culture came not when rulers tried to impose the values of one culture to the exclusion of all others, but rather when individuals discovered that they could create more exciting structures by combining elements from different cultures. So it is rightly said :

“Culture is a framework in which we communicate. “

Those of us who are internationals and have lived in various countries, have discovered that we do not lose our national roots. Often travel makes us conscious that we are different from others. Cultures are about different answers and also about different questions, different ways of appreciating knowledge, different areas which are discussed while others remain tacit. The contextualization of culture and its various sub-parts like folktales etc. bring us closer to these oft forgotten roots of our awareness. This proximity to our culture is important, indeed vital and concern researchers and policy makers in this area. Culture and Communication are inter-related as culture is created, shaped, transmitted and learned through communication, Communication conserve and expand the cultural horizons.

“Communication’ is a registry of modern longings. The term evokes a utopia where nothing is misunderstood, hearts are open, and expression is uninhibited. Desire being most intense when the object is absent, longings for communication also index a deep sense of dereliction in social relationships. ... ‘Communication’ is a rich tangle of intellectual and cultural strands that encodes our time’s confrontations with itself. To understand communication is to understand much more. An apparent answer to the painful divisions between self and other, private and public, and inner thought and outer word, the notion illustrates our strange lives at this point in history. It is a sink into which most of our hopes and fears seem to be poured.”

~John Durham Peters (1999, p. 2)

References

- 1 Almaney,A. "Inter-cultural communication and the MNC executive" , Columbia Journal of World Business, 1974.
- 2 Burgoon, J.K. et.al. Non-Verbal Communication: The Unspoken Dialogue. New York : McGraw Hill, 1996.
- 3 Crystal, David. English as a Global Language. Wales UP, 1986.
- 4 Ferraro, G.P. The Cultural Dimension of International Business. New Delhi : Prentice Hall, 1994.
- 5 Gestrin P. and Y. Richmond. Indo-Africa Intercultural insights. Intercultural Press : Yarmouth ME, 1998.
- 6 Gibson, E.J. Principles of Perpetual Learning and Development. New York : Appleton Century Crofts,1969.Cr
- 7 Hockett, Charles F. "Dialect Geography." A Course in Modern Linguistics. New Delhi : Oxford UP. 1970.
- 8 Kachru, Braj B. " Teaching World Englishes. " The Other Tongue : English Across Cultures. Chicago : U of Illinois P, 1992.
- 9 Kashima, E.S., Y.Kashima . "Culture and Language" Journal of Cross-Cultural Psychology,(1998).461-87.
- 10 Krizan, A.C. Effective Business Communication. New Delhi : Language Learning India, 2008.
- 11 Kubler, George. The Shape of Time. New Haven : Yale University Press, 1962.
- 12 Mattelart, Armand. Mapping World Communication, War, Progress, Culture. Minneapolis : University of Minneapolis Press, 1991.
- 13 Matsumoto P. and M. Assar. "The Effects of Language on Judgments of Universal Facial Expression of Emotion. " Journal of Non-Verbal Behaviour, 1992.
- 14 Ruhly,D. Orientation to Intercultural Communication. Chicago : Science Research, 2007.
- 15 Samovar, L.A., Richard E. Porter. Communication Between Cultures, 5th Ed. Thomson Learning, 2004.

Vijeta
Research Scholar,
Dept. of Economics,
Banasthali University (RAJ.)

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

MICRO FINANCE IN INDIA AN OVERVIEW

Abstract

In a developing country like India where majority population resides in rural area, rural development becomes imperative for the economic development. Since independence though the Government of India has been initiated various poverty alleviation programs but a remarkable progress could not take place. The poor people are often deprived of the financial services by banks. Consequently, they have to rely upon the informal sources of finance which exploit them by charging an exorbitant rate of interest and results in their lifetime misery and indebtedness. Micro Finance is one such intervention that aims at poverty reduction by ensuring basic financial services to the underserved sections at affordable costs. Micro finance has emerged as an important sector in many countries for providing financial services such as saving, credit insurance and remittance service to the poor. Micro finance has become a global phenomenon. Governments' central banks, donor's practitioners, and other development agencies promoting microfinance are increasingly involved in developing suitable policy initiative for meeting local needs. The objectives of the present paper are to study the role and concept of micro finance, micro finance institutions and their role in promoting the poor. Understand the relationship between microfinance and poverty alleviation.

Key words: Micro Finance, Poverty alleviation, Development

Introduction

In India a range of institution in the public sector as well as the private sector, offers microfinance services. These can be broadly categorized into two categories namely, formal institutions and semi-formal institutions. The

formal category comprises apex development financial institution commercial banks regional banks, and cooperative banks that provide micro finance service in addition to their general banking activities and are referred to as micro finance service providers. On the other hand, semi-formal institutions that undertake microfinance institutions (MFIs) while both private and public ownership found in the case of formal financial institutions offering microfinance services the MFIs are mainly in the private sector. Micro finance is an activity undertaken by the alternate sector nongovernmental organization (NGOs). Therefore, a loan given by a market intermediary to a small borrower is not seen as microfinance. However when an NGO gives a similar loan it is treated as micro finance.

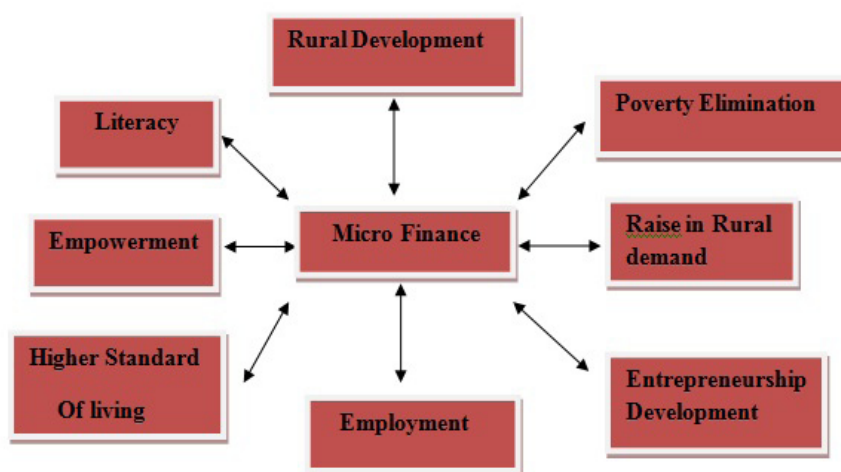
Concept of Microfinance

Micro finance is defined as the provision of thrift, credit and other financial service such as money transfer and micro insurance goods for the poor to permit them to raise their income levels and get better living standards. It refers to the intact feature of financial services such as saving, money transfer, insurance, production as well as investment credit and includes the need for excellence in skill and industrial development that would help them to overcome poverty. Micro finance programs have important potential to improve the economic and social empowerment of SHG members. Microfinance is a concept that is helping the poor to benefit of and create opportunities for economic growth. In India, microfinance has overflowing the efforts of rural development, women empowerment and wealth generation by given that small scale savings, credit, insurance and other financial services to poor and low income households. Microfinance thus serves as a means to empower the poor and provides a precious tool to help the economic development process.

NABARD has defined microfinance as "provision of thrift, credit and other financial services and products of very small amounts to the poor in rural, semi-urban and urban provided to customers to meet their financial needs; with only qualification that transactions value is small and customers are poor.

Microfinance is the condition of loans and other financial services

to the poor. The microfinance has evolved due to the efforts of dedicated individuals and financial agencies to give confidence self-employment and contribute to poverty alleviation and provision of social security. India has been able to develop its own model of microfinance organizations in the form of savings and credit groups known as the Self Help Group (SHGs), which are bank-linked. These SHGs are generally shaped and managed by women and this has become an instrument, which has led to women's empowerment and social change.



Micro Finance Service Providers

Micro finance service providers include apex institutions like national bank for agriculture and rural bank development (NABARD). Small industries development bank of India (SIDBI) and Rashtriya Mahila Kosh (RMK) at the retail level, Commercial banks, regional rural banks and cooperative bank provide micro finance service. Today there are about 60,000 retail credit outlets of the formal banking sector in the rural areas comprising 12,000 branches of district level cooperatives banks, over 1400 branches of the regional rural banks (RRBs) and over 30,000 rural and semi urban branches of commercial banks besides over 90,000 cooperatives credit societies at the village level. On an average, there is at least one retail credit outlet for about 5,000 rural people. This physical reaching out to the far-flung areas of the country to make available saving, credit and other banking services to rural societies in general is an unequalled achievement of the Indian

banking system. However, discussion on micro finance through formal banking institutions are disqualified and an attempt complete to deal with different aspects telling to emergence of the private microfinance industry in the context of current legal and regulatory environment for private sector rural and microfinance operators.

Micro Finance and Micro Credit

It has normally been observed that the poor people don't have access to bank loans. Private moneylenders charge very high interest rates. This makes it not easy for poor people to way in funds for starting small income generation activities like stitching, buying buffalo, opening a tea stall or some other small shop. The Micro Credit Summit, held in Washington DC (1997) defines Micro Credit's, "Extending small loans to poor people for self-employment projects that generate income, allowing them to care for themselves and their families" (Swaminathan, M., 2007) Micro Credit caters the need of people for small loans. Micro finance includes support services along with the loan component. In Micro Credit, more emphasis is placed on providing loans.

Microfinance, thereby, opens up channels for thrift, market assistance, technical assistance, capacity building, insurance, social and cultural programmes. Thus, Microfinance has an element of 'Credit plus' while micro credit is 'only credit'.



Micro Finance in India

Micro finance in India started in the early 1980,s with small efforts at farming informal self help groups (SHG) to afford contact to much needed saving and credit services. From this small start the micro finance sector has grown significantly in the past decades. National bodies like the small

industries development bank of India (SIDBI) and the national bank for agriculture and rural development (NABARD) are devoting significant time and financial resources to micro finance. These points grow importance of the sector the strength of the micro finance institutions (MFIs) in India is in the diversity of approaches and forms that have evolved over time in addition to home grown models of SHGs and mutually aided cooperative societies (MACS) the country has learned from other micro finance experiments crossways the world, particularly those in Bangladesh, Indonesia, Thailand, and Bolivia, in terms of delivery of micro finance service.

Need of Micro Finance

India is an agrarian economy with 62 percent of the population residing in rural area. A rapid development of the economy depends upon the development of this rural sector. According to the report of National Sample Survey Organization (NSSO), the income of a rural farmer was Rs 2215 per month in 2007, which includes his family comprising 5 members and 2 animals. At this present income of the household is not sufficient to meet their expenses, so allied income generation opportunity is essential. In India the concept of micro finance started in the early 1980s with efforts at forming small informal self help groups (SHGs) to provide access to much needed credit and saving services. From this small beginning the micro finance sector has grown significantly in the past decades. National bodies like the Small Industries Development Bank of India (SIDBI) and the NABARD are committed to the development of micro finance.

Table-1 Percentage of Population below Poverty Line based
on MRP Consumption

States/Union Territory	2004-05			2011-12		
	Rural	urban	combined	Rural	urban	combined
Andhra Pradesh	32.30	23.40	29.60	10.96	5.81	9.20
Arunachal Pradesh	33.60	23.50	31.40	38.93	20.33	34.67
Assam	36.40	21.80	34.40	33.89	20.49	31.98
Bihar	55.70	43.70	54.40	34.06	31.23	33.74
Chhattisgarh	55.10	28.40	49.40	44.61	24.75	39.93
Goa	28.10	22.20	24.90	6.81	4.09	5.09
Gujarat	39.10	20.10	31.60	21.54	10.14	16.63
Haryana	24.80	22.40	24.10	11.64	10.28	11.16
Himachal Pradesh	25.00	04.60	22.90	8.48	4.33	8.06
Jammu Kashmir	14.10	10.40	13.10	11.54	7.20	10.35
Jharkhand	51.60	23.80	45.30	40.84	24.83	36.96
Karnataka	37.50	25.90	33.30	24.53	15.25	20.91
Kerala	20.20	18.40	19.60	9.14	4.97	7.05
Madhya Pradesh	53.60	35.10	48.60	35.74	21.00	31.65
Maharashtra	47.90	25.60	38.20	24.22	9.12	17.35
Manipur	39.30	34.50	37.90	38.80	35.59	36.89
Meghalaya	14.00	24.70	16.10	12.53	9.26	11.87
Mizoram	23.00	7.90	15.40	35.4	6.36	20.40
Nagaland	10.00	4.30	8.80	19.93	16.48	18.88
Odisha	60.80	37.60	57.20	35.69	17.29	32.59
Punjab	22.10	18.70	20.90	7.66	9.24	8.26
Rajasthan	35.80	29.70	34.40	16.05	10.69	14.71
Sikkim	31.80	25.90	30.90	9.85	3.66	8.19
Tamil Nadu	37.50	19.70	29.40	15.83	6.54	11.28
Tripura	44.50	22.50	40.00	16.53	7.42	14.05
Uttar Pradesh	42.70	34.10	40.90	30.40	26.06	29.43
Uttarakhand	35.10	26.20	32.70	11.62	10.48	11.26
West Bengal	38.20	24.40	34.20	22.52	14.66	19.98
Andaman & Nicobar Islands	4.10	0.80	3.00	1.57	0.00	1.00
Chandigarh	34.70	10.10	11.60	1.64	22.31	21.81
Dadra & Nagar Haveli	63.60	17.80	49.30	62.59	15.38	39.31
Daman and Diu	2.60	14.40	8.80	0.00	12.62	9.86
Delhi	15.60	12.90	13.00	12.92	9.84	9.91
Lakshadweep	0.40	10.50	6.40	0.00	3.44	2.77
Pondicherry	22.90	0.90	14.20	17.06	6.30	9.69
All India	42.00	25.50	37.20	25.70	13.70	21.92

Source: Planning Commission, Government of India

Source: Planning Commission, Government of India

SHG-Bank Linkage Programme

Indian Micro finance is dominated by the operational approach Self-help Groups (SHGs). The approach is popularly known as SHG-Bank linkage model. This model is the dominant model, initiated by the NABARD in the early 1990s. Today the SHG model also links the informal groups of women to the mainstream system and it has the largest outreach to micro financial clients in the world. SHGS comprise a group of 15-20 members.

Table-2 Overall Progress under SHG-Bank Linkage for last 2 years

Particulars	2010-2011		2011-2012		
	No. of SHG	Amount	No. of SHG	Amount	
SHG Saving with banks 31 st march	Total SHGs	74.62 (7.3%)	7016.30(13.2%)	79.60 (6.7%)	6551.41(-6.7%)
	Of which SHGY group	20.23(19.4%)	1817.12 (40.6%)	21.23 (5.0%)	1395.25 (-23.2%)
	% of SHSY groups total	27.1	25.9	26.7	21.3
	All women SHG	60.98 (14.8%)	5298.65 (17.8%)	62.99 (3.3%)	5104.33 (-3.7%)
	%of women groups	81.7	75.5	79.1	77.9
Loans Disbursed to SHGs during the year	Total SHGs	11.96 (-24.6%)	14547.73 (0.01)	11.48 (-4%)	16534.77 (13.7%)
	Of which SHGY group	2.41 (-9.9%)	2480.37 (12.8%)	2.10 (-12.9%)	2643.56 (6.6%)
	% of SHSY groups total	20.1	17	18.3	16.0
	All women SHG	10.17 (-21.4%)	12621.3 (3 1.6%)	9.23 (-9.2%)	14132.02 (12.02%)
	%of women groups	85	86.8	80.4	85.5
	Total SHGs	47.87 (-1.3%)	31221.17 (11.4%)	43.54 (-9.0%)	36340.00 (16.4%)
Loans Outstanding against SHGs as on 31st March	Of which SHGY group	12.86 (3.4%)	7829.39 (25.2%)	12.16 (-5.4%)	8054.83 (2.9%)
	% of SHSY groups total	26.9	25.1	27.9	22.2
	All women SHG	39.84 (2.2%)	26123.75 (13.4%)	36.49 (-8.4%)	30465.28 (16.6%)
	%of women groups	83.2	83.7	83.8	83.8

Source: Status of Micro Finance 2011-12

Table 2 gives the growth of SHGs-saving as well as credit linked-for the last 2 years, separately for all Groups, Groups formed under SGSY and exclusive Women Groups. 2.2 Under the SHG-Bank linkage programme, over 103 million rural households have now access to regular savings through 7.96 million SHGs linked to banks. About 27% of these SHGs are savings linked through the SGSY programme-the rural poverty alleviation programme of the Government of India where mainly households below the poverty line are admitted as members. Increasing awareness at the SHG level about the improvement of using the savings for domestic loaning is also partly responsible for the decline in saving balance with banks for the cry off in saving balance with bank.

Microfinance Institutions

Microfinance institutions (MFIs) are the organisations or associations of individuals that provide financial services to the poor. In India, there is a wide range of such organisations with diverse legal forms, varying significantly in size, outreach, mission and credit delivery methodologies. Most of the microfinance institutions in India effort to go beyond savings and credit groups to provide microfinance services in the form of savings and insurance.

Table-3 Progress under MFI-Banks linkage programme during the last 2 years

Particulars	2010-12	2011-
	No. of MFIs amount	2012 No. of MFIs amount
Loans disbursed by banks to MFIs	471 8448.96 (-39.5%) (-21.3%)	461 5205.29 (-1.3%) (-38.39%)
Loans outstanding against MFIs as on 31 March	2315 13730.62 (39.5%) (-2.0%)	1960 11450.35 (-15.3%) (-16.6%)
Fresh loans as % of Loan Outstanding	61.5	45.5

Source: Status of Micro Finance 2011-12

Conclusion

Micro-finance is one of the ways of building the capacities of the poor and developing them to self-employment activities by providing financial services like credit, savings and insurance. To provide micro-finance and other support services, MFIs should be able to sustain themselves for a long period. There are so many schemes for the development of poor In India. Creating self employment opportunities through micro finance is one way of aggressive poverty and solving the problems of unemployment. In India, the micro finance pressure group has almost assumed the shape of an industry, acceptance thousands of NGOs/MFIs. During the last decade, the sector has witnessed a sharp growth with the emergence of a number of Micro Finance Institutions (MFIs) provided that financial and non-financial supports to the poor in an attempt to lift them out of poverty.

Reference

- * Ahmad Rais, (2012). Micro Finance in India, New Delhi: Mittal Publication.
- * Angappapillai, A. B. (2011). Performance of SHGs: A Micro study, Southern Economist, 49(18), 17-20.
- * Basu, P., World, B., & Srivastava, P. (2005). Scaling-up Microfinance for India's Rural Poor, World Bank Policy Research Working Paper 3646, WB, Washington DC.
http://papers.ssrn.com/sol3/papers.cfm?abstract_id=757389
- * Bhatnagar, A. (2008). Rural Microfinance and Microenterprise, New Delhi: Concept Publishing Company.
- * Bera, S. K. (2011). A Study of SHG Micro Finance Initiative in Purbo Midnapore District of West Bengal, Economic Affairs, 56 (2), 107-116.
http://www.ndpublisher.in/Last_Issue/EA/02_Economics.pdf
- * Das, Gupta. (2001). working impact of rural SHGs and other forms of micro financing: an informal journey through SHGs, Indian journal of Agricultural Economics, 56(3), 370-385.
- * Das, R.M. (2004). Micro Finance through SHGs: A boon for the rural poor Kurukshetra, A journal on Rural Development 52(4), 43-45.
- * Das, S., K. (2012). Practices of Self Help Groups in Rural India: A Comparative Assessment on Quality and Impact, Economic Affairs, 57 (2), 147-164.

- * Fisher, T., & Sriram, M.S. (2002). *Beyond Micro-Credit: Putting Development Back into Micro-Finance*, New Delhi: Vistar Publishion.
- * Kablana, A., S., Kumar, S., & Kumar, R., Deswal, J. (2011). *Micro Finance through Self Help Group in India: An Analytical Study*, *Economic Affairs*, 56(1), 67-73.
- * K. Panda, Debadutta. (2010). *Understanding Micro Finance*, Wiley India.
- * Ghate Prabhu.(2007). *Indian Microfinance (The Challenges of Rapid Growth)* New Delhi: Sage publication.
- * Gowda Narayana K., Samanta K.R., Narayanaswamy B. (2007). *Self Help Groups Key to Empowerment of Rural Women*, The women press.
- * Gupta, M.S. (2008). *Micro Finance through Self Help Groups: An emerging Horizon For Rural Development*, *Indian Journal of Commerce*, 61(3), 36-47. <http://www.cgdev.org/content/publications/detail/1422302>
- * Gupta, K.L. (1984). *Finance and Economic Growth in Development Countries*, London: Croom Helm.
- * Karmakar, K.G. (2003). *Rural Credit and Self help Groups: Micro-Finance needs and Concepts in India*, New Delhi: Sage Publications.
- * Mishra, S.K. Puri, V.K. (2008). *India Economy*, Mumbai: Himalaya publishing house.
- * Misra Indira. (2003). *Micro-Credit for Macro Impact on poverty*, New Delhi: National Publishing House.
- * Pallavi, C., & Ramkumar. (2002). *Micro Credit and Rural Poverty an Analysis of Empirical Evidence*, *Journal of Economic and Political Weekly*, 37(10), 955-958. <http://www.jstor.org/stable/pdfplus/4411845.pdf>
- * Pillai, B., V., & HariKumar V. (2006). *Self Help Groups in Kerala*, *Kuruksheetra* July, 30-32
- * Sahu, A., K., Nayak, S., S. (2011). *Self Help Groups and Micro-Credit Institutions*, New Delhi: Discovery publishing house.
- * Singh, M. K. (2010). *Traditional Micro Finance system in rural and backward areas: A Study in Manipur*, *Manpower Journal*, 45(1), 61-75.
- * Selvam, P., & Radjaramane, V. (2011). *Self Help Group and Social Empowerment: An Impact Assessment in the Selected Villages of Coimbatore District*, *International Journal of Development research* 2, 1001-1007. http://www.journalijdr.com/sites/default/files/Download_23.pdf
- * Sharma, K.C. (2000). *Micro Finance through Self Help Groups*, *Indian journal of Agricultural Economics*, 56(3), 460-463.
- * Singh, M. K. (2010). *Traditional Micro Finance system in rural and backward*

- areas: A Study in Manipur, *Manpower Journal*, 45(1), 61-75
- * Rutherford, Stuart. (2000). *The Poor and their Money*, New Delhi: Oxford University Press.
 - * Singh S.K., Mathur H.P, Lal Madan. (2013). *Micro finance issues & Challenges* New Delhi Shree Publishers & Distributors.
 - * Verma, M., M. (1986). *Planning for the poor*, New Delhi: Gitanjali Publication House.
 - * Wallace, T., & Lewis, D. (2003). *Development NGOs and the challenge of change: New roles and relevance*, New Delhi: Rawat publications Jaipur.



CROSS CULTURAL DESIGN OF MEDICAL DEVICES

Designing a medical device itself is a Herculean task, but the complexity is multiplied when designing for international use by operators with diverse cultural backgrounds.

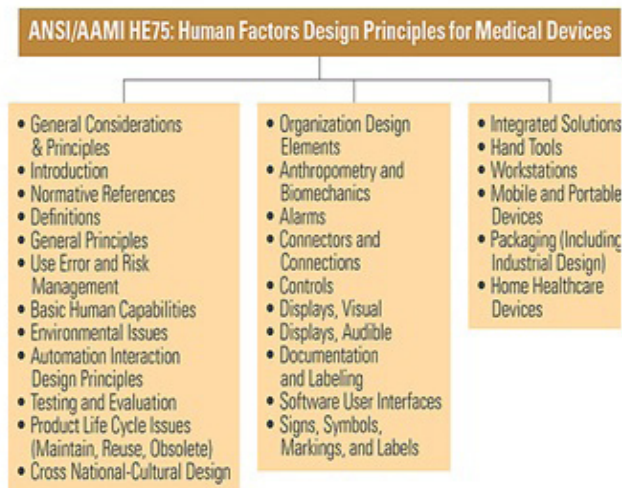


Figure 1 ANSI/ AAMI HE75 Human factors design principles for medical devices

HE75:2009 ANSI/ AAMI HE75 Human factors design principles for medical devices, advises medical device manufacturers considering international markets to use the following approach:

1. Investigate the distinguishing characteristics of the target markets in terms of cultural and national factors.
2. Generate design adaptations that address the unique requirements for that culture or nation.
3. Develop a design that encompasses the needs of all cultures and

nations.

4. Validate the design adaptations in the target markets.

Though this sounds easy and simple, it is indeed a tough task. A closer analysis on this will bring the challenges and crucial aspects of cross cultural design.

§ Language – It is the real “Tower of Babel” scenario out there with hundreds of widely spoken and written languages. It is important that the device manufacturer design the User interface keeping in mind to provide a subset of the dominant ones in the market region of interest. Once the language of first choice for the user interface is chosen, then translations should be carefully validated as “transliterations” can often lead to use errors and cross cultural advertising gaffes..!

Top 10 Cross Cultural Advertising Gaffes

- * When Gerber first started selling baby food in Africa, they used the same packaging as in the USA - with a baby on the label. Later they found out that in Africa, companies routinely put pictures on the label of what is inside since many people cannot read!
- * When Kentucky Fried Chicken entered the Chinese market, they discovered that their slogan “finger lickin’ good” came out as “eat your fingers off”
- * When Pepsi entered the Chinese market a few years ago, the translation of their slogan “Pepsi Brings you Back to Life” to Chinese, meant, “Pepsi Brings Your Ancestors Back from the Grave”.
- * In Italy, a campaign for “Schweppes Tonic Water” translated meant “Schweppes Toilet Water”.
- * Clairol introduced the “Mist Stick,” a curling iron, into Germany only to find out that “mist” is slang for manure.
- * General Motors had a perplexing problem when they introduced the Chevy Nova in South America. They weren’t selling many cars because in Spanish, “nova” means “it won’t go”.
- * An American T-shirt maker in Miami printed shirts for the Spanish market that promoted a visit by Pope John Paul II. Instead of “I saw the Pope (el Papa)”, the shirts read “I saw the potato (la papa)”.

- * When Braniff Airlines translated a slogan touting its upholstery, “Fly in leather,” it came out in Spanish as “Fly naked.”
- * Coors didn’t do well when they had their slogan “Turn it loose” translated to Spanish, it translated to “Suffer from Diarrhea”.

Units and numbering formats – The units chosen for any device measurements should reflect those used most commonly in the target market region. For example, if a device measuring patient weight will be marketed in the United States and Europe, it should display weight in both pounds and kilograms. Same should be followed for the typical formats for dates, times, addresses, etc as this also vary across countries and may lead to serious misunderstandings. Imagine temperature measurement units Celsius and Fahrenheit and the confusion they can create if not properly mentioned as per the preference of the geographical region. This means that the design should respect the daily habits of the people of the region in addition to being technically correct.

Demographics and anthropometrics

I would like to call this aspect as “demographical ergonomics” as characteristics such as age and gender ratio of a given population may fluctuate over time due to changes in life span, birth rate, etc. The fact that anthropometric characteristics like size , height and physical strength can vary widely between populations and should be given due consideration when designing products for certain target populations.

An excellent example is the ventilator from Covidien whose monitor can be adjusted according to the height of the caregiver.

Perception of value

Value or quality is perceived very differently between cultures. Small, lightweight, low profile devices may be viewed as technologically advanced by one population and low quality by another. In the same way, one population may consider larger, heavier equipment cumbersome while another population may see the same equipment as more durable or higher quality.

A country like Japan is obsessed with the concept of Quality and care should be taken to understand the perception of quality.

Color

The meaning of a color and its cultural significances may be interpreted depending on the culture. The color of the product must be taken care as it has great impact on the way people interpret the significance. Dead bodies are covered with white clothes in India and the color blue is connected to death in China. It is important that choice of colors are given due importance.

Conclusion

The probability of use error decreases if device operation reflects users' expectations, customs, and experience, especially in critical situations. Cross-cultural design is ensuring usability and user experience across cultural boundaries which requires understanding of cultural differences and application of user-centered design methods in target cultures.

References:

1. HE75:2009 ANSI/ AAMI HE75 Human factors design principles for medical devices
2. Cross Cultural design : Henry Steiner
3. Designing Culture: The Technological Imagination at Work by Anne Balsamo



Nidhi Jain
Lecturer, Home Science
Satsai PG College
Jaipur

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

ASSESSMENT OF ORGANIZATION EFFECTIVENESS OF NON GOVERNMENT ORGANIZATIONS WORKING IN JAIPUR CITY A STUDY

For any nation, development of women means the development of individual family, its society and the nation as a whole. In India, women constitute nearly half of the total population and a country cannot prosper by ignoring and neglecting 50 percent of its total population.

The status of women in India, particularly in Rajasthan is very low. Rajasthan is a very backward state from the point of view of male-female equality. The factor behind the situation are lack of economic independence, illiteracy, orthodox, superstitions rites, rituals and a male dominated society.

The role of non government organizations (N.G.O.s) in meeting this challenge is of crucial importance. This fact has also been realized by the government. NGOs can play an important role in facilitating the government in implementing the innovate schemes for service delivery as they have informal way of functioning, flexibility and close contact with the people. Further they can also help in streaming government strategies and implementation of government programme.

NGOs have a long history of active involvement in the promotion of human welfare and well being.

A NGO, properly speaking is an organization which whether its workers are paid or unpaid, is initiated and governed by its oven members without external control (Sundaram, 1.5.1986)/

The women NGOs taking up women's cases have existed in India even before independence, but it is only in 1970s that they have been more active and professionalized in their operations. The women NGOs have been involved in organizing women, securing their association and implementing

development programmes, devising strategies for changing the existing social structure and raising the status of women as equal partners with men in the Indian society.

Statement of the Problem

The country's social and economic problems are so vast and multifarious that the government's administrative machinery alone cannot tackle them. The establishment of a self reliant society implies that people's dependence on the government be curtailed.

In this context, the fact that the NGOs are the appropriate agencies for creating the right type of climate for change and development cannot be disputed.

The NGO's bring small and independent of bureaucratic and hierarchical constraints are flexible to a great degree. They can respond swiftly and efficiently to the local demand. Being locally based, they are aware of the local environment and are responsive to it. They can adopt their style of working to the changing local conditions. They generally employ people from local areas, who are familiar with local conditions and problems.

Thus keeping in view the importance of NGOs in achieving the goal of social progress, a study was taken up to assess the organizational effectiveness of NGOs working in Jaipur city.

The Objective of the study

1. To study the background profile of the selected NGOs working in Jaipur city.
2. To analyze the financial resources available with the NGOs.
3. To assess the organizational effectiveness of the selected NGOs working in the Jaipur City.

The organization covered under the study received funds through donations and state government. The ratio of funds available with NGOs from internal V/s External source was found to be 9:8.

The study also found that in case of majority of organizations, financial position was good ranging from Rs. 1 lakh to 15 lakh.

Further it was found that in NGO's there were both paid and unpaid workers but the number of paid workers were found to be pre-dominantly

high paid workers constitute 67.5 percent of total workers.

The study revealed that majority of organizations enjoy adequate infrastructure facilities, only a handful of NGO's were managing with the bare minimum space, furniture and equipment.

With regard to the overall effectiveness of organization the weighted average was 3.1 which denote good organizational effectiveness. In the opinion of the chief functionaries, aspects which contribute towards the organizational effectiveness fell under the total of 40 organization working for the welfare of women and children in Jaipur city were selected for the study. A semi structured questionnaire was used to collect data.

The study revealed that majority of organizations (97.5%) were established during post independence period and the remaining 2.5% were established before 1947.

Further it was found that in case of 65 percent of organizations the year of establishment and registration was same. More than half of the organizations had branches.

The study also directed towards the investigation into the objectives and programme. The organizations were working in various areas such as social awareness, sanitation awareness, health care services, non formal education, environmental issues, legal aid, promotion of local craft, vocational training, children holiday camps and welfare programme.

Financial condition of the non government organization presupposes the quality of organizational performance category of good were resource appreciation, grassroots impact, project orientation, innovation and target group involvement with weighted average of 3.4, 3.3, 3.1 and 3 respectively.

When sign test was computed, the result showed that respondent were satisfied with the overall effectiveness of the organization and with the aspects agency appreciation, programme effectiveness and grassroots impact.

Based on the findings of the study some recommendation can be made the organization for assistance, they should create their own financial resources. It may be in the form of production centre, income generating

programme, donationa and membership fee etc.

NGOs should organize training camps or they should collaborate with institutions which organize training and they should utilize their expertise and infrastructure for developing training modules for their workers chief functionaries should revise the policies of the organizations according to the changing need of the people timely assistance of funds should be provided by the government. Timely assistance to NGOs is of utmost important.

Dr. Shashi goel
C-24, Hari Marg
Malviya Nagar
Jaipur

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

SOCIAL SECURITY AND LABOUR WELFARE IN INDIA: A REVIEW

Social security is one of the pillars on which the structure of a welfare state rests, and it constitutes the hard core of social policy in most countries. It is through social security measures that the state attempts to maintain every citizen at a certain prescribed level below which no one is allowed to fall. It is the security that society furnishes through appropriate organisation, against certain risks to which its members are exposed (ILO, 1942). Social security system comprises health and unemployment insurance, family allowances, provident funds, pensions and gratuity schemes, and widows' and survivors' allowances. The essential characteristics of social insurance schemes include their compulsory and contributory nature; the members must first subscribe to a fund from which benefits could be drawn later. On the other hand, social assistance is a method according to which benefits are given to the needy persons, fulfilling the prescribed conditions, by the government out of its own resources. The present section reviews labour welfare activities in India with particular emphasis on the unorganised sector. Although provisions for workmen's compensation in case of industrial accidents and maternity benefits for women workforce had existed for long, a major breakthrough in the field of social security came only after independence. The Constitution of India (Article 41) laid down that the State shall make effective provision for securing the right to public assistance in case of unemployment, old age, sickness and disablement and in other cases of undeserved want. The Government took several steps in compliance of the constitutional requirements.

The Workmen's Compensation Act (1926) was suitably revised and social insurance programmes were developed for industrial workers. Provident funds and gratuity schemes were introduced in most industries, and maternity legislation was overhauled. Subsequently, State governments instituted their

own social assistance programmes. The provisions for old age comprise pension, provident fund, and gratuity schemes. All the three provisions are different forms of retirement benefits. Gratuity is a lumpsum payment made to a worker or to his/her heirs by the company on termination of his/her service due to retirement, invalidity, retrenchment or death (Bajpayee and Shanker, 1950).

Concept of labour welfare

In its broad connotation, the term welfare refers to a state of living of an individual or a group in a desirable relationship with total environment – ecological, economic, and social. Conceptually as well as operationally, labour welfare is a part of social welfare which, in turn, is closely linked to the concept and the role of the State. The concept of social welfare, in its narrow contours, has been equated with economic welfare. Pigou defined it as “that part of general welfare which can be brought directly or indirectly into relations with the measuring rod of money” (Pigou, 1962). According to Willensky and Labeaux, social welfare alludes to “those formally organised and socially sponsored institutions, agencies and programmes which function to maintain or improve the economic conditions, health or interpersonal competence of some parts or all of a population” (Willensky and Labeaux, 1918). As these goals may not always be realised by individuals through their efforts alone, the government came into the picture and gradually began to take over the responsibility for the free and full development of human personality of its population.

Labour welfare is an extension of the term Welfare and its application to labour. During the industrialisation process, the stress on labour productivity increased; and brought about changes in the thinking on labour welfare. An early study under the UN observed as follows “in our opinion most underdeveloped countries are in the situation that investment in people is likely to prove as productive, in the purely material sense, as any investment in material resources and in many cases, investment in people would lead to a greater increase of the flow of goods and services than would follow upon any comparable investment in material capital” (UN, 1951). The theory that welfare expenditure, especially expenditure

on health and education, is productive investment has led to the view that workers could work more productively if they were given a fair deal both at the work place and in the community.

The concept of labour welfare has received inspiration from the concepts of democracy and welfare state. Democracy does not simply denote a form of government; it is rather a way of life based on certain values such as equal rights and privileges for all. The peration of welfare services, in actual practice, brings to bear on it different reflections representing the broad cultural and social conditions. In short, labour welfare is the voluntary efforts of the employers to establish, within the existing industrial system, working and sometimes living and cultural conditions of the employees beyond what is required by law, the custom of the industry and the conditions of the market (A. J. Todd, 1933).

The constituents of labour welfare included working hours, working conditions, safety, industrial health insurance, workmen's compensation, provident funds, gratuity, pensions, protection against indebtedness, industrial housing, rest rooms, canteens, crèches, wash places, toilet facilities, lunches, cinemas, theatres, music, reading rooms, holiday rooms, workers' education, co-operative stores, excursions, playgrounds, and scholarships and other help for education of employees' children. All labour welfare measures have the following objectives:

1. Enabling workers to live richer and more satisfactory lives;
2. Contributing to the productivity of labour and efficiency of the enterprise;
3. Enhancing the standard of living of workers by indirectly reducing the burden on their purse;
4. Enabling workers to live in tune and harmony with services for workers obtaining in the neighbourhood community where similar enterprises are situated;
5. Based on an intelligent predictions of the future needs of the industrial workers, designing policies to cushion off and absorb the shocks of

- industrialisation and urbanisation to workers;
6. Fostering administratively viable and essentially developmental outlook among the workforce; and
 7. Discharging social responsibilities.

Principles of labour welfare

Certain fundamental considerations are involved in the concept of labour welfare. The following are the more important among them.

Social responsibility of industry

This principle is based on the social conception of industry and its role in the society that is, the understanding that social responsibility of the state is manifested through industry. It is assumed that labour welfare is an expression of industry's duty towards its employees. Social responsibility means that the obligation of the industry to pursue those policies, to take such decisions, and to follow those lines of action which are desirable in terms of the objectives and values currently obtaining in the society. The values of the Indian community are enshrined in the constitution of the country. Labour welfare is not embroidery on capitalism nor the external dressing of an exploitative management; rather, it is an expression of the assumption by industry of its responsibility for its employees (Maurioce Bruce, 1961). Industry is expected to win the co-operation of the workers, provide them security of employment, fair wage, and equal opportunity for personal growth and advancement, and make welfare facilities available to them.

Democratic values

The principle of democratic values of labour welfare concedes that workers may have certain unmet needs for no fault of their own, that industry has an obligation to render them help in gratifying those needs, and that workers have a right of determining the manner in which these needs can be met and of participating in the administration of the mechanism of need gratification. The underlying assumption to this approach is that the worker is a mature and rational individual who is capable of taking decisions for himself/herself.

Adequacy of wages

The third principle of labour welfare is adequacy of wages; it implies that labour welfare measures are not a substitute for wages. It will be wrong to argue that since workers are given a variety of labour welfare services, they need be paid only low wages. Right to adequate wage is beyond dispute.

Efficiency

The fourth principle of labour welfare lays stress on the dictum that to cultivate welfare is to cultivate efficiency. Even those who deny any social responsibility for industry do accept that an enterprise must introduce all such labour welfare measures which promote efficiency (Marshall, 1950). It has been often mentioned that workers' education and training, housing, and diet are the three most important aspects of labour welfare, which always accentuate labour efficiency.

Re-personalisation

Since industrial organisation is rigid and impersonal, the goal of welfare in industry is the enrichment and growth of human personality. The labour welfare movement seeks to bring cheer, comfort, and warmth in the human relationship by treating man as an individual, with quiet distinct needs and aspirations. Social and cultural programmes, recreation and other measures designed after taking into consideration the workers' interests go a long way in counteracting the effects of monotony, boredom, and cheerlessness.

Co-responsibility

The sixth principle of labour welfare recognises that the responsibility for labour welfare lies on both employers and workers and not on employers alone (Moorthy, 1958). Labour welfare measures are likely to be of little success unless mutuality of interest and responsibilities are accepted and understood by both the parties, in particular the quality of responsibility at the attitudinal and organisational level.

Totality of welfare

The final principle of labour welfare is that the concept of labour welfare must permeate throughout the hierarchy of an organisation, and accepted by all levels of functionaries in the enterprise.

Social security and unorganised labour

Social security is the protection which society provides for its members, through a series of public measures, against the economic and social distress that otherwise would be caused by the stoppage or substantial reduction in earnings resulting from sickness, maternity, employment injury, unemployment, invalidity, old age and death; provision of medical care, and the provision of subsidies for families with children (ILO, 1989). The system of social security was started with the organised sector. However, owing to pressures brought on the state and the society by the growing awareness within the unorganised sector, concern is increasingly being expressed and attention given to expanding legislative and social security protection to the unorganised sector.

Social security schemes should be linked to economic security, including employment, income, and assets. There should be a convergence of the ways of reaching sustainability and of attaining expanded coverage. The growing demands of the unorganised labour force and their attempts to organise themselves can be met by a decentralised participatory social security system. It will lead to a release of the people's creative energies and a rapid growth of social security for the organised sector. Extending social security to the unorganized sector is not merely a matter of extending existing organised sector schemes to new groups for the following reasons (Getupig, et al, 1992).

1. Unorganised sector is not a homogenous category;
2. Identifying the employer in this sector is difficult;
3. Unlike the organised sector, where steady and regular employment is a given fact, unorganized sector workers need employment security, income security, and social security simultaneously; and
4. Needs of the unorganised sector workers vary from those of the organised sector.

Welfare amenities stipulated in the Factories Act, Mines Act, Plantations Labour Act, etc., are employment-based, in the sense that such Acts are applicable to undertakings employing the minimum prescribed number of workers. Outside the realm of these Acts, there are a large number of small-scale establishments, which have no obligation, statutory or otherwise, to provide welfare amenities to their workers. These establishments are located in both urban and rural areas, and are engaged mostly in processing

primary products or in supplementing the existing large-scale industries in transportation, construction, and retail trade. (Ghosh Subrathesh, 1996). The precise estimate of their employment strength and their wage, welfare and working conditions are not known. The very nature of industry, the frequent collusion between the employer and his workmen and place of work often being in the backyard of the employers' dwelling are some of the social problems which stand in the way of bringing the real picture of labour conditions to light. In the absence of any reliable data necessary for policy recommendations, one could take stock of the situation only in terms of opinions expressed by knowledgeable sources.

Social security measures in unorganised sector in India

Social security comprises two types of measures, promotional and protective. Promotional measures consist mainly of employment, training, and nutrition schemes, by which persons are enabled to work and earn a livelihood. On the other hand, protective measures consist of schemes by which the State provides the means of livelihood when a person is not able to work (Sankaran, T.S, 1993). ILO standards relating to social security are mainly protective and have been designed primarily for workers in the organised sector. Both promotional and protective measures are necessary to provide adequate social security facilities.

Medical care

According to ILO recommendation No.69, medical care should be provided either through a social service medical care service, with supplementary provisions by way of social assistance, to meet the requirements of people in need who are not covered by social insurance, or through a public medical service (ILO, 1984). It requires that complete preventive and curative care be available, care which is rationally organised and co-ordinated with general health services. In India, medical care is provided largely by the public medical service, by private doctors and hospitals, and to a limited extent by social insurance schemes, welfare funds, and voluntary health associations. Some of the Welfare Funds in Kerala have adopted the reimbursement of the cost of medical care at standard rates or actuals, whereas the Employees State Insurance Scheme is based on providing the service directly under an

integrated arrangement in which the financing and the medical services vest with the same organisation. On the other hand, some of the public sector establishments provide service indirectly by entering into contract with doctors, diagnostic centres, and hospitals.

Sickness benefit

Sickness benefit is payable when an insured person has to stop work due to his poor health conditions, and such a stop in work usually entails reduction or stoppage of earnings. Cash benefit is designed to replace in whole, or in part, the lost earnings. In India, there is provision for payment of sickness benefit under the Employees State Insurance Scheme (Government of India, 1996). Employees of Central and State governments and some public and private sector establishments are entitled to medical leave on half-pay.

Maternity benefit

One of the earliest conventions adopted by ILO was the Maternity Protection Convention in 1919. The purpose of this Convention was to ensure that a woman worker would be able to sustain herself and her baby during the period immediately before and after her confinement. Maternity benefit is usually provided under a social insurance scheme along with medical care and sickness benefit. In India maternity benefit is provided under the Maternity Benefit Act (as an employers' liability) the Employees State Insurance Act (as a part of the health insurance scheme), the Beedi and Cigar (Conditions of Employment) Act, Beedi and Cigar Labour Welfare Fund Act, and the various State government schemes for social assistance. The National Social Assistance Programme also provides for payment of maternity benefits in lump sum.

Employment injury benefit

Employment Injury Benefit is the most widely adopted branch of social security, and is also known as workmen's compensation. According to ILO Recommendation No.67 concerning income security, the contingency for which compensation for employment injury should be paid, is traumatic injury, or disease in the course of employment, and not injury brought about deliberately, or by serious and wilful misconduct of the victim, which results in temporary or permanent disability or death (ILO, 1984). This is a

cash benefit but is often associated with medical care. In India, employment injury benefit is provided under the Workmen's Compensation Act and the Employees State Insurance Act. While the former Act is applicable to some employment in the unorganised sector, such as the construction industry, the latter Act is applicable mainly to workers in the organised sector.

Old-age benefit

Old age, invalidity, and survivors' benefits are the main long-term social security benefits, which are of great importance in any social security scheme. ILO conventions stipulate that the pensionable age should not be more than 65 years, unless required by demographic, economic, and social criteria, and that there should be a lower age for persons engaged in arduous occupations. Old age pension may be at a flat rate, or be related to one's past earnings. The current trend appears to be toward building a multi-tiered system consisting of a basic minimum pension and one or more earnings-related pensions. In India old-age benefit is provided as follows (Ministry of Labour, 1996).

- (a) Government employees: Paid by respective governments on the basis of employers' liability.
- (b) Employees' pension scheme: Workers covered under the Employees Provident and Miscellaneous Provisions Act.
- (c) Destitutes and persons below the poverty line: Paid under national old age pension scheme and old age pension schemes of State governments.

There exist no pension schemes for the self-employed, or for workers employed on a casual, temporary or intermittent basis who are not destitute, and who are not covered by the Employees Provident Fund and Miscellaneous Provisions Act.

Invalidity benefit

Invalidity benefit is meant for people who have permanently lost their capacity to earn to the extent prescribed. According to ILO Recommendation No.67 concerning income security, the contingency in which invalidity benefit is payable is the inability to engage in any substantially gainful activity, because of a chronic condition due to disease or injury, or because of the loss of a

member or its proper functioning. The relevant ILO convention specifies 15 years of contribution or employment or 10 years of insurance. But usually one requires only a few years' insurance, say five years, a part of which needs to be immediately preceding the invalidity. In India, the Employees Pension Scheme introduced in 1995 provides for invalidity benefits.

Survivors' benefit

This benefit is meant primarily for widows and children of persons covered by Social Security Schemes who cease to have any financial support on the death of their breadwinner. However, national legislation often recognises claims of other dependents provided there are no primary beneficiaries. A widespread practice is to base the survivors' pension on the rate of the old age pension the deceased was receiving or would have received (Sankaran, T.S, 1993). In India, survivors' benefit is provided under the Employees State Insurance Act and Workman's Compensation Act in case of death of a person engaged in any employment covered under these Acts. This benefit is provided under the Employees Provident Fund and Miscellaneous Provisions Act in case of the death of a member of the scheme for any reason. Insurance schemes of the Life Insurance Corporation and General Insurance Corporation also provide this benefit. The National Family Benefit Scheme extends this benefit in case of the death of the breadwinner of a family which lies below the poverty line.

Unemployment benefit

The underlying principle of unemployment benefit is that if a person, through no fault of his, is deprived of his income, he has a right to expect income support, at least for the necessities of life while he remains available for work. According to ILO recommendations No.67, the contingency in which unemployment benefit should be paid is loss of earnings due to a state of unemployment of an insured person who is ordinarily employed, a person who is capable of regular employment in some occupation and is searching for suitable employment or due to part time unemployment (Government of India, 1995-'96). Its main purpose is to deal with temporary unemployment of employed persons and not the extensive and prolonged unemployment and under-employment found in many developing countries. The payment of the benefits depends on satisfying the qualifying clause of

covered employment, and a waiting period may also be applied.

Family benefit

ILO Recommendation No.67 says that society should co-operate with parents, and give general assistance designed to secure the wellbeing of children. This benefit is intended to assist families in raising their children. Although there are no family benefit schemes in India, which provide for the payment of cash allowances to families for the maintenance of children, there exist many schemes which help families of Scheduled Castes/Tribes, minorities and other weaker sections of society, in the discharge of their responsibilities for education of their children, marriage of their daughters, construction of houses, and meeting funeral expenses.

Strategies for social security in unorganised sector

The majority of the Social security schemes implemented in the country were in the organized sector, keeping large numbers outside the realm of the Social security net (Berman, 1995). A beginning has been made lately to provide social insurance for workers in the unorganised sector, with the help of the Central and the State governments. These schemes are administered by government agencies, co-operatives or NGOs, and are a combination of social assistance and social insurance.

Insurance schemes

The Life Insurance Corporation of India has developed group insurance, which is akin to social insurance based on large numbers, and has the potential to provide social security to persons in the unorganised industrial and agricultural sectors. There exist now several other group insurance schemes for the unorganised sector workers such as milk producers, handloom weavers, rickshaw pullers, shop assistants, beedi workers, and fish farmers. The schemes of the LIC provide mainly survivor benefits; however, some also provide old-age pensions. The General Insurance Corporation (GIC) of India also administers a few social security schemes for poor families, a Hut Insurance Scheme, and a Solatium Fund. In addition, GIC has introduced a Health Insurance Scheme, and has been administering the comprehensive Group Insurance Scheme for the Central Government. The schemes of the General Insurance Corporation provide invalidity benefits, or health insurance,

or protection against loss of property.

National Social Assistance Programme

Of the various protective schemes in existence for workers in the unorganised sector, the most important is the National Social Assistance Programme introduced in 1955 (Wadhawan, 1989). It provides social assistance to poor households in the case of old age, death of the breadwinner, and maternity through the National Old Age Pension Scheme, National Family Benefit Scheme, and the National Maternity Benefit Scheme respectively. Under the National Old Age Pension Scheme, Central assistance is provided to States for payment of old age pension to persons who are of the age of 65 years or more. In addition to the National Old Age Pension Scheme, all State governments and Union territories have their own old-age pension schemes.

Other pension schemes

Apart from the old-age pension schemes already referred to, the States Kerala, Tamil Nadu, Karnataka, Andhra Pradesh, Maharashtra, and Gujarat have pension schemes for agricultural workers. Many states have extended the old-age pension scheme benefits to destitute widows, physically and mentally retarded persons, freedom fighters and indigent artists; and some have also set up homes for destitute widows and deserted /divorced women. Under the Family Benefit scheme assistance is given to families below the poverty line on the death of their breadwinner; under the National Maternity Benefit scheme assistance is given to pregnant women for the first two childbirths.

Welfare Funds

Welfare funds represent one of the models tried in India for providing social security protection to workers in the unorganised sector. There exist broadly two types of welfare funds – contributory and tax-based. The Government of India has set up tax-based welfare funds for mine workers, beedi rollers, cine workers, and workers in the building industry; these funds are financed by cess levied on the production or export of specified goods. They provide mainly medical care, assistance for the education of children, housing and water supply, and recreational facilities.

Existing models of social security and labour welfare

Since India has committed to the welfare of the marginalised sections of the society the government has taken upon itself the delivery of all types of social services and social security. There are mainly three types of social security models: employers' liability, social insurance, and social assistance. The last category includes welfare funds of Central government, welfare funds of State government, subsidised insurance schemes, and other forms of social assistance. The beneficiaries of the first (employers' liability) are mainly workers in the organised sector, whereas under social assistance the beneficiaries are both workers in the organised sector and workers in the informal sector. The latter belong in generally to the marginalised sectors. In the context of growing privatisation of services on the one hand and the growing awareness and organisation of the oppressed sections of workers on the other, it is necessary to search for models of effective social security provision to all the unorganised sector workers.

Social security for the unorganised workers cannot be reached by centralising and standardizing schemes; they can be reached by 'letting a hundred flowers blow and encouraging workers themselves to take initiative (Subramanya, 1994). People remain weak and vulnerable partly because they are unorganised and hence isolated and powerless. The provision social security can itself be a means that would lead the unorganised sector workers to organize and become empowered. Security of needs like food, health care, housing and child care, is empowering for vulnerable unorganised sector workers and helps them to alter their bargaining positions in the market (Sen and Dreze, 1990). Centralised non-participatory systems tend to be dis-empowering, while participatory and beneficiary-run systems lead the workers to organise themselves.

References:

- * Social Security: An Introduction to the Basic Principles, Danny Pieters, Kluwer Law International, 2006
- * Social Security: Protection at the International Level and Developments, Ana Gómez Heredero, Council of Europe, 2009
- * Labour welfare and social security legislation in India, Deepak Bhatnagar, Deep

& Deep, 1984

- * Social security and labour welfare in India, Nayan Barua, Ashish Pub. House, 1995
- * State and Labour Welfare in India: An Appraisal of the ESI Scheme, Deepak Bhatnagar, Deep & Deep Publications, 1985
- * Labour Welfare and Social Security: Awareness, Implementation and Utility of labour laws, Anil Kumar, Anil Kumar Kruthiventi, Deep & Deep Publications, 2003
- * Labour welfare policy in India, Manju Rao, Printwell, 1995
- * Labour welfare, P. V. Jois, Somaiya, 1981
- * Labour Welfare and Personnel Service, R.j.reddy, APH publishing cooperation, 2004
- * Labour Welfare in India, K. N. Vaid, Shri Ram Centre for Industrial Relations, 1970
- * Social Security for Unorganised Sector Workers in India: A Critical Appraisal, Babu P. Remesh, Anoop Satpathy, V.V. Giri National Labour Institute, 2010
- * Social security for unorganised labour, B. B. Patel, Gandhi Labour Institute, 1993
- * Unorganised Women Labour in India, S. N. Tripathy, Discovery publishing

Dr. Ritu Johri
Assistant Professor
Dept. of Fine Arts and Painting
Jai Narain Vyas University, Jodhpur

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

IDEA AND IMAGE OF AKASH/SPACE

The world ,the universe is, of course ,made up of five elements , so also body and mind. Each of these elements is present in one another in a very small and subtle way . Our mind is made up by five subtle elements .And it,s law that they take turns to dominate . For some time one ,then the other dominates. This is truth that we are witness of these elements we are pure consciousness. Art expression became a way of transmitting the timeless truths of man- nature ethics. In the light of FIVE- ELEMENTS , combination of all created things.

Today the relevance of these early perceptions is because they have an inherent awareness ,intrinsic to man,s symbolic existence –a view that contemporary ecological thinking revalidates. The Five elements are the basic and also building blocks of the corresponding art forms.EARTH,WATER, FIRE, VAYU,SPACE are the FIVE ELEMENTS.In this paper I am presenting the findings about AKASH/SPACE which are described in ancient texts and our society has been carrying these believes since a very long time and contemporary thoughts/ views of as well as artists and scientists. .

आकाश / रव / व्योम AKASA

Akasa (mn.) (derived from a-kas,-'to shine', 'to be visible

Kha(derived from khan -'to dig' Vyoman (derived from vi-ava - 'to protect')

1. MEANING AND DEVELOPMENT OF THE CONCEPT

a. A free space, a hole, an opening through which somebody or something may pass (Ait Br. III. 42, S Br 7113.219).

b. The principal space as continuous, unbounded extention in every direction, as is probably meant in(Br. Up III. 8.4)

c. Sunya (in the sense of vacuity) The number zero -(Sunya, Vol. II), thus, for example, in mathematical context, veakhagnisharah means 5304.₂ Indian

metaphysics offers the concept of space as zero . A concept which is based on the paradox of the maximum potential contained within an irreducible minimum space then. As Geeta Kapoor wrote in her book Chitrabhumi . Pictorial space is at once an implied metaphysical proposition and the syntax for a transcription of the given world into form. It is a clue to the particular orientation, the world view of an artist or community or culture.

Simplicity is one of the cardinal virtues of all great art and extension in third dimension helped to simplify composition. Just as a plane can contain an infinity in lines , so numberless planes could be accommodated in the three dimensional space. Since for the pictorial purposes of the artists,i.e. of suggesting depth ,all the details of scientific perspective was less important , they shortened objects only along the vertical line and that too only when it seems very essential.In Ajanta we find not a single –point perspective but multy point perspective. If an object could be reduced in size , corresponding to its distance following a certain mathematical law,it could be made to appear as being placed at a certain distance. Another code is aerial perspective. Diminished size and diminished luminosity and value of an object means the object is in the distance. The opposite of this would bring the object near. when to the linear and aerial perspective fore-shortning was added, the illusion of reality became highly convincing . Overlapping, diagonal arrangements are new compositional devices to play with pictorial spaces.

This treatment of concept of akasa/kha/vyoman has sought to highlight how it has played a very significant role in ancient Indian thought. It has moved from the elemental to the higher levels of thought and consciousness. As the first and the subtlest of the elements constituting the universe, akasa is closest to the supreme self. Hence it has served as a symbol for the atman and adopted as such in different systems of sadhana or meditation, so that one may ultimately reach cidakasa, the space of the highest level of consciousness, where one will find the individual soul merged in the supreme self and discover the complete identity of inner and outer space.

2. CAVITY OF HEART :-

Void, 'akasa', makes it possible for all the forms of art to appear. It is prerequisite of all creative activities, and the manifestation of name and form.

The concept of the space hidden in the cavity of heart as the seat of the supreme self has been represented as the cave and the cave temple. In various ways, the concept of akasa is connected with temple architecture and the compositional diagram of sacred images.

PROFICIENT IN FINE ARTS : AKASA TATTVA

खप्रक तिर्निपुणो विव तास्यः शब्दगतेः कुशलः सुशिराङ्गः ।

Br.Sam LXVIII.111 ab A man born with the characteristic of ether becomes proficient in Fine Arts, open - mouthed (as has an expanded or large and possesses limbs that have beautiful veins. (Tr. M.R. Bhat).

All musical notes originate and are perceived in akasa, the soul source of sound.

The highest aim of the arts is, however, not only to import delight, but to raise one from bhutakasa, the gross element of space to cidakasa, the space of consciousness and the seat of bliss.³

3 'ख' 'KHA' CENTRAL HOLE OF A WHEEL :-

The word kha originally meant the round, central hole of a wheel where the spokes meet. It was, therefore, a concept of centrality. The geometric form which generally symbolizes akasa in the Tantras is the circle. As the first principle of creation, space is the centre of the wheel of creation and dissolution. The creation emerges from space by the centrifugal motion of pran, the vital breath, and it is again dissolved into space by its centripetal motion

.....
विषाद्याभिभवे व्योम तेषु यत्रोपयोवत् ।

It is the mind is distracted the knower of the truth should make concentration on the earth in the heart. If one is thirsty one should concentrate on the water in the throat, if appetite is feeble one should concentrate on fire in the stomach, for the control of vital airs and their movement one should concentrate on the wind in the heart, the throat and other locations. When one is overpowered by poison and other troubles one should concentrate on the space in the limb where it is needed. (Mrg A YP I. 40 cd - 42 at Mrgendra Agama). This is the description of relationship between sensitivity of human beings and the five elements.

4. SHAPE of AKASH (Geometrical)

In the Tantras, the circle is a symbol of akasa. This and other geometrical figures have provided the basis for a language of form in Sanskrit treaties dealing with Indian architecture and sculpture for example in the introduction to the edition and English translation of the Vastusutra Upanishad which deals with the science of composition, we read "The essential concern of this text is to demonstrate that the use and language of form, far from being invented for the simple delight of the senses and for extolling the beauties of the world, has for deeper significance. It is considered an autonomous; direct reflection of cosmic laws and expression of religious and metaphysical conceptions." (Alice Boner, Introd. p. 4). The text bases its theory of art and its production on the vedic conception of creation as arising from Brahman, and regards the knowledge of line and circle as the essence of a visual work of art. The text says :

Vrttajnanam rekhajnanam ca yo janati sa sthapakah,

"He who has the knowledge of circle and line is a sthapak : (VSUp I. 4, tr. A. Boner and B. Baumer). The comparitional diagram (khilaparijara) for images starts with a circle (adau vrttam, VSU p. II. 6) drawn around the centre (which symbolizes Brahman).

The CIRCLE and the LINE, which their developments into second and third dimensions, such as plane, cube and sphere, actually embrace the whole display of visible forms in the universe ." (Alice Boner , intro.,26)₄

The Point

Like all symbols, the dot is versatile for a physicist; it might represent formidably condensed cosmic energy right before the Big Bang. In Tantra it is called bindu, literally, "Sperm-seed" and the ovum united.₁₀

The dot is therefore an object of profound reflection and meditation. Yantras also serve to focus the gaze and the mind. Focusing attention multiplies the power of the mind, considered as a material force field. Yantra, notably its central dot, is to the energy of the mind what a magnifying glass is to the sun rays.

Here lies one of yantra's secrets (and mantra's as well), this passive

geometrical claving focuses, concentrates mental energy and reinforces the power of mind.¹¹

Without the magnifying glass-yantra, the sun's rays would not be powerful enough to set fire to the piece of paper. Conversely, the magnifying glass would be powerless without the sun's rays.¹²

Cycle of purity 'The Visuddhi Cakra (located in the region of the throat) is particular important in cultivation of music.

Within the sanctuary, an image of the deity is established, normally situated on an open lotus which is circular and a circle is a diagraph representing akash in the Tantra. Many Indian conceptions of space originate from the necessity of finding a support and container for creation and akasa as 'unlimited space' and continuum fulfils this requirement. Again, 'akash' is not just a vacuum, a mere absence of objects, but a substance which is conceived to be a physical as the other for gross elements. It corresponds to the ancient Greek conception of space as a gas like 'ether'. In India it is thought to be the material medium of sound.⁵ Tantra ,calls its principal devine figure Mahakala , the great time ,and Kali the femalel personification of time THese two together are the creative functions of the unimaginal supreme brahma.

5. THE SYMBOL of AKASH :-

In the RigVeda, compiled two millennium ago ,the human as father represents the generative power of the sky , symbolized by the bull , which fructifies the far spreading earth , the womb , with the warmth of the sun and moisture of the fertilizing rain . the rain , the life giving male seed , falling from the clear skies gives birth to plants and grains.⁶

6. FIVE ELEMENTS AND SHIVA LINGA :- (Akasalinga)

In actual practice, we see that the concept of five elements has been integrated in saive iconography, in connection with the concept of linga. That has been represented in the form of five lingas worshipped in five temples of South India : a linga of space in Chidambaram Tamilnadu, of wind in Kalahasti (Andhra), of fire Tiruvannamalai (Tamilnadu), of water in Tiruvanaikka (near Tiruchirapalli, Tamilnadu) of earth in Kanchipuram (Tamilnadu).

7. SHANKH/Conch : a symbol of akash

Vishnu, the all-pervasive god, holds in his hand a conch, a symbol of akasa (kha).

खं विजानीहि देवस्य करे शङ्खो महाभुजः ।

चंक्रजानीहि पवनं गदां तेजस्तथा विभोः ॥

On elongated armid, the couch in the hand of the god should be known as the sky, the disk (chakra) as air and the mace (gada) as the flaming brilliance of the all pervading. (Tr. D.C. Bhattacharya) 7

The Conch or Shankh remains an integral symbol of Indian Culture. Mythology would have it that the PANCHAJANYA , the first DAKSHINAVRUTHA SHANKHAM, the emerged during the churning of Ksheerasagara (ocean of milk) by the Devas and Asurs, the demons. As it rose out of the ocean , its thundering decibels frightened the asuras who appealed to Vishnu to save them . Lord Vishnu obliged , taking charged of the conch shell. The primordial sound Pranavanadham, also called Omkar, was there by controlled.

In the universe , Vishnu could be pictured eternally reclining on Sheshnaga, the serpant king ,his ocean of milk ,which stretched without limit or Indra could float with his court , trailing clouds behind him .

An anecdote refers to Lord Narayan , who killed the giant Panchajanya at the bottom of the ocean and used one of his bones to design a shankha called the Panchajanya .In the various avatars , Vishnu has used all the sorts of weapons to destroy evil forces. Only the conch and the sword remains. this is on left arm and also used as alarm for enemies and start and end of the wars. The water filled in shell is considered extremely sacred .Shankh filled with water is essential part of the arti (worship). Occasion of SANKHABHISHEKAM , in Tanjavur in Tamil Nadu , one thousand and eight coches are taken out in procession . It is believed that the sound of Shankh keeps away the evil spirit and animals. Blow the Shankh produces Shankh dhvani.

Puri or Orissa is known as Sankha Kshetra because here , conch shells are found in abundance. try holding a conch shell to our ear and will hear the sound of the ocean humming gently . This actually the natural vibration of earth or cosmic energy believed to be magnified on entering the conch shell .

We know about shankhpushpi and shankh bhasma medicine in Ayurveda.

8. THE STRUCTURE OF CONCH: SCIENCE AND MATHEMATICS

Its unique whorls are directed clockwise in perfect synchrony with universal harmony with positive energy. The vibrations from the conch shells are believed to have the power to dispel evil forces and clear environmental pollution, including healing the hole in the ozone layer. ⁸

When we consider the motion of form through space in a given time, we enter the realm of geometry and mathematics. In the four-dimensional space-time relativity, movement in fact could only be succession of points on the four-dimensional continuum. ^{8.1}

Eternity and, more generally, infinity are notions both expressing the absence of limits. In the Spring of 2001, I discovered that this unique angle is very close to half the Golden angle, so close in fact that it just allows for thickness of the shell. The alternating harmonic series is the mathematical idea behind the episode from Alice Adventures in Wonderland, by Lewis Carroll, by an English mathematician at the University of Oxford in 1865. It is mentioned in feature Popularising mathematics: From eight to Infinity by V.L. Hansen in European Mathematical Society NL 48, 2003. We find beautiful geometrical form in nature, two basic motions of a point in the Euclidean plane are motion in a line, and periodic motion (rotation) around a central point. Combining these motions, one gets spiral motions along spiral curves around a spiral point. Constant velocity in both the linear motion and rotation gives an Archimedean spiral around the spiral point.

The harmonic series: a conversation about infinite sums (series) inevitably gets on to the harmonic series: $1 \frac{1}{2} \frac{1}{3} \frac{1}{4} \frac{1}{5} \dots$,

What was going on in the field of physics was the attempt to create an order. Since the electromagnetic waves were supposed to travel through luminiferous ether, a medium supposed to pervade the entire universe. Scientists tried to find the motion of the earth relative to points in this medium. Naturally the theory of relativity set human mind towards a new vision of space that certain meanings could be read in paintings which correspond to new picture of physics.

as a matter of fact , modern physics has shown that the time dimension can no longer be detached from the space dimension .All measurements of time are really measurements in space and conversely all measurements in space depend on measurements of time .Bharthari holds space to be a power or a force (sakti) along with time .¹³

REFERENCES :

1. Samiran Chandra Chakrabarti, KALA TATTVA KOSA, VOL. III,pp. 103, IGNCA, New Delhi
2. Samiran Chandra Chakrabarti, KALA TATTVA KOSA, VOL. III,pp. 107, IGNCA, New Delhi
3. Samiran Chandra Chakrabarti, KALA TATTVA KOSA, VOL. III,pp. 141, I GNCA, New Delhi
4. Alice Boner, Tr. Of VASTUSUTRA UPNISHAD, PP 4
5. Samiran Chandra Chakrabarti, KALA TATTVA KOSA, VOL. III,pp. 125, IGNCA, New Delhi
6. Madhu Khanna, RITU, THE COSMIC ORDERPP.33. ,IGNCA
7. Samiran Chandra Chakrabarti, KALA TATTVA KOSA, VOL. III,pp. 125, IGNCA, New Delhi
8. Arun Madhvan, A Tribute to tradition ,PP.52 , SAMPRADAYA, BANGLORE
- 8.I Sachchidanand Sinha, Chaos and creations ,54, lalit kala academy,new Delhi ,1980
9. V. L. Hansen , Feature, EUROPEAN MATHEMATICAL SOCIETY , 48, 2003 , PP.10-11
10. 11.12. Andre Van Lysebeth, TANTRA , THE CULT OF FEMININE,PP

Dr. Rita Pratap
Editor
Atishay Kalit

ATISHAY KALIT
Vol. 3, Pt. B
Sr. 6, 2014
ISSN : 2277-419X

JAWAHAR KALA KENDRA

(A centre for the Preservation and Revival of all types of Arts)

With the aim to preserve the ancient traditions and rich heritage of Rajasthan under one roof at Jaipur the Department of Tourism Art and Culture selected an ideal site measuring 9.5 acres of land on Jawahar Lal Nehru Marg, opposite commerce college of the Rajasthan University. The centre was named as Jawahar Kala Kendra after the first Prime Minister of India Pandit Jawahar Lal Nehru, who was a great admirer of the arts (Plate-1). It was then on 29 October that the then Chief Minister of Rajasthan Harideo Joshi laid the foundation stone.



(Plate-1)

Charles Correa, an internationally renowned Indian architect took up the planning charge of this prestigious building. He not only studied the architecture of the city but also took inspiration from the Vidhyadhar Bhattacharya, who was the chief architectural adviser to Sawai Jai Singh (1699-1743 A.D.)

Correa then planned the Jawahar Kala Kendra's architecture like the Pink city according to Navgrha or nine houses. Here each square is defined by an eight-meter high wall and the building constructed according to eight separate groupings, corresponding to the myths attached to each particular planet. The square assigned to Planet Jupiter or Guru or Brahaspati houses the library; Planet Mars or Mangal houses the administrative offices; the Planet Mercury of Budh houses the museum i.e. the area is assigned for miniature painting, jewellery, photographs, musical instruments etc. Ketu houses other

museum for various other items among which an ornate antique carriage is one of Jawahar Kala Kendra's prize exhibits. Typical Rajasthani statues in wood, Interior of a room recreated at the kendra and traditional terracotta wall panel. Planet Venus or Shukra houses the theatres; Planet Shani or Saturn houses the art galleries i.e. Sukriti, Surekh, Parijat, Chaturdik, etc.

Rahu is the square where weapons are displayed and documentation and research is carried out. The central square dedicated to the Surya of sun houses the open-air theatre known as 'Madhyavati'. (Plate-2)



(Plate-2)

The astrological symbol of each planet is very beautifully expressed in the form of a cutout on the external wall of its respective square. Beautiful frescoes adorn each and every corner of Jawahar Kala Kendra. The dome's roof near the entrance (reception area) has epics from the Vedas, (Plate-3) A detail of the Cosmic Woman source is unique.



(Plate-3)

In all the ground plan has two museums, a folk art center, a studio, a closed theatre known as 'Rangayan' and an open air theatre known as 'Madhyavati' where local traditional folk theatre like Khayals, Rammats and Tamashas are performed. Lok Rang the national folk festival is also held here annually.

A library with 20,000 books on Art, Architecture, Culture, Sculpture, Music, Drama etc. are kept. A cafeteria, (Plate-4) a guest house, a hostel, administrative offices and above all facilities for Research and Documentation for scholars is there. District wise cultural survey of Rajasthan is done



(Plate-4)

under its documentation and research wing. Monographs of studies of various art forms such as Ghumar, Kanhaiya and Dhruvad have been published besides a major publication on Wall Paintings of Rajasthan. Summer schools

are run to train children in Dance, Music, Drama, Crafts, Painting, etc.

Up coming and renowned painters, sculptors and photographers are finding place to display their work, there by giving them opportunity to sell their artifacts. form time to time. Jawahar Kala Kendra also purchases modern, contemporary and traditional artifacts. A well equipped graphics studio is also functioning where various techniques of graphic are practiced. Workshops and Camps are also held in painting, sculpture and graphics in which National, International renowned artists take part. At times young, up coming artists are also given chance.

Music and Dance in all forms—folk, tribal and classical are taught here in workshops and camps. Competitions like the Yuva Kalakar Samaroh and Kala Pratibha Khoj are also organized for the youth.

Folk artists too have also been encouraged and their folk art and crafts are receiving a big boost. Interstate cultural exchange programme is also receiving much impetus. The Kendra is also a venue for programs held by West Zone Cultural centre, Rajasthan Lalit Kala Academy and other Cultural Organisations. Lok Rang, the National Folk Festival is also held on annual basis.

Jawahar Kala Kendra has a very large open space with beautiful lush green trees, sprawling lawns and evergreen shrubs and bushes in each square provides a synthesis against a red stone building.

Another important aspect of Jawahar Kala Kendra is that it also houses 'Shilpgram' where huts of Hadoti (Kota) Dungarpur, Barmer, Bikaner, Shekhawati (Sikar) regions of Rajasthan. The huts in the centre are of Jaipur region. Traditional paintings of their individual style and Rajasthani Mandanas are painted on them.

The Crafts Fairs in State and National level with music and dance programmes are held here from time to time. Stalls are constructed for these fairs. Many Kala Melas are also held here.

Today the department of Tourism Art and Culture dreams of making Jawahar Kala Kendra a world-renowned centre for Arts. The Museums and Art Galleries are open to public between 10 a.m. to 5 p.m. every day except Sundays and Public holidays.